सूर की सांस्कृतिक चेतना और उनका युगबोध

सन्त राम वैश्य

पुस्तक परिचय

भक्तिकाल के महान स्तम्भ महाकवि सूरदास केवल एकान्तिक भक्त न थे। वे एक सफल युगद्रष्टा थे। युगीन स्थितियों एवं सन्दर्भों की उन्हें व्यापक जानकारी थी। अपनी रचनाओं में उन्होंने अपने युग तथा समाज का स्पष्ट चित्र प्रस्तुत किया है। उन्होंने जीवन तथा समाज की जिन विसंगतियों का चित्रण किया है वे युग-युग की विसंगतियाँ हैं। इनका निराकरण समाज को स्वस्थ दिशा प्रदान करने के लिए परम आवश्यक है।

सूरदास ग्राम्य संस्कृति के पक्षधर थे। उनका मोह नगरीय या सामंती संस्कृति से कभी नहीं रहा। उनके काव्य की पृष्ठभूमि सम्पूर्ण रूप से जन-जीवन से सम्बन्धित है। उन्होंने भागवत के कथा-प्रसंगों के भीतर मानवीय संवेदनाओं को उभारा है।

महाकवि सूरदास एक सफल राष्ट्रचेत्ता भी थे। जन्मान्ध होते हुए भी उन्होंने राष्ट्र की उन कमजोरियों को पहचाना जिसे बड़ी आँखों वाले भी देख और पहचान न सके। तत्कालीन परिवेश की भूमिका में देखने पर उनके काव्य के राष्ट्रीय महत्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

सूर साहित्य का यह नव-मूल्यांकन—आशा है कि सूर साहित्य के पाठकों और अनुसंधित्सुओं को पसंद आयेगा।

ISBN 81-7054-166-2 रु० 200.00

सूर की सांस्कृतिक चेतना और उनका युगबोध

पूज्य पिता की पावन स्मृति में

सूर की सांस्कृतिक चेतना और उनका युगबोध

डॉ० सन्तराम वैश्य
रीडर, हिन्दी विभाग
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार-249404

क्लासिकल पब्लिशिंग कम्पनी
नई दिल्ली

भूमिका

भक्ति साहित्य के सांस्कृतिक अध्ययन की आवश्यकता अपने इतिहास और युग-व्यापी प्रदेश की पहचान के लिए है। युग की सापेक्षता में अपार्थिव सौन्दर्य की प्रतिष्ठा तथा वैराग्य के साथ लोक-संग्रह की सन्नद्धता सगुण भक्ति काव्य का प्रमुख लक्ष्य रहा है। सूर और तुलसी इसीलिए मात्र कवि ही नहीं लोकनायक भी कहे जा सकते हैं। यही कारण है कि इनके काव्य में युगधर्म अपनी समग्रता के साथ संकेतित है। ब्रज और अवध प्रदेशों का जीवन-चिन्तन जो इतिहास ग्रन्थों से समाकलित नहीं किया जा सकता, इन कवियों की रचनाओं से इकट्ठा किया जा सकता है। भारतीय संस्कृति, संस्कार, कलाएँ, दर्शन, सम्प्रदायगत चर्या तथा साहित्य-बोध से ओत-प्रोत इन भक्त कवियों का इस सामासिक परि-प्रेक्ष्य में ही अध्ययन उपयोगी और न्यायसंगत कहा जा सकता है।

सूर के काव्य में महाभारत, भागवत और ब्रह्म वैवर्त जैसी रचनाओं के चिन्तन-सूत्र विद्यमान हैं, पर ब्रज की प्रकृति, भूगोल, साज-सज्जा, खान-पान, रीति-रिवाज, संगीत, नृत्य, मनोविनोद, ग्राम्य देवता तथा सामाजिक परिवेश की झाँकी अपने स्रोत-ग्रन्थों से भिन्न, सजीव और विस्तृत रूप में अतिरिक्त मिलती है। सामन्ती युग और सामाजिक-राजनीतिक संघर्ष तथा तज्जन्य अन्त-र्द्वन्द्व, कुंठा और नैराश्य भी उसमें गहराई के साथ व्यक्त हुए हैं। इस दृष्टि से सूर के काव्य का अनुशीलन शोध और आलोचना दोनों रूपों में जरूरी है।

सूर ने सामन्तवादी युग में वर्णाश्रम धर्मभेद, सांख्य-योगादि साधन मार्गभेद, उपासनाभेद, आत्मरक्षागत संघर्ष, विधिनिषेध प्रपंच, भौतिक अतृप्ति तथा राग-कुंठा की कुहेलिकाओं से त्रस्त होकर ही उस वृन्दावन विहारी की निकुंज लीला को अपना वर्ण्य बनाया जहाँ बिना किसी भेदभाव के दरिद्र-धनी, ऊँच-नीच, स्त्री-पुरुष, निरक्षर-साक्षर तथा ज्ञानी-मूढ़ प्रवेश कर सकते हैं। भागवतकार ने स्वयं कहा है—

सपद्येवाभितः पश्यन् दिशोऽपश्यत् पुरःस्थितम्।
वृन्दावन जनाजीव्य द्रुमाकीर्णं समाप्रियम्॥ 10-13-59॥

सूर को वृन्दावन इसलिए प्रिय है कि यहाँ कृष्ण साधारण गोप हैं, समानता का व्यवहार करते हैं। उनकी सम्पत्ति शृंग, वेणु, गुंजामाल, मयूरपंख, वेत्र तथा कम्बल है। यह हर गोप के पास है। कर्म, ज्ञान, भक्ति आदि साधनों से रहित गो, गोप, गोपी सबकी उन तक पहुँच है। सूर को ऐसे आराध्य चाहिएँ, ऐसे नायक चाहिएँ, ऐसे आत्मीय तथा संरक्षक चाहिएँ जिन तक हर आबाल वृद्ध नारी-नर पहुँच सकता हो। वृन्दावन में ही यह सुविधा है पर मथुरा तथा द्वारिका के सामन्ती परिवेश में घोर विषमता है। ऐश्वर्य मण्डित द्वारिकाधीश तक पहुँचना या दीन-हीन, दलित तथा प्रताड़ित जन का राजा, सामन्त अथवा सम्राट तक पहुँचना उस युग में बड़ा कठिन था। सूर ने अपनी यह चिन्तना अथवा युग की विडम्बना को एक गोपी के माध्यम से इस प्रकार व्यक्त किया है :

> कैसे कै हौं दरसन पाऊँ।
> सुनहु पथिक उहि देस द्वारिका जो तुम्हरे संग जाऊँ॥
> बाहिर भीर बहुत भूपन की बूझत बदन दुराऊँ।

प्रभुत्वकामना की ग्रन्थि से मुक्त होने के लिए यह आवश्यक भी था। वल्लभ सम्प्रदाय की निकुंज भावना, 'अब बन बसि निसि कुंज रसिक बिनु कौनहि दसा सुनाऊँ'—के पीछे यही सामाजिक वैषम्य का स्वर है। विद्वन्मंडन नामक ग्रन्थ मे विट्ठलनाथ और वल्लभ के लिए 'गोपीपतिरतिमार्ग प्रवर्तक' छाप का प्रयोग भी इसी आशय को व्यक्त करता है। सूर ने इस 'रस साधना' को लोक-जीवन से सम्पृक्त कर जनमानस में बैठे नैराश्य को दूर किया तथा लीलाओं के माध्यम से पलायन कर रहे समाज को प्रवृत्ति और रागात्मक संवेदनाओं से जोड़ा। गोपीभाव सूर का उपासनाभाव भी है और लोकमानस के परिष्कारार्थ समष्टिभाव भी। कुंज लीला प्रवेश की यही सामाजिक अवधारणा है; मनोवैज्ञानिक अवधारणा है। सूर की सांस्कृतिक चेतना का उद्घाटन करते हुए इस केन्द्रीय भाव की पृष्ठभूमि को विस्मृत नही किया जाना चाहिए।

प्रसन्नता की बात है कि गुरुकुल कागड़ी विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के रीडर डा० सन्तराम वैश्य ने, 'सूर की सांस्कृतिक चेतना और उनका युग-बोध' ग्रन्थ लिखकर एक अभाव की पूर्ति की है। शोध के स्तर पर 1932 से लेकर आज तक अनेक शोध-ग्रन्थ सूर पर लिखे गए और लिखे जा रहे हैं। जीवनीमूलक, ऐतिहासिक, साम्प्रदायिक, दार्शनिक, साहित्यिक, सामाजिक, मनोवैज्ञानिक तथा सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य में उनके काव्य का विस्तृत अनुशीलन भी किया गया है। सूरकाव्य के स्रोतों का अनुसंधान भी किया गया है। लोक-जीवन, लोकतत्व और सांस्कृतिक परिदृश्यों का आकलन भी हुआ है; पर जन-संस्कृति और सूर के रचना-विधान के मूल में निहित सांस्कृतिक कारकों का

अध्ययन डा० वैश्य के ग्रन्थ की मुख्य विशेषता है। सूर की रचना-भूमि और मध्यकालीन इतिहास का सम्पृक्त अध्ययन कर इन्होंने जो निष्कर्ष निकाले हैं वे शोधार्थियों का मार्गदर्शन करेंगे। सूर में साम्प्रदायिक, दुराग्रह नहीं है और यही कारण है कि उनमें प्रासंगिक संदर्भ अधिक मुखर हैं। सूर अपनी सम्पूर्ण अपूर्णता से परिचित थे तथा कला-सृजन में किसी पूर्णता के अन्वेषण के लिए प्रवृत्त हुए थे। इस तथ्य से अपरिचित आलोचक को भक्त और कवि सूर में एक दूरी का आभास हो सकता है।

डा० वैश्य ने बड़ी विद्वत्ता और अभिनिवेश के साथ इस शोध-प्रबन्ध की रचना की थी। 1980 में इन्हें हिन्दी के सुप्रसिद्ध विद्वान तथा सम्प्रति काशी विद्यापीठ के कुलपति डा० त्रिभुवन सिंह के निर्देशन में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त हुई थी। इनके परीक्षकों ने इस शोध-प्रबन्ध की भूरि-भूरि प्रशंसा की थी। आज 1992 में परिवर्द्धित और संशोधित रूप में इसको मुद्रित देखकर मुझे प्रसन्नता हो रही है। इसमें भारतीय समाज और उसकी आत्मा को सूरकाव्य के कलेवर में तलाशा गया है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि सूरकाव्य के प्रेमी पाठकों को यह कृति पसन्द आएगी। डा० वैश्य आगे भी भक्तिकाव्य के विविध पक्षों पर उत्तम पुस्तकें लिखेंगे, इस आशा के साथ मैं इन्हें साधुवाद देता हूँ तथा इनके उत्तरोत्तर उत्कर्ष की कामना करता हूँ।

डॉ० विष्णुदत्त राकेश
डी० लिट्०
प्रोफेसर तथा अध्यक्ष हिन्दी विभाग
तथा
निर्देशक
स्वामी श्रद्धानन्द अनुसंधान प्रकाशन केन्द्र
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार।

रामनवमी, 2049 वि०
11 अप्रैल, 1992 ई०

दो शब्द

हिन्दी साहित्य के मनीषियों में महाकवि सूरदास का स्थान अग्रगण्य है। ये भक्ति-काल के महान स्तम्भों में से हैं। इनकी रचनाएँ हिन्दी ही नहीं, अपितु विश्व साहित्य की अमूल्य निधि हैं। ऐसे विश्व-विश्रुत महाकवि के जीवन और साहित्य को लेकर अब तक पर्याप्त अनुसंधान हो चुके हैं। सूर साहित्य से सम्बन्धित दो तरह की सामग्री हमारे सामने है—एक समीक्षात्मक और दूसरी अनुसंधानपरक। समीक्षात्मक सामग्री वह है जो कवि के जीवन और साहित्य के लिए विविध पक्षों को लेकर स्वतन्त्र रूप से लिखी गई है। जबकि अनुसंधानपरक सामग्री वह है जो विभिन्न विश्वविद्यालयों की शोध उपाधियों के लिए प्रस्तुत की गई है।

समीक्षा के क्षेत्र में पहली महत्वपूर्ण रचना मिश्र-बन्धुओं की 'हिन्दी नवरत्न' है, जिसमें सूरदास को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। तत्पश्चात् शिखरचन्द जैन की पुस्तक 'सूर : एक अध्ययन' तथा नलिनी मोहन सान्याल की रचना 'भक्त-शिरोमणि महाकवि सूरदास' का नाम अग्रणी ग्रन्थों की सूची में लिया जा सकता है। ये दोनों रचनाएँ 1938 ई० में प्रकाशित हुई। विवेचन की दृष्टि से इन्हें बहुत प्रारम्भिक कहा जा सकता है, जिनका लक्ष्य मात्र परिचयात्मक ज्ञान ही था। इसके बाद सूर साहित्य के विभिन्न अंगों की गम्भीर विवेचना को ध्यान में रखते हुए आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की 'सूर साहित्य', आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की 'सूरदास', मुंशीराम शर्मा की 'सूर सौरभ', प्रेमनारायण टंडन की 'सूरदास : जीवनी और ग्रन्थ', रामरतन भटनागर की 'सूर साहित्य की भूमिका' तथा आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी की 'सूर संदर्भ' नामक कृतियाँ सामने आयीं। सूर का जीवन-क्रम, उनकी रचनाओं की प्रामाणिकता, सूरसागर का रचना-क्रम और उसके विविध अंगों के मौलिक स्वरूप का निर्धारण, सूरसागर में शैली-भेद का अध्ययन, सूर साहित्य के भक्ति सम्बन्धी विभिन्न दृष्टिकोण और सूर की काव्य-कला का उद्घाटन आदि इन रचनाओं के प्रमुख अंग थे। निश्चित ही इन रचनाओं ने सूर साहित्य के अध्येताओं का ध्यान आकर्षित किया तथा अध्ययन का मार्ग प्रशस्त किया। इसी श्रृंखला में आगे चलकर द्वारकादास परीख और

प्रभुदयाल मीतल की 'सूर-निर्णय', आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी की 'महाकवि सूरदास' तथा रामरतन भटनागर की 'सूर समीक्षा' नामक कृतियाँ आयीं, जिनमें सूर साहित्य के विविध पक्षों का समीक्षात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया।

सूर सम्बन्धी अनुसंधान की परम्परा का श्रीगणेश डा० धीरेन्द्र वर्मा ने किया। उन्होंने 1932 ई० में 'हिन्दुस्तानी' पत्रिका में 'सूरसागर और भागवत' नामक एक शोध-निबन्ध लिखा। उनके इस निबन्ध ने सूर-साहित्य के अनुसंधित्सुओं का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया। इसी बीच 1934 ई० में डा० जनार्दन मिश्र ने शोध उपाधि के लिए 'रिलिजियस पोयट्री ऑफ सूरदास' नाम से अपना प्रबन्ध प्रस्तुत किया जिस पर उन्हें कुनिग्सवर्ग विश्वविद्यालय (जर्मनी) से 'डॉक्टर ऑफ फिलॉसफी' की डिग्री मिली। यह शोध उपाधि के लिए प्रस्तुत सूर सम्बन्धी शास्त्रीय समीक्षा का शुभारम्भ था। इस परम्परा को आगे बढ़ाने का श्रेय डा० दीनदयालु गुहा और डा० ब्रजेश्वर वर्मा को है। इन्होंने शोध उपाधि के लिए 'अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय' तथा 'सूरदास : जीवनी और कृतियों का अध्ययन' नामक प्रबन्ध प्रस्तुत किये। इन दोनों प्रबन्धों में अपने विषय का अच्छा विवेचन प्रस्तुत किया गया। इसी क्रम में डा० मुंशीराम शर्मा ने 'भारतीय साधना और सूर साहित्य', डा० हरवंशलाल शर्मा ने 'श्रीमद्-भागवत और सूरदास' तथा डा० रामधन शर्मा ने 'सूर के कूटकाव्य का अध्ययन' नामक प्रबन्ध पी-एच० डी० उपाधि हेतु प्रस्तुत किए। डा० हरवंशलाल शर्मा ने पुनः डी० लिट् उपाधि हेतु 'सूर और उनका साहित्य' नामक प्रबन्ध लिखा। उनके इस ग्रन्थ को अत्यधिक लोकप्रियता मिली। इसके बाद तो सूर साहित्य पर अनुसंधान करने वालों की बाढ़-सी आ गयी। सूर साहित्य के विविध पक्षों को लेकर अनेक प्रबन्ध लिखे गये, जिनमें से कुछ मुख्य इस प्रकार हैं—'सूर की काव्यकला'—डा० मनमोहन गौतम, 'सूर की भाषा'—डा० प्रेमनारायण टंडन, 'सूरसागर की शब्दावली का अध्ययन'—डा० निर्मला सक्सेना, 'सूरसागर में लोक जीवन'—डा० हरगुलाल, 'सूर साहित्य का छंद : शास्त्रीय अध्ययन'—डा० गौरीशंकर मिश्र द्विजेन्द्र, 'सूर का श्रृंगार वर्णन'—डा० रमाशंकर तिवारी, 'सूरसागर में प्रतीक योजना'—डा० बी० लक्ष्मय्या शेट्टी, 'सूरदास और नरसी मेहता'—डा० भँवरलाल जोशी, 'सूरदास की लालित्य-योजना'—डा० परेश, 'आधुनिक मनोविज्ञान और सूरकाव्य'—डा० कमला आत्रेय, 'सूरदास की प्रतिभा'—डा० भगवतीप्रसाद राय, 'सूर साहित्य का मनोवैज्ञानिक विवेचन'—डा० शैलबाला अग्निहोत्री, सूर साहित्य : परम्परा और प्रतिभा—डा० मैनेजर पाण्डेय आदि। सूरकाव्य के सांस्कृतिक पक्ष पर भी कुछ महत्वपूर्ण कार्य हुए हैं, जिनमें डा० मायारानी टंडन का 'अष्टछाप काव्य का सांस्कृतिक मूल्यांकन' प्रमुख है। इसके अतिरिक्त भी समय-समय पर विभिन्न विश्व-

विद्यालयों में सूर सम्बन्धी अनेक शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत किए गए हैं तथा अन्य बहुत-सी मौलिक सामग्री सामने आयी है। यह सिलसिला आज भी जारी है।

सूर साहित्य पर हुए अब तक के कार्यों का विश्लेषण करने पर यह ज्ञात होता है कि विद्वानों ने प्राय: सूरकाव्य का मूल्यांकन पुरानी दृष्टि से ही किया है। नई दृष्टियों से उनके काव्य का मूल्यांकन अभी नहीं हुआ है। सूरकाव्य के कई ऐसे महत्वपूर्ण पक्ष हैं जो बिलकुल ही अछूते हैं और जिन पर कार्य करने की काफी सम्भावनाएँ हैं।

आज का युग कुछ ऐसा है कि लोग प्राय: सूर, तुलसी आदि पुराने कवियों को उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं और इन पर अनुसंधान करना अच्छा नहीं समझते। पर न जाने क्यों मेरी रुझान शुरू से ही इन महाकवियों के प्रति रही है। मेरे मन में कई बार यह प्रश्न उठा कि क्यों न सूर और उनके काव्य का मूल्यांकन कुछ नई दृष्टियों से किया जाए। इसी प्रश्न ने मुझे इस विषय पर कार्य करने के लिए प्रेरित किया। यह विषय अपने में सर्वथा नवीन है। एक तरह से यदि देखा जाए तो यह प्रबन्ध दो भागों में विभक्त है। पहला है—'सूर की सांस्कृतिक चेतना' और दूसरा है—'सूर का युगबोध'। सांस्कृतिक चेतना किसी देश, समाज या राष्ट्र की संस्कृति के प्रति चेतन जागरूकता है, और यह जागरूकता विशेष रूप से तब उत्पन्न होती है, जब सांस्कृतिक संकट का काल होता है। भारतीय इतिहास का मध्यकाल, जिसमें महाकवि सूरदास जन्मे, इसी सांस्कृतिक संकट का ही काल था। महाकवि सूर की अपने समाज, देश या राष्ट्र की संस्कृति के प्रति क्या चेतन जागरूकता रही है, यही दर्शाना प्रबन्ध के प्रथम खण्ड का लक्ष्य है। विषय का दूसरा खण्ड सूर के युगबोध से सम्बन्धित है। महाकवि सूरदास को युगीन मान्यताओं, स्थितियों एवं सन्दर्भों का कितना बोध था, यही दर्शाना विषय के दूसरे खण्ड का लक्ष्य है।

विवेचन की दृष्टि से प्रबन्ध छह अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय में 'संस्कृति, सांस्कृतिक चेतना और युगबोध' का सैद्धांतिक विवेचन है। यह अध्याय विषय को स्पष्ट करने की दृष्टि से लिखा गया है। संस्कृति क्या है, सभ्यता क्या है तथा दोनों का आपस में क्या सम्बन्ध है सर्वप्रथम मैंने इसका विवेचन किया है। तत्पश्चात् संस्कृति के विविध आयामों तथा उसके साहित्य तथा समाज से सम्बन्धों का विवेचन है। इसी क्रम में मैंने सांस्कृतिक चेतना तथा उसकी अभिव्यक्ति की दिशाओं को स्पष्ट करने की कोशिश की है। अध्याय का अन्तिम अंश युगबोध से सम्बन्धित है, लेकिन युगबोध को स्पष्ट करने से पहले मैंने सामयिकता की चर्चा की है। सामयिकता क्या है, युगबोध क्या है, साहित्य का सामयिकता और युगबोध से क्या सम्बन्ध है, इस अध्याय के अन्तिम अंश का विवेच्य विषय है।

द्वितीय अध्याय का शीर्षक है—'सूरकालीन परिस्थितियाँ और उनकी रचनाभूमि'। सूर का रचनाकाल क्या था, उनके व्यक्तित्व निर्माण में आरम्भिक परिस्थितियों ने क्या सहयोग दिया तथा तत्कालीन सामाजिक एवं राजनैतिक परिस्थितियाँ कैसी थीं इसका विवेचन मैंने प्रारम्भ में किया है। तत्पश्चात् सूर के विषय-चयन की प्रक्रिया को प्रभावित करने वाले तत्कालीन तत्वों की खोज का प्रयास किया गया है। सूर की सामयिक दृष्टि कैसी रही तथा युगबोधीय धरातल पर उन्होंने सांस्कृतिक चेतना की किस प्रकार अभिव्यक्ति की, यह इस अध्याय के अन्तिम अंश का विवेच्य विषय है।

तृतीय अध्याय है—'सूर और मध्यकालीन राजनैतिक स्थिति'। यह सम्पूर्ण अध्याय मध्यकालीन इतिहास से सम्बन्धित है। सूर के समय किस प्रकार मुगल साम्राज्य अपनी जड़ें जमाता हुआ केन्द्रीय शक्ति का विकास कर रहा था, शुरू में मैंने इसका विवेचन किया है। तत्पश्चात् मध्यकालीन शासन-व्यवस्था का वर्णन किया गया है। इस व्यवस्था ने किस प्रकार सामंती संस्कृति को जन्म दिया यह विवेचन की अगली कड़ी है। तत्कालीन युद्धों की शृंखला और इसके कारण प्रभावित होने वाली ग्रामीण-व्यवस्था का विवेचन भी इसी संदर्भ में कर दिया है। शासकों की राजस्व सम्बन्धी दृष्टि तथा इस दृष्टि के कारण शासक और शासित के बीच बढ़ती दूरी तथा अन्य उत्पन्न समस्याओं का सूर साहित्य पर क्या प्रभाव पड़ा, मैंने इसे भी दर्शाने की कोशिश की है। सूर साहित्य में अभिव्यक्त परिस्थितियों का स्वर सामयिकता और युगबोध की कसौटी पर कहाँ तक खरा उतरता है तथा सूर द्वारा समर्थित सांस्कृतिक जीवन-दृष्टि कैसी रही इसका विवेचन अध्याय के अंतिम अंश में किया गया गया है।

'सूर की भक्ति-भावना : एक प्रासंगिक संदर्भ' प्रबन्ध का चतुर्थ अध्याय है। इस अध्याय के प्रारम्भ में मैंने मध्यकालीन वैष्णव भक्ति आन्दोलन की पृष्ठ-भूमि, उसकी विविध दिशाओं, तत्कालीन जन-सामान्य के मानसिक धरातल तथा उत्पन्न सामाजिक एवं राजनैतिक परिस्थितियों के कारण व्याप्त दिशाहीनता को वर्णित किया है। जन-सामान्य की इस व्याप्त दिशाहीनता की स्थिति में कृष्ण-भक्ति का क्या औचित्य रहा तथा सामाजिक, राजनैतिक एवं सांस्कृतिक सन्दर्भों में उसकी क्या प्रासंगिकता रही यह विवेचन का अगला विषय है। तत्पश्चात् मैंने सूर की भक्ति-भावना को साम्प्रदायिक तथा उदारवादी दृष्टिकोण से परखने की कोशिश की है। इसी क्रम में मैंने भ्रमरगीत प्रसंग को लिया है, जिसमें अप्रासंगिक धार्मिक दुराग्रहों पर प्रहार करते हुए महाकवि सूर ने प्रासंगिक संदर्भों की तलाश की है।

पंचम अध्याय है—'सूर की साहित्यिक दृष्टि'। इसमें सूरकालीन काव्य प्रवृत्तियों—विषय, भाषा एवं छंद, ब्रजभाषा एवं सूरदास, सूरकाव्य में ब्रजभाषा

का औचित्य, सूर की भक्तिभावना और राष्ट्रीय एकता में सहायक उनके गेय छंद, सूर की अलंकार योजना, सूर द्वारा स्वीकृत काव्य शैली तथा सूर की मौलिकता पर प्रकाश डाला गया है। प्रस्तुत अध्याय में मैंने विषय को नई दृष्टि से परखने की कोशिश की है।

षष्ठ अध्याय है—'सूर द्वारा वर्णित सामाजिक परम्पराएँ एवं रीति-रिवाज'। इसमें मैंने सूर द्वारा वर्णित विभिन्न संस्कारों, पर्वोत्सवों और त्यौहारों, लोकनृत्यों एवं गीतों, परम्परागत मान्यताओं एवं सामाजिक विश्वासों, वस्त्रा-भूषणों, शृंगार-प्रसाधनों, विभिन्न क्रीड़ाओं एवं मनोविनोद के साधनों तथा सामाजिक परम्पराओं एवं रीति-रिवाज़ों का विवेचन मध्यकालीन परिवेश के अनुरूप किया है।

उपसंहार खण्ड-प्रबन्ध का सार है, जिसमें सूर के राष्ट्रचेता रूप का भी उल्लेख हुआ है।

यह शोध-प्रबन्ध अपने मूल रूप में 1980 में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि के लिए लिखा गया था। यहाँ विद्यार्थियों की सुविधा को ध्यान में रखते हुए मैंने इसमें व्यापक संशोधन एवं परिवर्द्धन कर दिया है।

मैं इस प्रबन्ध के निर्देशक हिन्दी के सुप्रसिद्ध विद्वान श्रद्धेय गुरुवर डा० त्रिभुवन सिंह (सम्प्रति—कुलपति, काशी विद्यापीठ) का आजीवन ऋणी रहूँगा, जिन्होंने प्रबन्ध को पूर्णता प्रदान करने में मेरी हरसम्भव सहायता की। उनका वरदहस्त सदैव मेरे ऊपर रहा है। यह शोध-प्रबन्ध उनकी अहेतुकी कृपा का फल है। मैं उनका हृदय से आभारी हूँ।

मैं गुरुवर डा० राजमणि शर्मा, रीडर, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्व-विद्यालय के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करना अपना कर्त्तव्य समझता हूँ, जिन्होंने न केवल अनुसंधान के लिए मुझे प्रेरणा प्रदान की, बल्कि समय-समय पर मेरा मार्गदर्शन भी किया।

मैं अपने विभागाध्यक्ष श्रद्धेय प्रोफेसर डा० विष्णुदत्त राकेश जी के प्रति अपना आभार प्रकट करता हूँ, जिन्होंने इस प्रबन्ध की भूमिका लिखकर मेरे ऊपर महती कृपा की है। उन्हीं के सद्प्रयत्नों से ही यह प्रबन्ध मुद्रित रूप में पाठकों तक पहुँच रहा है।

अन्त में मैं अपने सभी इष्ट-मित्रों तथा गणमान्य विद्वानों के प्रति आभार प्रकट करता हूँ, जिन्होंने इस कार्य को पूर्णता प्रदान करने में अपना सहयोग दिया।

—डॉ० सन्तराम वैश्य
रीडर, हिन्दी विभाग
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार—249404

विषयानुक्रमणिका

1

संस्कृति, सांस्कृतिक चेतना और युगबोध

संस्कृति

कुछ शब्द ऐसे होते हैं, जिन्हें परिभाषा के दायरे में नहीं बाँधा जा सकता। संस्कृति भी उनमें से एक है। अत्यन्त व्यापक और गतिमान होने से इसे किसी सीमा में बाँधकर पारिभाषिक रूप से इस पर विचार करना उपयुक्त भी नहीं है।

भारतीय साहित्य में संस्कृति की अवधारणा बड़ी प्राचीन है। डा० मंगल देव शास्त्री ने 'छान्दोग्योपनिषद्', 'शतपथ ब्रह्मण' और 'तांड्य महाब्राह्मण' से उदाहरण देकर इस शब्द की प्राचीनता की पुष्टि की है।[1] पर प्राचीन साहित्य में संस्कृति की चर्चा अधिक नहीं है। वहाँ इसका समाहार प्रायः धर्म में हो गया है।

व्युत्पत्ति की दृष्टि से यह शब्द संस्कृत की 'कृ' धातु में 'क्तिन्' प्रत्यय और 'सम्' उपसर्ग जोड़ने से निष्पन्न है, जिसका मूल अर्थ है—किया गया कार्य, व्यवहार, आचार आदि। अर्थात् मानव जीवन के विकास और परिष्कार को ध्यान में रखकर किए गए क्रिया-कलापों का लेखा-जोखा।

संस्कृति का प्रयोग व्यापक और संकीर्ण—इन दो अर्थों में होता है। व्यापक अर्थ में इसका प्रयोग नर विज्ञान (Anthropology) में मिलता है जहाँ इसे सभ्यता का पर्याय माना गया है, और कहा है कि संस्कृति, उस समस्त सीखे हुए व्यवहार का नाम है जो हमें सामाजिक परम्परा से प्राप्त होता है। इसके विपरीत संकीर्ण अर्थ में यह व्यक्तित्व को परिष्कृत करने वाले एवं समृद्ध बनाने

वाले गुणों का समुदाय मानी जाती है।

अनेक विद्वानों ने पारिभाषिक रूप से 'संस्कृति' पर विचार व्यक्त किये हैं।

श्री प्रभुदयाल मीतल के अनुसार—"संस्कृति, किसी भी देश, जाति या समाज की आत्मा होती है, जिसमें उक्त देश, जाति या समाज के चिन्तन-मनन, आचार-विचार, रहन-सहन, बोली, भाषा, वेशभूषा कला-कौशल आदि सभी बातों का समावेश होता है।"[2]

डा० मुंशीराम शर्मा के अनुसार—"किसी देश, प्रदेश अथवा प्रान्त की संस्कृति की चर्चा करने का हमारा उद्देश्य केवल उस प्रदेश के विकसित आचार-व्यवहार, रीति-रिवाज, पर्व, उत्सव, संस्कार कला-कौशल, ज्ञान-विज्ञान, पूजा आदि के विधि-विधानों का ही उल्लेख करना होता है।"[3]

प्रसिद्ध विद्वान डा० सत्यकेतु विद्यालंकार ने संस्कृति पर अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा है कि—"चिन्तन द्वारा अपने जीवन को सरस, सुन्दर और कल्याणमय बनाने के लिए मनुष्य जो यत्न करता है, उसका परिणाम संस्कृति के रूप में प्राप्त होता है।"[4]

कुछ इसी प्रकार की धारणा व्यक्त करते हुए डा० बलदेव प्रसाद मिश्र कहते हैं कि—"संस्कृति और कुछ नहीं, जीवन में सौन्दर्य के निर्माण और विकास की प्रक्रिया है।"[5]

डा० वासुदेव शरण अग्रवाल के अनुसार—"संस्कृति, मनुष्य के भूत, वर्तमान और भावी जीवन का सर्वांगीण प्रकार है। विचार और कर्म के क्षेत्र में राष्ट्र का जो सृजन है, वही उसकी संस्कृति है।"[6] कुछ ऐसे ही विचार डा० हरवंश लाल शर्मा के भी हैं, जिन्होंने संस्कृति को मानव की सम्पूर्ण जीवन शक्तियों और प्रगतिशील साधनाओं का सामूहिक रूप माना है।[7]

श्री शिव स्वरूप सहाय ने संस्कृति की तुलना व्यक्तित्व से की है और कहा है कि "जो मानव में व्यक्तित्व है वही समाज में संस्कृति।"[8]

संस्कृति की एक बड़ी अच्छी परिभाषा डा० देवराज ने दी है। उनके अनुसार—"संस्कृति का सम्बन्ध मुख्यतः मनुष्य की बुद्धि, स्वभाव तथा मनोवृत्तियों (एटीट्यूड्स) से है। वस्तुतः यह उन गुणों का समुदाय है, जिन्हें मनुष्य अनेक प्रकार की शिक्षा द्वारा अपने प्रयत्न से प्राप्त करता है।"[9] लेकिन यहाँ एक बात यह भी ध्यान देने योग्य है कि कुछ गुण मनुष्य को पारिवारिक दाय के रूप में भी मिलते हैं, जिनका मनुष्य के चरित्र-निर्माण में बड़ा योग रहता है। यहाँ डा० राधाकृष्णन का यह कथन अधिक सही बैठता है कि—"संस्कृति वह ज्योति है जो एक पीढ़ी, दूसरी पीढ़ी को सौंपती है, जिससे राष्ट्रीय जीवन की परम्परा बनी रहे।"[10]

दिनकर के शब्दों में—"यह (संस्कृति) जिन्दगी का एक तरीका है, और

यह तरीका सदियों में जमा होकर उस समाज में छाया रहता है, जिसमें हम जन्म लेते हैं। इसीलिए जिस समाज में हम जी रहे हैं या जिस समाज में हमने जन्म लिया है, उसकी संस्कृति हमारी संस्कृति है। इस दृष्टि से संस्कृति वह चीज कही जा सकती है जो हमारे सारे जीवन को व्यापे हुए है तथा जिसकी रचना और विकास में सदियों के अनुभव का हाथ है।"[11]

डा० नगेन्द्र के अनुसार—"संस्कृति जीवन के उन सूक्ष्मतर तत्त्वों की संहति का नाम है, जिनसे मानव चेतना का संस्कार होता है। सारत: इन तत्त्वों का समाहार सत्य, शिव और सुन्दर के त्रिक में हो जाता है। केवल सत्य, दर्शन का विषय है: केवल शिव नीति का और कला में मूलत: सुन्दर का ही माहात्म्य है। परन्तु संस्कृति में इन तीनों का सामंजस्य रहता है।"[12]

संस्कृति सम्बन्धी कुछ ऐसे ही विचार व्यक्त करते हुए डा० रामकुमार वर्मा ने लिखा है कि—"संस्कृति पुरानी परम्पराओं द्वारा अर्जित की हुई निष्ठा है··· जो हमारे अन्तर्जगत का निर्माण करती है।"[13]

संस्कृति की जितनी चर्चा हमारे यहाँ हुई है, उससे कहीं अधिक पश्चिम में। अंग्रेजी में इसकी जगह 'कल्चर' शब्द का प्रयोग होता है। यह मूल शब्द 'कल्टीवेशन' से निष्पन्न है जिसका अर्थ है—कृषि सम्बन्धी कार्य। कृषि में जिस प्रकार भूमि को संशोधित, बीज, वपित तथा सिंचित करके शस्य-श्यामला बनाया जाता है, ठीक उसी प्रकार मानव को भी अनेक प्रकार के सद्‌गुणों द्वारा विकास युक्त करके सुसंस्कृत बनाया जाता है।

आक्सफोर्ड इंग्लिश डिक्शनरी में 'कल्चर' का अर्थ दिया है :

(1) विचार, रुचि और आचार का संशोधन (क्रिया)।

(2) विचार, रुचि और आचार के संशोधन की अवस्था।

(3) सभ्यता का बौद्धिक अंग।

(4) विश्व में जो कुछ श्रेष्ठ, ज्ञात और कथित हो चुका है, उससे परिचय।

सुप्रसिद्ध समाज शास्त्री सोरोकिन ने संस्कृति को मानसिक विकास की प्रक्रिया माना है। उनके अनुसार—"संस्कृति उन मूल्यों, आदर्शों और स्थापनाओं का समूह है, जिसके अनुसार मनुष्य अपने जीवन की रीति और शैली का निर्माण करते हैं। मनुष्य अपने जीवन में जिन तथ्यों को सत्य, शिव और सुन्दर मानते हैं, उनसे संस्कृति का रूप निर्मित होता है। अत: यह मानसिक विकास की प्रक्रिया है।"[14]

नृतत्वशास्त्रियों ने संस्कृति का विवेचन कुछ अलग ही ढंग से किया है। इनमें टेलर का विचार बड़ा पुराना है और साथ ही सर्वांगीण भी। इनके अनुसार—"संस्कृति, वह समष्टि है जिसमें ज्ञान, विश्वास, कला, नैतिक-गुण, कानून, रिवाज और सामाजिक सदस्य के रूप में मनुष्य द्वारा उपलब्ध कोई अन्य सामर्थ्य और आदतें आती हैं।"[15]

रूडोल्फ ने माना है कि "संस्कृति वह जटिल विकासशील क्रिया है जो अर्जित और नैसर्गिक संस्कारों के माध्यम से मानव की अंतः शक्तियों को प्रबुद्ध करके उसे सही रूप में अपने गुणों को प्राप्त करने में सक्षम बनाती है।"[16]

संस्कृति पर विचार व्यक्त करते हुए जहाँ मैकाइवर और पेज कहते हैं कि यह हमारी जीवन-विधा तथा विचार-विधा में, प्रतिदिन के परस्पर आदान-प्रदान तथा कला, साहित्य, धर्म, विज्ञान तथा मनोरंजन की विशिष्ट विधाओं में व्यक्त हमारी प्रकृति है।[17] वहीं बोआस का मत है कि संस्कृति सामाजिक समुदाय के घटक व्यक्तियों के व्यवहार को विश्लेषित करने वाली मानसिक तथा शारीरिक प्रतिक्रियाओं और क्रियाओं का समूहमात्र है।[18]

जोह्न गिल्लिन के अनुसार—"सस्कृति ऐसी संस्थानीकृत (पैटर्न्ड) तथा क्रियात्मक रूप से ग्रंथित प्रथाओं को कह सकते हैं जो किसी विशिष्ट मानव व्यक्तियों में सामान्य हों।"[19]

संस्कृति सम्बन्धी भारतीय और पाश्चात्य दृष्टिकोण की तुलना करने पर यह स्पष्ट होता है कि भारतीय संस्कृति जहाँ अध्यात्म पर बल देती है, वहीं यूरोपीय संस्कृति बुद्धि पर। यूरोपीय संस्कृति में तर्क-वितर्क और खंडन-मंडन की प्रवृत्ति मिलती है जबकि भारतीय संस्कृति आस्था और विश्वास पर बल देती है।

थोड़े शब्दों में हम कहना चाहें तो कह सकते हैं कि संस्कृति हमारा आत्मिक विकास और नैतिक उन्नति है। हमारा वह व्यवहार है जो एक-दूसरे के साथ करते हैं; हमारी वह शक्ति है, जिससे हम दूसरों को समझ पाते हैं। यह वह अखण्ड ज्योति है जो सतत् प्रज्वलित रहते हुए हमारा मार्ग प्रशस्त करती है।

संस्कृति और सभ्यता

सभ्यता, 'सभ्य' शब्द की भाववाचक संज्ञा है। सभ्य वह है जो सभा का सदस्य हो। महर्षि पाणिनि ने सभा में साधु आचरण करने वाले को ही 'सभ्य' माना है। किन्तु अर्थ विस्तार से यह शब्द आज अपने मूल अर्थ से हट गया है। अब 'सभ्यता' शब्द मनुष्य के रहन-सहन की श्रेष्ठता का प्रतीक बन गया है। मानक हिन्दी कोश में सभ्यता का अर्थ दिया गया है—1. सभ्य होने की अवस्था, गुण या भाव, 2. किसी सभा या समाज की सदस्यता, 3. शीलवान और सज्जन होने की अवस्था और भाव, 4. किसी जाति या देश की बाह्य तथा भौतिक उन्नतियों का सामूहिक रूप।[20]

डा० भगवत शरण उपाध्याय के शब्दों में—"आदिमकाल से लेकर आज तक मनुष्य ने जो आशातीत उन्नति की, उसकी दो दिशाएँ हुईं। पहली, उसके

आध्यात्मिक विकास की दिशा है, जिसमें उसने विचार तथा कर्म के क्षेत्र में तमाम सृजन किया तथा ज्ञान-विज्ञान, कला, दर्शन इत्यादि क्षेत्रों में उन्नति की। दूसरी दिशा उसके भौतिक सुख-साधनों की पूर्ति की है, जिसमें उसने जीवन को सरस, सुन्दर और सुखमय बनाने के लिए प्राकृतिक साधनों का अनेक ढंग से प्रयोग कर बाह्य उन्नति की। यही दोनों दिशाएँ ही क्रमशः संस्कृति और सभ्यता की दिशाएँ हैं। जहाँ संस्कृति मानव विकास के सुन्दर, शालीन, सूक्ष्म तत्वों की ओर संकेत करती है, वहीं सभ्यता उसकी स्थूल और आविष्कार की दिशा की ओर। लेकिन सभ्यता और संस्कृति ये दोनों ही मानव की सृजनात्मक क्रिया के परिणाम हैं। इस क्रिया के मूल्य, चेतना को प्रबुद्ध करने की ओर अग्रसर होने से संस्कृति तथा उपयोगी लक्ष्य की ओर गतिमान होने से सभ्यता का जन्म होता है।[21]

'सभ्यता' को अनेक विद्वानों ने परिभाषित करने का प्रयास किया है। डा० प्रसन्नकुमार आचार्य के अनुसार—"सभ्यता है—विशिष्ट बौद्धिक विकास, उच्च-नैतिक विचार एवं भौतिक सुख-समृद्धि। इसमें भौतिक उन्नति, व्यापारिक और औद्योगिक विकास, सामाजिक स्वतंत्रता, राजनीतिक प्रगति का भी समावेश होता है।[22] डा० देवराज के मत से—"वे सब कला-कौशल के तंत्र और तरीके जिनके द्वारा मनुष्य अपनी मूल क्षुधाओं तथा जरूरतों को सरलतापूर्वक पूरा करता है, सभ्यता कहलाती हैं।"[23]

हिन्दी साहित्यकोश में भी सभ्यता की परिभाषा कुछ इसी प्रकार से दी गई है—"सभ्यता से तात्पर्य उन आविष्कारों, उत्पादन के साधनों एवं सामाजिक, राज-नीतिक संस्थाओं से समझना चाहिए, जिनके द्वारा मनुष्य की जीवन-यात्रा सरल और स्वतंत्रता का मार्ग प्रशस्त होता है।"[24]

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर निष्कर्ष रूप में सभ्यता के सम्बन्ध में यदि हम कहना चाहें तो कह सकते हैं कि यह मनुष्य की भौतिक उन्नति है। जीवन को सुख समृद्धिमय बनाने के लिए बौद्धिक रूप से किया गया विकास है।

जहाँ संस्कृति और सभ्यता के सम्बन्धों की चर्चा उठी, वहाँ विद्वानों में प्रायः मतभेद रहा। किसी ने दोनों को अलग-अलग माना तो किसी ने एक ही में समेटने की कोशिश की।

श्री प्रभुदयाल मीतल के अनुसार—"कभी-कभी सभ्यता और संस्कृति को समानार्थक समझ लिया जाता है, किन्तु यह ठीक नहीं है। सभ्यता का सम्बन्ध बाहरी बातों से है, जबकि संस्कृति भीतरी गुणों से संबंधित है। सभ्यता केवल भौतिक और शारीरिक उन्नयन है, जबकि संस्कृति मानसिक और बौद्धिक विकास है।"[25]

प्रो० शिवस्वरूप सहाय के विचार से—" 'सिविलिजेशन' और 'कल्चर' दोनों ही विरोधी शब्द हैं।···इन दोनों का अन्तर ठीक वही है जो व्यक्ति का और व्यक्तित्व का। व्यक्ति बाह्य पक्ष है और व्यक्तित्व आन्तरिक। ठीक इसी प्रकार अनुभूति जीवन का आन्तरिक पक्ष है और क्रिया उससे प्रेरित बाह्य पक्ष है। यही बाह्य पक्ष सभ्यता है और आन्तरिक पक्ष संस्कृति।"[26]

डा० मुंशीराम शर्मा के अनुसार—"संस्कृति और सभ्यता दो भिन्न-भिन्न स्थितियों की द्योतक हैं। एक को आत्मा तो दूसरी को शरीर कहा जा सकता है। संस्कृति आन्तरिक नैमल्य है, तो सभ्यता बाह्य प्रसाधन। एक में शान्ति है तो दूसरी में चमक-दमक। एक में प्रबुद्धता है तो दूसरी में उपयोगिता। एक केन्द्र की ओर प्रत्यावर्तन करती है तो दूसरी परिधि की ओर प्रगति। एक में निःश्रेयस् है तो दूसरी में अभ्युदय। एक में नितान्त ऐकान्तिकता है तो दूसरी में सामाजिकता।

सभ्यता निश्चित रूप से भौतिक है। वह बाह्य आभूषण मात्र है। संस्कृति आत्मा का श्रृंगार करती है, हृदय को उदात्त बनाती है तथा मन को विमल विचारों से सुशोभित करती है। सभ्यता बहिर्मुखी है तो संस्कृति अन्तर्मुखी। सभ्यता नवीन आविष्कारों, उत्पादन के साधनों तथा सामाजिक संस्थाओं से अपने स्वरूप को उन्नत करती है और जीवनयात्रा को सुगम तथा सरल बनाती है। संस्कृति इनके अभाव में भी फलती-फूलती है।[27]

वाचस्पति गैरोला के अनुसार—"संस्कृति का आधार मुख्यत आचारों से और सभ्यता का विचारों से है। आचारों से संस्कृति का और विचारों से सभ्यता का निर्माण हुआ है। इस दृष्टि से आचारों और विचारों का पारस्परिक जो सम्बन्ध है संस्कृति और सभ्यता का सामान्यतः वही सम्बन्ध है।[28]

दिनकर ने माना है कि—"सभ्यता वह चीज है जो हमारे पास है और संस्कृति वह गुण है जो उसमें व्याप्त है।"[29]

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार—"सभ्यता मनुष्य के बाह्य प्रयोजनों को सहज लभ्य करने का विधान है और संस्कृति प्रयोजनातीत आन्तर आनन्द की अभिव्यक्ति।[30] सभ्यता समाज की बाह्य व्यवस्थाओं का नाम है संस्कृति व्यक्ति के आन्तर विकास का। सभ्यता की दृष्टि वर्तमान सुविधा-असुविधा पर रहती है, संस्कृति की भविष्य या अतीत के आदर्श पर। सभ्यता नजदीक की ओर दृष्टि रखती है, संस्कृति दूर की ओर। सभ्यता का ध्यान व्यवस्था पर रहता है, संस्कृति का व्यवस्था से परे किसी अन्य केन्द्र पर। सभ्यता के निकट कानून मनुष्य से बड़ी चीज है परन्तु संस्कृति की दृष्टि में मनुष्य कानून से परे है। सभ्यता बाह्य होने के कारण चंचल है और संस्कृति आन्तरिक होने के कारण स्थायी।"[31]

भगवतशरण उपाध्याय के शब्दों में—"कहना न होगा कि सभ्यता और

संस्कृति एक ही मानव विकास के दो पहलू हैं। सभ्यता स्थूल होती है और आविष्कार की दिशा की ओर संकेत करती है, तो संस्कृति उस विकास के, चिन्तित, सुन्दर, शालीन सूक्ष्म तत्वों की ओर। आदिम बनैली स्थिति से, सामाजिक जीवन की ओर मनुष्य की प्रगति को सभ्यता कहते हैं। संस्कृति उसी प्रगति की सत्य, शिव, सुन्दर और रुचिर परम्परा का नाम है।[32]

पाश्चात्य जगत् के महान् विचारक एवं प्रसिद्ध समाजशास्त्री 'ओडम' के विचार से—"संस्कृति, समाज के विकास का सर्वोच्च साधन है जबकि सभ्यता अपने उद्देश्यों की पूर्ति का। संस्कृति प्रमुख सामाजिक क्रिया और सामाजिक माध्यमों का प्रतीक है जबकि सभ्यता सामाजिक पदार्थों और भौतिकी तकनीकी साधनों का।"[33]

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि सभ्यता हमारा आचार पक्ष है और संस्कृति विचार पक्ष। जहाँ संस्कृति से आदमी की अन्दर की हालत का पता चलता है, वहाँ सभ्यता से उस अन्दर की हालत की बाहरी रूपरेखा का।

सभ्यता और संस्कृति दोनों एक सिक्के के दो पहलू हैं। दोनों का आपस में घनिष्ठ सम्बन्ध है। इनमें आपस में स्पष्ट रूप से भेदक रेखा खींचना अत्यन्त कठिन है। हम दोनों को एक-दूसरे के पर्यायवाची के रूप में तो नहीं, लेकिन पूरक के रूप में जरूर मान सकते हैं। मेरी समझ से तो एक के बिना दूसरे की कल्पना भी असम्भव है।

सभ्यता और संस्कृति दोनों साथ-साथ विकसित होती हैं और एक-दूसरे को प्रभावित भी करती रहती हैं। लेकिन यह आवश्यक नहीं है कि सभ्यता के पूर्ण विकास की अवस्था में संस्कृति का भी पूर्ण विकास हो। आज विश्व के अनेक सभ्य कहे जाने वाले राष्ट्र सांस्कृतिक विकास की दृष्टि से बहुत पीछे हैं, जबकि असभ्य कहे जाने वाले ग्रामीण लोग इस दृष्टि से नगरीय लोगों से बहुत आगे हैं। इतना अवश्य है कि सभ्यता के समृद्ध होने से संस्कृति के विकास में सहजता आ जाती है, जिससे साहित्य, धर्म, दर्शन, कला-कौशल तथा ज्ञान-विज्ञानादि की आशातीत उन्नति होती है।

संस्कृति के विविध आयाम

संस्कृति मूलतः इतिहास का अंग है, किन्तु इसका क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। इसमें साहित्य, संगीत, कला, धर्म, दर्शन, राजनीति, लोकवार्ता आदि सभी का समावेश होता है। साहित्य, समाज की आत्मा तथा उसका व्यक्तित्व है। इसमें हमें जहाँ समाज के दर्शन होते हैं, वहीं परोक्ष रूप से संस्कृति की भी झलक मिलती है। साहित्य का जन्म संस्कृति से ही होना है। साहित्य भी संस्कृति के विकास में

अपूर्व योग देता है। साहित्य और संस्कृति के सम्बन्धों की चर्चा करते हुए डा० मुंशीराम शर्मा लिखते हैं—"संस्कृति की अभिव्यक्ति साहित्य में होती है तो साहित्य के द्वारा संस्कृति का पोषण भी होता है। साहित्य जहाँ जीवन का प्रतिनिधित्व करता है, वहाँ उसका संचालक भी है। जहाँ वह संस्कृति का चित्र खींचता है, वहाँ उसे प्रेरणा भी देता है। संस्कृति के सभी सत् तत्व साहित्य में संरक्षण पाते हैं, जिनका अध्ययन एवं अनुशीलन अध्येता के अन्दर विचारों को उत्तेजित करता है और परिणामतः चिन्तन का क्षेत्र उर्वर बनता है।"[34]

संस्कृति का धर्म से भी बड़ा गहरा सम्बन्ध है। यद्यपि यह अपनी अभिव्यक्ति कला एवं साहित्य के माध्यम से पाती है, लेकिन इसका प्रतिबिम्ब धर्म और उपासना में ही झलकता है।

धर्म बहुत व्यापक शब्द है। मोटे रूप में कहना चाहें तो कह सकते हैं कि किसी वस्तु का वस्तुत्व ही उसका धर्म है। जैसे मनुष्यता ही मनुष्य का प्रकृत धर्म है। यशदेव शल्य के शब्दों में—"धर्म मानवीय अर्थ अथवा अन्वेषण के उस रूप को कह सकते हैं जो जीवन का लक्ष्य लोकोत्तर और परम चैतन्य की स्थिति की प्राप्ति को, अथवा परम चैतन्य के बोध की योग्यता की प्राप्ति को स्वीकार करता है। इस प्रकार से धर्म एक मूल्यबोध है, क्योंकि 'उत्कर्ष' इसके लिए मूल प्रत्यय है और उसका अन्वेषण या उपलब्धि इसकी मूल प्रेरणा।"[35]

वस्तुतः धर्म और संस्कृति का कोई विरोध नहीं है। दोनों में अन्तर केवल इतना ही है कि धर्म में जहाँ श्रुति, स्मृतियों और पुराणग्रन्थों का आधार रहता है, वहाँ संस्कृति में परम्परा का। धर्म देश निरपेक्ष है किन्तु संस्कृति का सम्बन्ध देश से अधिक है। संस्कृति को धर्म से अलग करके न देखना ठीक नहीं है। डा० त्रिभुवन सिंह के शब्दों में—"प्रायः लोग संस्कृति को धर्म से अलग करके नहीं देख पाते और इस प्रकार वे संस्कृति के परिवेश को अत्यन्त सीमित कर देते हैं। जिस प्रकार कलाओं का उदय मानव जीवन को सुखमय बनाने के लिए समय-समय पर होता रहता है, उसी प्रकार समय-समय पर धर्म की रूपरेखा भी निश्चित होती रहती है। धर्म मानव निर्मित है, धर्म मानव का निर्माता नहीं। कभी-कभी तो धर्म का अन्धानुकरण समाज के विकास में घातक सिद्ध होता है। इसीलिए कार्लमार्क्स ने धर्म को अफीम की संज्ञा दी है जो लोगों को सही दिशा में सोचने ही नहीं देता।"[36]

संस्कृति का दर्शन से भी बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। श्री वाचस्पति गैरोला के अनुसार—"संस्कृति की समग्रता की खोज करने के लिए उसके विचार साहित्य का अनुशीलन आवश्यक होता है। दर्शन ही इस विचार साहित्य के आगार हैं। संस्कृति की गहनता, गंभीरता, विशालता, स्थिरता और प्राचीनता आदि विभिन्न पहलुओं का सम्यक् विश्लेषण दर्शन साहित्य में ही निहित होता है।"[37]

संस्कृति का धर्म और दर्शन की तरह कला से भी गहरा सम्बन्ध है। कला क्या है, इस विषय में दो विद्वानों की परिभाषाएँ दे देना उपयुक्त होगा। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में—"कला मनुष्यत्व की उपज है, मनुष्यत्व की उद्बोधक है और मनुष्यत्व की विजय ध्वजा है। कला का प्रयोजन है कि वह 'मनुष्य' को 'मनुष्य' बनाये, उसे पशु के सामान्य धरातल से ऊपर उठाये।"[38]

भगवानदास केला के अनुसार—"जिससे मनुष्य को सुख मिले, उसके ज्ञान की वृद्धि हो, तथा जिसमें उसे सौन्दर्य का अनुभव हो, वही कला है।"[39]

स्थूल जीवन में संस्कृति की अभिव्यक्ति कला को जन्म देती है। कला का सम्बन्ध जीवन के मूर्तरूप से है। संस्कृति को मन और प्राण कहा जाए तो कला उसका शरीर है। संस्कृति इसलिए आवश्यक है कि भविष्य में विचारों की दासता से मानव की रक्षा हो और कला इसलिए आवश्यक है कि यन्त्र की दासता से मनुष्य अपने को बचा सके।

लोकवार्ता और संगीत के माध्यम से संस्कृति का स्वरूप सुरक्षित रहता है। लोकवार्ता का जन्म जनता के मानस में होता है। यदि इनका संग्रह किया जाए तो उस आधार पर स्थान या देश-विशेष के निवासियों की अतीत से लेकर अब तक की बौद्धिक, नैतिक, धार्मिक एवं सामाजिक अवस्था का एक सम्पूर्ण चित्र हमारे सामने उपस्थित हो जाएगा। संगीत के माध्यम से ही संस्कृति स्थायित्व प्राप्त करती है और साथ ही गति भी।

संस्कृति का प्रसार मात्र धर्म, दर्शन और कला तक ही सीमित नहीं है, वरन् इसका सम्बन्ध व्यक्ति, कुल, समाज, जाति तथा राष्ट्र से भी है। यह व्यक्ति, कुल, समाज जाति तथा विश्व-भर के समक्ष आदर्शों की प्रतिष्ठा करती है। ये आदर्श परम्परा में परिचालित तथा पोषित होकर अनेक पीढ़ियों तक चलते रहते हैं और आगे आने वाली संतति को प्रेरणा भी देते रहते हैं।

यद्यपि संस्कृति के निर्माण में व्यक्ति का हाथ रहता है लेकिन वह व्यक्ति-मात्र अथवा थोड़े से ही व्यक्तियों की वस्तु नहीं होती और न ही इसे व्यक्ति-विशेष के प्रयत्न का परिणाम ही कहा जा सकता है। संस्कृति समाज के अनगिनत व्यक्तियों के सामूहिक प्रयत्न का परिणाम होती है और यह प्रयत्न भी ऐसा, जिसे एक के बाद एक आने वाली मनुष्यों की विविध संततियाँ निरन्तर करती रहती हैं।

व्यक्ति से उठकर संस्कृति परिवार के स्तर तक आती है। परिवार, मानव संस्कृति की प्रारम्भिक पाठशाला है। यह समाज की एक छोटी इकाई है। परिवार में आदमी जिस संयम, त्याग और सेवा आदि का अभ्यास करता है, उसके प्रयोग की समाज में पग-पग पर जरूरत होती है।

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है अतः उसकी संस्कृति का विकास सामाजिक

व सामूहिक रूप में ही होता है। संस्कृति ही समाज के विकास के प्रवाह का दिशा निर्धारण करती है। जब किसी समाज के अधिकांश व्यक्ति अच्छे चरित्र और स्वभाव वाले, स्वावलम्बी, परिश्रमी और एक-दूसरे के प्रति सद्भावना और सहानुभूति रखने वाले हों तो वह समाज निरन्तर उन्नति करता रहता है, उसका खासकर नैतिक स्तर ऊँचा होता है। वह समाज सुसंस्कृत समाज कहलाता है। उसकी संस्कृति ऊँचे दर्जे की मानी जाती है।

कुछ विद्वान जाति के आधार पर भी संस्कृति का भेद करते हैं जैसे—भारतीय संस्कृति, ईरानी संस्कृति, मुस्लिम संस्कृति आदि। लेकिन यह उचित नहीं है। मनुष्य जाति एक ही है, उसकी संस्कृति भी एक है। हाँ! अलग-अलग प्रदेश के निवासियों में वातावरण, जलवायु, वर्षा, उपज, भौगोलिक स्थिति, नदी, पहाड़, जंगल आदि की भिन्नता के कारण कुछ असमानताएँ हो जाना स्वाभाविक है। इसीलिए विविध भूखण्डों के निवासियों में विकास की प्रवृत्ति और दिशाओं में समानता होते हुए भी कुछ भेद हो जाता है। वे अपने सामाजिक संगठन, रीति-व्यवहार, जीवन के उद्देश्य या ध्येय आदि के सम्बन्ध में अलग-अलग विचारों और धारणाओं या विश्वासों वाले हो जाते हैं। अतः एक प्रदेश के निवासियों की बहुत-सी परम्पराएँ दूसरे प्रदेश के निवासियों से अलग ढंग की हो जाती हैं।

मनुष्य के सांस्कृतिक विकास की अगली मंजिल राष्ट्र है। श्री हंसकुमार तिवारी के शब्दों में—"विचार और कर्म के क्षेत्र में राष्ट्र का जो सृजन है, वही उसकी संस्कृति है। संस्कृति विश्व के प्रति अनन्य मैत्री की भावना है। प्रत्येक राष्ट्र की दीर्घकालीन ऐतिहासिक हलचल का लोकहितकारी तत्व उसकी संस्कृति है। वह राष्ट्रीय जीवन की आवश्यकता है तथा मानवीय जीवन को अध्यात्म प्रेरणा प्रदान करने वाली है।[40]

संस्कृति चाहे नगर की हो या गाँव की, सबमें प्रसार की एक गति होती है। जहाँ नागरिक संस्कृति का प्रसार विद्वानों की लेखनी और वाणी द्वारा होता है, वहाँ ग्रामीण संस्कृति का मौखिक रूप में। ग्रामीण संस्कृति का प्रसार जंगल की आग की तरह होता है।

संस्कृति चाहे वैयक्तिक हो या सामाजिक, उसका मुख्य कार्य पाशविक प्रवृत्तियों को कम करना और मानवीय गुणों को बढ़ाना है। हमेशा से काम, क्रोध, लोभ, अहंकार, द्वेष, घृणा, स्वार्थ, क्रूरता इत्यादि हिंसात्मक भावों को कम करना और इनकी जगह प्रेम, सद्भाव, सहानुभूति, सहयोग, सेवा और त्याग तथा उपकार आदि अहिंसात्मक वृत्तियों को जगाना और बढ़ाना यही मनुष्य की व्यक्तिगत संस्कृति का सार रहा है।

संस्कृति मूलतः समन्वयात्मक है। यह हमारे जीवन के अभ्युदय का मार्ग प्रशस्त करती है। इस संदर्भ में यह हमारे मन का मन और प्राणों का प्राण है।

यह जीवन के संवर्धन का सबसे पोषक तत्व तथा जीवन की समग्रता का दर्शन कराने वाला प्रकाश-पुंज है। राजनीति, अर्थशास्त्र, धर्मशास्त्र, समाजशास्त्र, विज्ञान एवं प्रविधि, सभी को आत्मसात् करते हुए संस्कृति एक ऐसा व्यापक एवं विस्तृत परिवेश प्रस्तुत करती है, जहाँ मानव मन अपने विकास की ऊँची उड़ान भर सकता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि संस्कृति के विविध आयाम हैं। इसका विस्तार मात्र साहित्य, समाज, राष्ट्र, परिवार, दर्शन, कला इत्यादि तक ही सीमित नहीं है, वरन् इसका विस्तार तो संपूर्ण जीवन में है, जीवन का कोई अंग इससे अछूता नहीं है।

संस्कृति, समाज और साहित्य

संस्कृति का समाज और साहित्य से बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। संस्कृति तथा साहित्य दोनों का विकास समाज के अन्तर्गत ही होता है। समाज से अलग हट-कर न तो साहित्य की कल्पना की जा सकती है और न संस्कृति की ही। साहित्य में हमें जहाँ समाज के दर्शन होते हैं, वहीं उसमें परोक्ष रूप से संस्कृति की भी झलक मिलती है। साहित्य और समाज का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध साहित्य और संस्कृति के विषय में भी बिल्कुल ठीक बैठता है। वस्तुतः साहित्य और संस्कृति तथा समाज मिलकर एक त्रिकोण बनाते हैं।

सामाजिक प्राणी होने के नाते मनुष्य के जीवन का सर्वांगीण विकास समाज में रहकर ही हुआ है, वह चाहे कला के क्षेत्र में हो, चाहे साहित्य के क्षेत्र में या ज्ञान-विज्ञानादि के।

संस्कृति का जन्म समाज से हुआ है, इसीलिए इसे 'समाज की उपज' कहा जाता है। यह समाज की आत्मा एवं उसका व्यक्तित्व है। यह सामाजिकता में इस प्रकार घुली-मिली रहती है कि इसका उससे पृथक्करण सम्भव नहीं है। इसके द्वारा ही समाज की आत्मा की अभिव्यक्ति होती है तथा उसके विकास के प्रवाह का दिशा-निर्धारण होता है।

संस्कृति का विकास समाज के ऊपर ही निर्भर रहता है। जिस समाज के आधिकांश व्यक्ति सच्चरित्रवान एवं उच्चनैतिक स्तर वाले होते हैं, उनकी संस्कृति भी उच्च होती है।

संस्कृति का ह्रास भी समाज द्वारा ही होता है। जब कोई समाज जड़-चिन्तन या भूतकाल की प्रशंसा मात्र में उलझ जाता है, तब वह संस्कृति के विकास में अवरोध उत्पन्न करता है।

संस्कृति ही ऐसी है जो समाज को विशृंखलित होने से बचाती है। यदि

संस्कृति ही न रहे तो समाज बिखर जाए।

संस्कृति ही समाज तथा उसके व्यक्तियों के मन से कुत्सित वृत्तियों एवं हिंसात्मक भावों को निकालकर उनकी जगह प्रेम, सौहार्द्र, सद्भाव आदि अहिंसात्मक भावों को बढ़ाती है, जिससे समाज में एकता और संगठन कायम रह सके। यद्यपि संस्कृति समाज के लिए होती है, समाज संस्कृति के लिए नहीं, फिर भी समाज, संस्कृति का जनक होने के नाते इसके विकास में सहायक होता है। संस्कृति की सुदृढ़ नींव पर ही समाज की भव्य इमारत खड़ी होती है।

संस्कृति का साहित्य से भी बड़ा निकट का सम्बन्ध है। संस्कृति समाज की आत्मा है और साहित्य समाज का हृदय। अतः आत्मा और हृदय में जो सम्बन्ध होता है वही साहित्य और संस्कृति में भी है। साहित्य, संस्कृति का वाहक है। साहित्य, कवि की अन्तरतम हृदयभूमि से उत्पन्न हुआ, संस्कृति का ही संदेश वहन करता है। संस्कृति के सभी अंग साहित्य द्वारा ही अभिव्यक्ति पाते हैं।

साहित्य क्या है, इसको स्पष्ट करते हुए भगवानदास केला ने लिखा है कि—"असल में साहित्य वही है, जिससे मनुष्य के विकास और उन्नति में सहायता मिले, जो पाठकों को ऊँचे आदर्श पर ले जाने वाला हो, जो मानवधर्म की शिक्षा दे, अर्थनीति, राजनीति और समाजनीति में संकीर्णता या खुदगर्जी को हटाकर सर्वोदय की भावना को प्रोत्साहित करे, जिससे आदमी अपना जीवन मनुष्य जाति की सेवा और कल्याण में लगाये।"[41]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि जो साहित्य का उद्देश्य है, वही संस्कृति का भी। इस कारण दोनों का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। संस्कृति, साहित्य की जन्मदात्री है, इस नाते साहित्य भी संस्कृति के विकास में योग देता है। किसी देश या जाति की संस्कृति का उचित संरक्षण उस देश या जाति के साहित्य में ही होता है। किसी भी देश की संस्कृति को समझने के लिए उस देश के साहित्य को समझना नितान्त आवश्यक होता है। साहित्य में बहुत कुछ सांस्कृतिक चेतना की ही अभिव्यक्ति होती है। साहित्य में उसके लेखक की वर्गीय संस्कृति के प्रभावों की बड़ी कुशलता के साथ सँजोकर रखा जाता है, अतः साहित्य और संस्कृति एक-दूसरे से बहुत निकट सम्पर्क रखते हैं। संस्कृति की समस्त ज्ञान तथा बुद्धि की चेतना साहित्य में ही सुरक्षित तथा कायम रह सकती है।

साहित्य तथा संस्कृति दोनों का विकास अविच्छिन्न गति से होता रहता है। वह कहीं रुका भले ही रह जाए लेकिन उसके विकास की गति कहीं भंग नहीं होती।

संस्कृति के लिए समय सापेक्ष होना बहुत जरूरी है। लगभग यही बात साहित्य के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। समय तथा परिवेश से कटकर साहित्य अपना अस्तित्व बहुत कुछ खो देता है।

डा० मुंशीराम शर्मा के शब्दों में—"साहित्य अभिव्यक्ति है उन सबकी जो कवि को अपने भूत और वर्तमान से प्राप्त होता है। संस्कृति, विशेष रूप से उसके काव्य-कलेवर का उपादान बनती है। यदि साहित्यकार वस्तुतः साहित्यकार है तो उसे अपने पूर्वजों के सांस्कृतिक रिक्थ से अवश्य परिचित होना चाहिए। जिस कवि के हाथ में जातियों का निर्माण और ध्वंस रहता है, वही यदि अपनी संस्कृति से अपरिचित होगा तो अपने उत्तरदायित्व का वास्तविक अर्थों में निर्वाह नहीं कर सकेगा। मानवता के विकास की साधिका संस्कृति अमर कवि के अमर काव्य में सन्निहित रहती है।"[42]

सांस्कृतिक तत्वों से युक्त या सांस्कृतिक काव्य लिखने के लिए साहित्यकार जीवन की यथार्थ कटुताओं को बचाकर भी उनका चित्रण कर हमें अनुभव सम्पन्न बनाता है। वह ऐसा इसलिए करता है, जिससे हम बिना भोगे जीवन के अवांछनीय पक्षों से अवगत हो सकें और उससे बचकर कल्याणकारी और मंगल-मय पक्ष का वरण कर सकें। सांस्कृतिक काव्य-प्रणेता के अन्दर जीवन का व्यापक अनुभव, गहरी संवेदना और विशाल दृष्टि होनी चाहिए। उसे अपने समाज और युग से पूर्ण परिचित होना चाहिए। जो कवि अपने युग की उथल-पुथल को अपनी आँखों से देखकर तथा अध्ययन आदि के द्वारा जीवन की व्यापक दृष्टि प्राप्त कर लेता है, वही सांस्कृतिक काव्य की रचना कर सकता है।

महाकवि सूर ने सांस्कृतिक काव्य की रचना की है। उन्होंने अपने युग, समाज एवं सत्ता की उलट-फेर को अध्ययन द्वारा नहीं बल्कि प्रज्ञाचक्षुओं से देखा था। वे जीवन के व्यापक अनुभवी, गहन संवेदनशील तथा विशाल दृष्टि-सम्पन्न थे। जीवन की यथार्थ कटुताओं का प्रत्यक्ष, अप्रत्यक्ष चित्रण उनकी रचनाओं में मिलता है। इन रचनाओं के माध्यम से ही उन्होंने लड़खड़ाते युग को नवजीवन प्रदान किया।

साहित्य जहाँ संस्कृति से जुड़ा है, वहीं समाज से भी। साहित्य ही ऐसा है जो लड़खड़ाते युग को पुनर्जीवन प्रदान कर सकता है। वह युग का प्रतिबिम्ब होता है। समाज के विविध विकृतियों के कारण कुंठित हो जाने, उसकी चेतना के निष्क्रिय हो जाने तथा उसकी आत्मा के कलुषित हो जाने की स्थिति में साहित्य ही समाज को नयी चेतना और नया जीवन देता है। इसीलिए साहित्य को समाज की जीवनदायिनी शक्ति कहा जाता है। साहित्य को देखकर समाज की स्थिति का सहज अनुमान लगाया जा सकता है। साहित्य की मूल प्रेरणाओं को समाज से अलग नहीं किया जा सकता और न ही साहित्य सर्जना के मूल प्रयोजनों को ही। प्रत्येक युग और समाज की परिस्थितियों और जीवन-मूल्यों के अलग-अलग होने के कारण उन्हीं के अनुसार प्रेरणाएँ और प्रयोजनों में भी बदलाव हुआ करता है। और इसी के साथ ही साहित्य की प्रवृत्तियाँ भी बदलती

रहती हैं ।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि संस्कृति, साहित्य और समाज तीनों का आपस में बड़ा गहरा सम्बन्ध है । जिस प्रकार किसी राष्ट्र या देश के साहित्य से उसका समाज कभी अलग नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार उस देश या राष्ट्र के साहित्य से उसकी संस्कृति को भी कोई अलग नहीं कर सकता ।

सांस्कृतिक चेतना

सांस्कृतिक चेतना को समझने के लिए संस्कृति तथा चेतना दोनों को अलग-अलग समझ लेना आवश्यक है । संस्कृति का विवेचन पीछे किया जा चुका है अत: यहाँ चेतना का ही विवेचन अपेक्षित होगा ।

'चेतना' शब्द का प्रयोग ज्ञान, होश, बुद्धि, चेत और जीवन के अर्थ में किया जाता है । जीवनी-शक्ति या प्राणशक्ति के लिए भी इस शब्द का प्रयोग होता है । अंग्रेजी में चेतना के लिए 'कान्शसनेस' शब्द प्रयुक्त होता है, जिसका अर्थ है आन्तरिक ज्ञान अथवा चेतन जागरूकता । दर्शनशास्त्र के अनुसार चेतना—विचारों, अनुभूतियों और संकल्पों की आनुषंगिक दशा, स्थिति अथवा क्षमता है ।

साहित्यकोश के अनुसार—"चेतन मानव की प्रमुख विशेषता चेतना है, अर्थात् वस्तुओं, विषयों, व्यवहारों का ज्ञान । चेतना की परिभाषा कठिन है पर इसका वर्णन हो सकता है । चेतना की प्रमुख विशेषताएँ हैं—निरन्तर परिवर्तन-शीलता अथवा प्रवाह, इस प्रवाह के साथ-साथ विभिन्न अवस्थाओं में एक अविच्छिन्न एकता और साहचर्य । चेतना का प्रभाव हमारे अनुभव-वैचित्र्य से प्रमाणित होता है और चेतना की अविच्छिन्न एकता हमारे व्यक्तिगत तादात्म्य के अनुभव से ।"[43]

पाश्चात्य विद्वानों ने भी चेतना को पारिभाषित करने का प्रयास किया है । प्रसिद्ध विद्वान हैमिल्टन ने चेतना को चिन्तनशील प्राणी द्वारा अपने कार्यों अथवा प्रवृत्तियों की स्वीकृति माना है ।[44]

'लोके' के अनुसार मनुष्य के अपने मन में जो कुछ घटित होता है, उसका प्रत्यक्ष ज्ञान चेतना है ।[45]

'क्लार्क' के मत से—गम्भीर और सही अर्थ में चेतना उस प्रतिपेक्षित क्रिया की सूचक है, जिसके अन्तर्गत व्यक्ति को यह ज्ञान होता है कि वह विचार कर रहा है और उसके वे विचार तथा क्रियाएँ स्वयं उसकी अपनी हैं किसी दूसरे को नहीं ।[46]

'रीड' ने माना है कि यह व्यक्ति के वर्तमान विचारों, उद्देश्यों और सामान्यतया मन की समस्त वर्तमान क्रियाओं से सम्बद्ध तात्कालिक ज्ञान का सूचक है।[47]

विज्ञानवादी और प्रत्ययवादी दार्शनिकों ने चेतना या विज्ञान को ही शाश्वत और एकमात्र सत्ता माना है। इस अर्थ में चेतना शब्द आत्मा का समानार्थक हो जाता है। साहित्य और दर्शन में इस अर्थ में प्रायः चैतन्य शब्द का प्रयोग किया जाता है। वैसे चेतना शब्द सामान्य-मनोवैज्ञानिक अर्थ में ही अधिक आता है।

चेतना का जागरण मानव की चिन्ता द्वारा होता है। मनुष्य सोचता है, विचार करता है तब उसे जाकर सही या भ्रामक निष्कर्षों की प्राप्ति होती है। मानव को गति भी चेतना द्वारा ही मिलती है। चेतना का विस्तार जीवन के कई क्षेत्रों—सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, राष्ट्रीय इत्यादि—तक है, लेकिन यहाँ मात्र सांस्कृतिक चेतना को ही विवेचित करना हमारा अभीष्ट है।

डा० रामखेलावन पाण्डेय के शब्दों में—"सांस्कृतिक चेतना उस मूल तत्त्व का विराट संयोजन है जो जीवन को जीवनीय, प्रकृति को संस्कृति, सहज को उदात्त एवं सामान्य को भव्य बनाती है।"[48]

डा० रामदेव शुक्ल के शब्दों में—"सांस्कृतिक चेतना तो नवोन्मेषशालिनी प्रतिभा की भाँति समाज जीवन के कूड़े-कचरे को साफ करते हुए नित्य नूतन पर चिर पुरातन सत्य को प्रतिष्ठित करने के लिए सदा प्रेरित करती है।"[49]

बाबू गुलाबराय के शब्दों में—"संस्कृति के क्षेत्र में देश, धर्म और जातिगत आधार का विचार उपयुक्त नहीं। मूलतया मानवमात्र की सांस्कृतिक चेतना पूर्ण इकाई है। जो कुछ विभिन्नता दीख पड़ती है वह अभिव्यक्ति के साधनों की सीमा और परिस्थितियों की विभिन्नता के कारण। परम्परा के विकास, सामाजिक परिवेष्टन के नये स्वरूप और अन्य संस्कृतियों के अन्तरावलम्बन के कारण सांस्कृतिक चेतना में अन्तर आता है। एक ही समाज में विभिन्न स्तर होते हैं और सांस्कृतिक चेतना इन विभिन्न स्तरों में पृथक्-पृथक् स्वरूप लेगी। समाज का वर्गीय विभाजन सांस्कृतिक स्वरूप की सीमा और अनुशासन है।"[50]

संस्कृति के क्षेत्र में चेतना और व्यवहार इन दोनों का सामंजस्य रहता है। व्यवहार के क्षेत्र में उसे आदर्श पारस्परिकता आदि नामों से तथा चेतना के क्षेत्र में सृजनात्मक क्षमता या कलात्मक अनुभव को संप्रेषित करने की कला के रूप में जाना जाता है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि सांस्कृतिक चेतना, किसी देश, समाज या राष्ट्र की संस्कृति के प्रति चेतन जागरूकता है। यह जागरूकता विशेष रूप से तब उत्पन्न होती है, जब सांस्कृतिक संकट का काल

होता है। कोई कवि या साहित्यकार अपनी संस्कृति के प्रति जागरूक और संचेतनशीज होकर सांस्कृतिक काव्य की रचना तभी करता है, जब उसे अपनी संस्कृति का अस्तित्व खतरे में दिखाई देता है। हिन्दी साहित्य का मध्यकाल इसी प्रकार के सांस्कृतिक संकट का काल था। यह वह काल था जिसमें इस्लाम, विजेताओं के धर्म के रूप में भारत पहुँचा और इस देश में हिन्दुत्व के साथ उसका सम्पर्क हुआ।

ऐसे ही संकट काल में जब लोगों की सांस्कृतिक चेतना, पूर्णतया विलुप्त हो रही थी, सूर जैसे महापुरुष ने जन्म लेकर स्वधर्म के ऊपर आई हुई संकट की आँधी में स्तम्भ बनकर समाज के धैर्य को नष्ट होने से बचाया और प्रतिकूल परिस्थितियों के बीच में ही भारतीय धर्म, सभ्यता एवं संस्कृति की बुझती ज्योति को सँभाला। मुगल-वैभव तथा उसकी चमचमाती चकाचौंध में आत्म-विस्मृत हो, शासकों के आचार-व्यवहार को अपनाने के लिए बाध्य हो जाने वाली तथा अपनी संस्कृति से हाथ धो बैठने वाली सामान्य जनता के लिए ही उन्होंने सूरसागर की रचना की और इसके माध्यम से आर्य जाति में प्रचलित आचार-व्यवहार, रीति-रिवाजों, पर्वों, उत्सवों, त्योहारों, विभिन्न संस्कारों, कला-कौशल, ज्ञान-विज्ञान तथा पूजा आदि के विधि-विधानों का वर्णन कर सामान्य जनता को अपनी संस्कृति और उसकी महत्ता से परिचित कराया और इस प्रकार मुस्लिम संस्कृति द्वारा उसे आत्मवंचित होने से बचाया।

अभिव्यक्ति की दिशाएँ

सांस्कृतिक चेतना की अभिव्यक्ति जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में होती है। जीवन की कोई भी क्षेत्र इससे अछूता नहीं है।

सांस्कृतिक चेतना की अभिव्यक्ति का माध्यम साहित्य है। साहित्य में ही इसकी सफल अभिव्यक्ति सम्भव हो पाती है। साहित्यकार चूंकि समाज में रहता है इसलिए वह समाज की सांस्कृतिक चेतना से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से अनुप्राणित होता है। सम्पूर्ण सांस्कृतिक चेतना पर विचार करता है और उसकी उपयुक्तता और अनुपयुक्तता को प्रतिपादित करता है। लेकिन उसके समक्ष केवल सृजन की समस्या नहीं होती, अपितु उस सृजन को बहुजनहिताय और बहुजन सुखाय बनाने की भी समस्या होती है। इस दृष्टि से वह सम्पूर्ण सामाजिक परिवेश पर विचार करता है और उसे अपनी दृष्टि से व्याख्यायित करता है।

साहित्य संस्कृति का मुखोपेक्षी भी रहा है। जब-जब सांस्कृतिक एवं सामाजिक चेतना ने करवट बदली है, उसके अन्तराल में जब-जब उद्वेलन की स्थिति

का अविर्भाव हुआ है, तब-तब साहित्य में भी क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ है। इसका प्रमुख कारण यह है कि सभी प्रकार की शक्तियाँ भावनाओं से नियंत्रित होती हैं जो प्रमुख रूप से मानव मस्तिष्क की सांस्कृतिक भूमिका पर आधारित होती है। ज्ञान-विज्ञान के विकास के कारण मानव का दृष्टिकोण और उसकी सांस्कृतिक चेतना में परिवर्तन हुआ है और ये परिवर्तन उसी रूप में साहित्य में भी प्रतिच्छायित होते देखे गये हैं।

साहित्य के अतिरिक्त सांस्कृतिक चेतना सामाजिक परम्पराओं, रीति-रिवाजों, संस्कारों, पर्वोत्सवों, त्योहारों, लोककथाओं तथा सामाजिक विश्वासों के माध्यम से भी अभिव्यक्ति पाती रही है। हिन्दी साहित्य का मध्यकाल इसका प्रमाण है। इस काल में मुस्लिम धर्म के कारण हिन्दू समाज को एक व्यवस्थित धार्मिक समाज और सामाजिक-व्यवस्था का सामना करना पड़ा था। हिन्दुओं ने कई कारणों से इस्लाम धर्म ग्रहण किया था। नगर में रहने वाले उच्चवर्ग के लोगों ने राजसभा में सम्मान प्राप्त करने के लिए इस्लाम धर्म स्वीकार किया, तो गाँव में रहने वाले गरीब लोगों ने सामाजिक अत्याचार से मुक्ति पाने के लिये। हिन्दुओं की अनुदारनीति से भी कुछ लोगों ने धर्म परिवर्तन किये। अधिकांश मुसलमानों ने धार्मिक भेदभाव को दूर करने के लिए यहाँ की स्त्रियों से विवाह किये। लेकिन इतना होने पर भी हिन्दुओं की सांस्कृतिक चेतना में अन्तर नहीं आया। पर आचार और संस्कार में अन्तर रहने पर भी विचार, जीवन और जगत के प्रति दृष्टिकोण आदि में पर्याप्त साम्य रहा। राजनीतिक अन्तर के रहने पर भी सामान्य जीवन में अन्तर अधिक नहीं था। इसका कारण था हिन्दुओं का अपना सामाजिक संगठन, रीति-रिवाज, संस्कार तथा सामाजिक विश्वास आदि। इन्हीं के चलते भारतीय सांस्कृतिक चेतना कभी विलुप्त नहीं हुई और वह अक्षुण्ण गति से आज तक प्रवाहित हो रही है।

युग बोध

'युगबोध' शब्द 'युग' और 'बोध' इन दो शब्दों के संयोग से निष्पन्न है, जिसका सामान्य अर्थ है समसामयिक परिस्थितियों का परिज्ञान। 'युग' शब्द का कोशगत अर्थ है—समय अथवा काल; तथा 'बोध' शब्द का कोशगत अर्थ है—प्रतीति, ज्ञान, जानकारी, किसी के अस्तित्व, प्रकार, स्वरूप आदि का होने वाला मानसिक भान। इस प्रकार युगबोध का अर्थ हुआ किसी काल विशेष की परिस्थितियों एवं विशेषताओं आदि का सम्यक् ज्ञान।

प्राचीन भारतीय विचारकों ने 'युग' को सामाजिक दृष्टि से काल को विभा-

जित करने वाली इकाई माना है, जैसे—सतयुग, त्रेता, द्वापर, कलियुग। साहित्य के सन्दर्भ में युग व्यक्ति-सापेक्ष, घटना सापेक्ष और काल सापेक्ष माना जाता है; जैसे भारतेन्दु युग, स्वातन्त्र्य युग तथा मध्य युग। युग का सीमा निर्धारण मान्यताओं, स्थितियों एवं संदर्भों पर निर्भर करता है। जहाँ से एक खास तरह की मान्यताओं, स्थितियों एवं सन्दर्भों का उदय होने लगता है, वहाँ से हम एक नये युग की शुरुआत मान लेते हैं, और जहाँ आकर इस तरह की स्थितियाँ समाप्त हो जाती हैं, वहाँ से युग का अन्त मान लिया जाता है।

साहित्य में युग का आंकलन मानव मूल्यों के आधार पर किया जाता है। डा० हुकुमचंद राजपाल के शब्दों में—"व्यक्ति के दैनंदिन जीवन के वे सब मूल्य जो व्यक्ति की सीमा से ऊपर उठकर सामूहिक सन्दर्भों में अर्थवान हो जाते हैं, किसी युग विशेष का द्योतन कराने में समर्थ हो जाते हैं। तात्पर्य यह है कि जब कोई मूल्य बहुत से समाजधर्म व्यक्तियों को प्रभावित करता है, तब वह बोध वृत्ति धारण कर लेता है। उस बोध के द्वारा वह मूल्य समाज धर्मा समुदाय में विकसित होता है और कुछ समय बाद 'युग विशेष' का निर्माण स्वयं हो जाता है।"[51]

'युग' शब्द के साथ 'बोध' शब्द का प्रयोग आज व्यापक संदर्भ में हो रहा है। बोध के कारण ही व्यक्तियों में चेतना, विकास एवं संघर्ष की स्थिति का जन्म होता है। बोध का अर्थ इन्द्रियानुभूति के माध्यम से किसी वस्तु की स्थिति का परिज्ञान है। इसमें समय सापेक्षता अधिक रहती है। डा० रमेश कुंतल मेघ ने 'बोध' का सम्बन्ध विमर्श शक्ति से माना है जो विवेक तथा बुद्धि से नियत है।[52] बोध का आधार मनुष्य का प्रत्यक्ष अनुभव है। इस अनुभव से ही हम अपने ज्ञान को समृद्ध करते हैं। डा० मदन मोहन भारद्वाज के शब्दों में—"निन्तर परिवर्तनशीलता अथवा प्रवाह के साथ-साथ विभिन्न अवस्थाओं में एक अविच्छिन्न एकता और साहचर्य अपेक्षित रहता है। बोध का प्रभाव हमारे अनुभव वैचित्र्य से प्रमाणित होता है और उसकी अविच्छिन्न एकता हमारे व्यक्तिगत तादात्म्य के अनुभव से सम्बद्ध रहती है। विभिन्न विषयों का अलग-अलग समय पर बोध होने पर भी हम सदा यह अनुभव करते हैं कि मैंने अमुक वस्तु देखी थी। यदि हमारा बोध अखण्ड और अविच्छिन्न न होता तो यह अनुभव हमें कदापि न होता।"[53]

इस प्रकार 'युग' तथा 'बोध' की शब्दगत व्याख्या के पश्चात् हम कह सकते हैं कि 'युगबोध' का अर्थ किसी कालखण्ड की मान्यताओं, स्थितियों एवं संदर्भों की सही पहचान और सही पकड़ से है। प्रत्येक देश एवं समाज का अपना बोध होता है और यह बोध युग के परिवर्तन के साथ बदलता रहता है। यही बोध विविधता ही युगबोध का आधार होती है।

कभी-कभी 'युगबोध' की जगह 'युगदृष्टि' शब्द का प्रयोग कर दिया जाता है जो मेरी समझ से गलत है। 'बोध' और 'दृष्टि' में अन्तर है। स्थिति वैषम्य के कारण दोनों अपना अलग मूल्य रखते हैं। कई दृष्टियाँ जब मिलकर एकाकार होती हैं तो उनमें बोध का आग्रह बढ़ता है। निर्माणात्मक प्रक्रिया में दृष्टि पहले आती है, बोध बाद में आता है। मनुष्य को पहले बोध-दृष्टि मिलती है, बाद में यही दृष्टि विकसित होकर बोध वृत्ति का रूप धारण कर लेती है। बोध और दृष्टि का अन्तर स्पष्ट करते हुए डा० हुकुमचंद राजपाल लिखते हैं—"दृष्टि निरपेक्ष है, बोध सापेक्ष; दृष्टि अंकन है, बोध आकलन; दृष्टि मानव का आन्तरिक स्तर है, बोध परम्परा का विकसित स्वर; दृष्टि आग्रह है, बोध दुराग्रह; दृष्टि संवेदना है, बोध अभिव्यंजना; दृष्टि प्रक्रिया है, बोध प्रकरण; दृष्टि नियम है, बोध नियमन आदि।"[54]

'दृष्टि' और 'बोध' में अन्तर होते हुए भी दोनों अन्योन्याश्रित हैं। दृष्टि की विकसमान अवस्था ही बोध को जन्म देती है। किसी युग की बोध शक्ति का विकास और ह्रास दृष्टि के विकास और ह्रास पर ही निर्भर करता है। दृष्टि जब तक विकसमान रहती है, तब तक बोध की भी उन्नति होती रहती है, पर जहाँ दृष्टि का विकास रुक जाता है, वहीं बोध भी जड़ हो जाता है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि प्रत्येक देश व समाज का अपना 'विशिष्ट बोध' होता है जो युग के परिवर्तन के साथ बदलता या विकसित होता रहता है। साहित्यकार अपनी सर्जना में इसी बोध को पकड़ने का प्रयास करता है। जिस साहित्यकार की बोधदृष्टि जितनी ही विकसित होती है, वह उतना ही महान साहित्यकार माना जाता है।

सामयिकता और युगबोध

सामयिकता का सम्बन्ध समय (टाइम) से है जबकि युग का सम्बन्ध बोध (सेन्सीबिलिटी) और शैली से है। सामयिकता में युग का तटस्थ चित्रण रहता है और युगबोध में आलोचनात्मक दृष्टि से निर्णय लेने की स्थिति होती है। दूसरे शब्दों में जहाँ युगबोध पूरे युग की संवेदना को प्रकाशित करता है वहीं सामयिक बोध मात्र सामयिक संवेदना को ही। सामयिक बोध का काल भी अल्प होता है। सामयिक बोध में युग को समग्रत: पकड़ पाना संभव नहीं होता जबकि युगबोध में यूग को समग्रत: पकड़ पाना सम्भव होता है। सामयिक बोध का क्षेत्र भी सीमित होता है और वह युगबोध में ही अन्तर्मुक्त रहता है।

युगबोध को ही हम आधुनिक बोध भी कह सकते हैं क्योंकि प्रत्येक साहित्य-

कार का युगबोध उसके युग का आधुनिक बोध ही होता है। सामयिकता चूंकि अल्पकालीन होती है अतः वह शीघ्र ही समाप्त हो जाती है जबकि युग का प्रभाव आगे बढ़ता ही रहता है। साहित्यकार की प्रतिभा उस प्रवाह को जिस सीमा तक पकड़ पाती है वही उसके युगबोध की सीमा है, और उसी पर उसके साहित्य की आयु निर्भर रहती है।

साहित्य, सामयिकता और युगबोध

साहित्य का सामयिकता और युगबोध से बड़ा गहरा सम्बन्ध है। साहित्य में ही युगविशेष की संपूर्ण गतिविधियों और सामाजिक तथा राजनैतिक परिस्थितियों एवं चिन्ताधाराओं का स्वरूप अंकित रहता है। चूंकि विविध समस्याओं के उद्घाटन से ही साहित्य की लोकप्रियता बढ़ती है अतः श्रेष्ठ रचनाकार अपनी रचनाओं में समसामयिक समस्याओं पर प्रकाश अवश्य डालता है। कहा भी गया है कि साहित्यकार वही महान होता है जो युगीन अनुभूतियों का विश्लेषण तथा स्पष्टीकरण ज्यादा अच्छे ढंग से करता है।

साहित्य अनुभूति की अभिव्यक्ति है। अनुभूति युग से प्रभावित होती है। साहित्यकार इसी युग की अनुभूति को ही अपनी प्रतिभा द्वारा साहित्य के माध्यम से प्रकट करता है। साहित्य सृजन के लिए युग और व्यक्तित्व इन दो का महत्वपूर्ण योग आवश्यक होता है। सृजन की सामग्री कवि को दो स्रोतों से प्राप्त होती है, एक तो 'स्व' से और दूसरी 'समष्टि' से। 'स्व' उसे भावना, कल्पना, अनुभूति, प्रेरणा और चेतना प्रदान करता है। 'समष्टि' उसे परिप्रेक्ष्य, परिवेश और वातावरण देती है। दोनों स्रोतों को एकरस बनाने में सृजक की प्रतिभा, महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करती है। 'स्व' स्वयं व्यक्ति है और समष्टि उसके आसपास बिखरा, फैला समाज। कैसा भी मनोबली साहित्य साधक हो, हर दशा में अपने समय के समाज से होकर गुजरता है और उस गुजरने में ही समष्टि के साथ 'स्व' का आदान-प्रदान और समझौता हो जाता है।

चूंकि विभिन्न युगों की परिस्थितियाँ एक-सी नहीं हुआ करतीं अतः विभिन्न युगों का साहित्य भी एक-सा नहीं होता। कोई भी नया साहित्य क्यों लिखा जाता है, इसका कारण है परिस्थितियों में परिवर्तन होना। और परिस्थितियों में यह परिवर्तन होता है सामाजिक सम्बन्धों के कारण। इसीलिए हमें प्रत्येक युग में एक नये साहित्य की आवश्यकता महसूस होती है। प्रत्येक युग का साहित्य अपनी अलग सार्थकता रखता है। प्रो० सिद्धेश्वर प्रसाद के शब्दों में—"प्रत्येक युग के महान् कलाकार ने इन नये सामाजिक सम्बन्धों के अनुरूप हमारी रागात्मिका

वृत्ति को समृद्ध करने का प्रयत्न किया है। ऐसा कलाकार न सिर्फ हमारे जीवन को रसमय बनाता है, बल्कि बोध-वृत्ति को सुदृढ़ आधार देकर वह हमें जीवन-संघर्ष के लिए अधिक सक्षम भी बनाता है।"[55]

अतः उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट ही है कि काव्य के निर्माण और उसके स्वरूप के सम्यक् ज्ञान के लिए युग का ज्ञान आवश्यक होता है। डा० बी० लक्ष्मय्या शेट्टी के शब्दों में—"प्रत्येक कलाकार युगीन समाज में अपनी स्थिति को सुदृढ़ करने के लिए सचेष्ट होता है और इस प्रक्रिया में उसे जाति, स्थिति और काल तीनों से सहयोग मिलता है। जाति के तात्पर्य तत्कालीन समाज; स्थिति से तात्पर्य राजनैतिक, सामाजिक अवस्था और काल से तत्कालीन जातीय विकास की विशेषता से है। अतः यह कहा जा सकता है कि किसी युग की परि-स्थितियाँ ही उस युग के स्वरूप को स्थिर करती हैं और वे ही कवियों को नयी अनुभूतियाँ, नयी विचारधाराएँ और नयी भावनाएँ प्रस्तुत करके काव्य को युग से सम्बन्धित कर देती हैं।"[56]

साहित्य दो तरह का होता है—अल्पजीवी और दीर्घजीवी। अल्पजीवी साहित्य वह है जिसमें मात्र सामयिक परिस्थितियों तथा जीवन की जटिलताओं का चित्रण रहता है, जबकि दीर्घजीवी साहित्य वह होता है, जिसमें पूरे युग की संवेदना प्रकाशित होती है। सामयिक आन्दोलन के संदर्भ में लिखे गये प्रचारात्मक साहित्य तथा सुधारवादी संस्थाओं के उद्देश्यों को उद्घोषित करने वाले साहित्य अल्पजीवी साहित्य की कोटि में आयेंगे। मैथिलीशरण गुप्त रचित 'भारत-भारती' तथा माखनलाल चतुर्वेदी की अधिकांश कविताएँ भी इसी कोटि में आएँगी। राष्ट्रीय आन्दोलन के समर्थन में लिखी मुशी प्रेमचंद और उनके समसामयिक उपन्यासकारों की अनेक लोकप्रिय रचनाओं में चूंकि सामयिक-बोध की ही अभिव्यक्ति है अतः इनकी भी गणना अल्पजीवी साहित्य की कोटि में ही की जायेगी। दीर्घजीवी साहित्य में पूरे युग की संवेदना प्रकाशित होती है और इसे प्रकाशित करने का कार्य युगबोध करता है। लेकिन इसके प्रकाशन के लिए कोरी भावुकता ही नहीं बल्कि बौद्धिक चिन्तन भी अपेक्षित है, जिसके अभाव में संवेदनात्मक दृष्टि ला पाना असंभव-सा होता है। 'युग' बोध का कवि परम्परा से जुड़े रहने पर भी उसे अस्वीकार करता है। जीवन को प्रभावित करने वाली शक्तियों के दबाव के सामने न झुकने का संकल्प लेकर वह अपनी सृष्टि में रत होता है। समय की दमघोंट परिस्थितियों से गुजरता हुआ वह जो कटु अनुभव अर्जित करता है उससे इसकी नजर इतनी तेज हो जाती है कि जीवन के सहज प्रवाह को रोकने वाली प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष सभी शक्तियों को वह शीघ्र ही पहचानकर उनकी तीखी आलोचना करता है। इस क्रम में उसे संघर्ष की प्रक्रिया से भी गुजरना पड़ सकता है; जिससे उसकी भोगी हुई जिन्दगी में आयी

टकराहटों से उसके काव्य में एक विशिष्ट ऊर्जा की सृष्टि होती है, जिसके आलोक में युगीन-मूल्य आकार ग्रहण करते हैं।

सामयिक बोध और युगबोध का अन्तर उनमें चित्रित मूल्यों के आधार पर भी होता है। समसामयिक साहित्य के मूल्य अल्पजीवी और युगीन साहित्य के मूल्य अपेक्षाकृत दीर्घजीवी होते हैं।

सूर, तुलसी इत्यादि भक्तिकालीन कवियों का साहित्य युगीन साहित्य है। इसमें युग के प्रवाह की पकड़ बहुत दूर तक है। तुलसी का मानस आज भी उतना ही लोकप्रिय है जितना पहले था।

महाकवि सूर के सम्बन्ध में भी यही बात लागू होती है। उनमें युगबोध अथवा तत्कालीन आधुनिक बोध को पकड़ने की प्रतिभा थी। यही कारण है कि उनके पदों को इतनी लम्बी उम्र मिली।

संदर्भ

1. देखिये—भारतीय संस्कृति का विकास (वैदिक धारा)—डा० मंगल देव शास्त्री, पृ० 3-4।
2. ब्रज का सांस्कृतिक इतिहास (प्रथम भाग)—प्रभुदयाल मीतल, पृ० 83।
3. भारतीत साधना और सूर साहित्य—डा० मुंशीराम शर्मा, पृ० 369।
4. भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास—डा० सत्यकेतु विद्यालंकार, पृ० 19।
5. भारतीय संस्कृति—डा० बलदेव प्रसाद मिश्र, पृ० 4।
6. कला और संस्कृति—वासुदेव शरण अग्रवाल, पृ० 3।
7. सूर और उनका साहित्य—डा० हरवंश लाल शर्मा, पृ० 394।
8. भारतीय संस्कृति—शिवस्वरूप सहाय, पृ० 6।
9. भारतीय संस्कृति—डा देवराज, पृ० 21।
10. उद्धृत—मानव संस्कृति—भगवानदास केला, पृ० 25।
11. हमारी सांस्कृतिक एकता—रामधारी सिंह दिनकर, पृ० 4।
12. लेख—आज का नवलेखन और सांस्कृतिक विघटन—डा० नगेन्द्र (धर्मयुग, 2 जून, 1968)।
13. साहित्य शास्त्र—डा० रामकुमार वर्मा, पृ० 129।
14. उद्धृत—भारतीय संस्कृति की रूपरेखा—डा० पृथ्वी कुमार अग्रवाल, पृ० 7।

15. Primitive Culture—E. B. Taylor. Page-1.
16. Experience and Culture—Rudolph R. Weingarthner, page 72-73.
17. सोसाइटी—मैकाइवर तथा पेज ।
18. दि माइंड आफ प्रिमिटिव मैन-फ्रेंज बोआस, पृ० 159 ।
19. दि वेज़ आफ मैन—जोह्न गिल्लिन, पृ० 178 ।
20. मानक हिन्दी कोश—सम्पा० रामचन्द्र वर्मा, पाँचवाँ भाग, पृ० 277 ।
21. सांस्कृतिक भारत, भगवतशरण उपाध्याय, पृ० 12 ।
22. भारतीय संस्कृति और सभ्यता—प्रसन्नकुमार आचार्य ।
23. संस्कृति का दार्शनिक विवेचन—डा० देवराज, पृ० 167 ।
24. हिन्दी साहित्य कोश, भाग 1, सम्पा०—धीरेन्द्र वर्मा, पृ० 868, 869 ।
25. ब्रज का सांस्कृतिक इतिहास (भाग एक)—प्रभुदयाल मीतल, पृ० 83 ।
26. भारतीय संस्कृति—प्रो० शिवस्वरूप सहाय, पृ० 6 ।
27. वैदिक संस्कृति और सभ्यता—डा० मुंशीराम शर्मा, पृ० 15-16 ।
28. भारतीय संस्कृति और कला—वाचस्पति गैरोला, पृ० 82 ।
29. हमारी सांस्कृतिक एकता—दिनकर, पृ० 1 ।
30. अशोक के फूल—हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० 83 ।
31. विचार और वितर्क—हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० 131 ।
32. देखिये—सांस्कृतिक भारत, भगवतशरण उपाध्याय, पृ० 12 ।
33. Understanding Society—Odhem, page 15.
34. वैदिक संस्कृति और सभ्यता—डा० मुंशीराम शर्मा, पृ० 17 ।
35. संस्कृति : मानव कर्तृत्व की व्याख्या, यशदेव शल्य, पृ० 117 ।
36. शांतिनिकेतन से शिवालिक तक—सं० डा० शिवप्रसाद सिंह, डा० त्रिभुवन सिंह का लेख, पृ० 85 ।
37. भारतीय संस्कृति और कला—वाचस्पति गैरोला ।
38. उद्धृत—मानव संस्कृति—भगवानदास केला, पृ० 116 ।
39. वही, पृ० 116 ।
40. आलोचना—जनवरी 1954 लेख-कला, सौंदर्य और संस्कृति—हंसकुमार तिवारी ।
41. मानव संस्कृति—भगवानदास केला, पृ० 108 ।
42. वैदिक संस्कृति और सभ्यता—डा० मुंशीराम शर्मा ।
43. हिन्दी साहित्यकोश—सम्पा० धीरेन्द्र वर्मा, पृ० 247 ।
44. दि आक्सफोर्ड इंग्लिश डिक्शनरी—वाल्यूम दो, पृ० 847 ।
45. वही, पृ० 847-848 ।

46. वही।
47. वही।
48. भारतीय संस्कृति और सांस्कृतिक चेतना—डा० रामखेलावन पाण्डेय, पृ० 8।
49. 'चिंतन'—शोध वार्षिकी, मार्च 1978, सम्पा० डा० माधवप्रसाद पाण्डेय, (लेख—'संस्कृति, परिभाषा और व्याप्ति', डा० रामदेव शुक्ल)।
50. भारतीय संस्कृति—गुलाबराय, पृ० 190।
51. विविध बोध : नए हस्ताक्षर—डा० हुकुमचंद राजपाल।
52. उद्धृत, विविधबोध : नए हस्ताक्षर—डा० हुकुमचंद राजपाल।
53. आधुनिक हिन्दी—मराठी नाटकों में युगबोध—डा० मदन मोहन भारद्वाज, पृ० 3।
54. विविध बोध : नए हस्ताक्षर—डा० हुकुमचंद राजपाल।
55. साहित्य का मूल्यांकन, प्रो० सिद्धेश्वर प्रसाद।
56. सूरसागर में प्रतीक योजना—डा० वी० लक्ष्मय्या सेट्टी।

2

'सूर'कालीन परिस्थितियाँ और उनकी रचनाभूमि

सूर का रचना-काल

भक्तिकाल के प्राय: सभी कवि लोलुपता विहीन तथा सांसारिक जीवन के प्रति पूर्णत: उदासीन रहे। उनका सम्पूर्ण जीवन अपने आराध्य की उपासना में ही बीत गया। स्वयं अपने तथा अपने ग्रन्थों के बारे में कुछ कहने की उन्हें जीवन-भर फुर्सत ही नहीं मिली। महाकवि सूर के सम्बन्ध में भी यही बात लागू होती है। उन्होंने अपने विषय में कहीं कुछ भी नहीं लिखा है। उनकी रचनाओं में जीवन-विषयक जो थोड़ा-बहुत उल्लेख आ गया है वह मात्र प्रसंगवश ही, और वह भी ऐसा कि उसके आधार पर कोई निश्चित निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता। अत: हमें विवश होकर तत्कालीन लेखकों, इतिहासकारों तथा स्वयं कवि के सम्बन्ध में प्रचलित किंवदंतियों का सहारा लेना पड़ता है।

सूर की जन्म-तिथि का उल्लेख उनकी किसी भी रचना में नहीं है। सूर-सारावली की पद संख्या 1002 में उल्लिखित आयु सम्बन्धी एक पंक्ति तथा 'साहित्यलहरी' के 'मुनि-पुनि रसन के रस लेख' वाले पद के आधार पर कुछ विद्वानों ने इनकी जन्म-तिथि निश्चित करने का प्रयास किया है।

सारावली का पद है :

> गुरु परसाद होत यह दरसन सरसठ बरस प्रवीन।
> सिव विधान तप कियौ बहुत दिन तऊ पार नहि लीन।।

इस पद के आधार पर विद्वानों ने इसकी रचना के समय सूरदास की आयु 67 वर्ष की मानी है। पर ऐसा मानने में कुछ विद्वानों को आपत्ति है। आचार्य

पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र का अनुमान है कि—" 'सरसठ' शब्द मुद्रणदोष से हिन्दी साहित्य के समालोचकों को चक्कर में डाले हुए हैं। यदि कोई संख्या ही यह हो तो भी ऐसी संख्या होनी चाहिए जो सामान्यतया ऐसे प्रसंगों में आती है। यदि ऐसा होता कि गुरु की कृपा से युगलमूर्ति के दर्शन अनेक वर्षों तक होते हैं तो यह माना जाता है कि 'सरसठ' के स्थान पर 'सत सत' पाठ है। 'सरसठ' को यदि 'सरसत' मानें और उसका संख्यावाची अर्थ लें तो '105' अर्थ कुछ संगत निकलता है।[1] लेकिन मेरे विचार से मात्र अनुमान के आधार पर निष्कर्ष निकालना उपर्युक्त नहीं लगता।"

इसी प्रकार डा० मुंशीराम शर्मा का अनुमान है कि इन पंक्तियों के कुछ पहले व पश्चात् आयी हुई पंक्तियों को साथ पढ़ने से उपर्युक्त पंक्तियाँ 'सूरसारावली' की रचना के समय की नहीं मालूम होतीं। आचार्य जी से दीक्षित होने पर सूरदास जी को जब श्रीकृष्ण जी के दर्शन हुए थे तब की लिखी मालूम होती हैं, वे पीछे से सारावली में संग्रहीत कर ली गई होंगी।[2] आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी जी ने इस मान्यता का खण्डन किया है। उनका कहना है कि ऐसे महत्वपूर्ण पद का उल्लेख सूर-आचार्य-मिलन का वर्णन करने वाले एकमात्र प्रामाणिक ग्रन्थ 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' में अवश्य होना चाहिए था जबकि उसमें इसका उल्लेख नहीं है। वार्ता में आचार्य जी की विशेष कृपा होने पर सूरदास जी को दो अवसरों पर भगवद्लीलाओं के दर्शन होने तथा उस अवसर पर गाये गये पदों का स्पष्ट उल्लेख है। लेकिन उसमें सारावली की इन पंक्तियों का कहीं भी उल्लेख नहीं है।[3] ऐसी स्थिति में तथा अन्य पुष्ट प्रबल प्रमाणों के अभाव में इसे सारावली की रचना के समय का ही मानना उचित है और इस आधार पर सूर की आयु सारावली की रचना के समय 67 वर्ष की सिद्ध होती है।

दूसरा पद 'साहित्यलहरी' का है, जो इस प्रकार है :

मुनि पुनि रसन के रस लेख।
दसन गौरीनंद को लिखि सुबल संबल पेख॥
नंद-नंदन मास छै ते हीन तृतिया बार।
नंद-नंदन जनमते हैं बान सुख आगार॥
तृतिय रिच्छ सुकर्म जोग विचारि सूर नवीन।
नंद-नंदनदास हित साहित्य लहरी कीन॥

इस पद में 'रसन' शब्द अत्यन्त विवादास्पद है। आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल रसना का अर्थ रस से हीन अर्थात् शून्य मानकर 'साहित्य-लहरी' का निर्माण-काल सं० 1607 निश्चित करते हैं।[4] कोई विद्वान रसन का प्रमुख कार्य वाक् अर्थात् एक मानते हुए साहित्य-लहरी को सं० 1617 की रचना मानते हैं। लेकिन डा० मुंशीराम शर्मा ने रसना का अर्थ उसके कार्यानुसार दो अर्थात् स्वाद

और वाक् मानते हुए इसका निर्माणकाल संवत् 1627 सिद्ध किया है। शर्मा जी ने पद में उल्लिखित सुबल-सम्वत को वृषभ-संवत् का पर्यायवाची मानते हुए इसे संवत् 1627 में ही होना निश्चित किया है।[5] लेकिन मात्र पर्याय के आधार पर निष्कर्ष निकालना उचित नहीं है। साहित्य-लहरी के पद में उसकी समाप्ति के दिन वैशाख की अक्षयतृतीया, रविवार, कृतिका नक्षत्र और सुकर्म-योग लिखा है। गणना करने पर यह दिन संवत् 1607 अथवा 1627 की अपेक्षा 1617 में ही आता है। अतः हमें साहित्यलहरी का रचनाकाल संवत् 1617 ही मानना चाहिए।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने साहित्यलहरी और सूर-सारावली को लगभग एक साथ अर्थात् संवत् 1617 की रचना मानते हुए सूरदास का जन्म 67 वर्ष पूर्व अर्थात् संवत् 1540 माना है।[6] परन्तु उन्होंने इसका कोई प्रमाण नहीं प्रस्तुत किया है कि दोनों ग्रंथ एक साथ कैसे लिखे गये। अतः बिना पुष्ट प्रमाण के ऐसा मानना उपयुक्त नहीं है।

अन्तः साक्ष्य के आधार पर सूर का जन्मकाल न ज्ञात हो सकने पर विद्वानों ने वहिसाक्ष्यों का सहारा लिया।

पुष्टि सम्प्रदाय की मान्यतानुसार सूरदास जी वल्लभाचार्य जी से 10 दिन छोटे थे। पुष्टि सम्प्रदाय में आज भी सूर का जन्म दिवस वल्लभाचार्य के जन्म-दिवस से 10 दिन बाद मनाया जाता है। अनेक प्राचीन कथनों से भी इसकी पुष्टि होती है। सूर के ही समकालीन गोसाईं गोकुलनाथ जी ने अपनी 'निज-वार्ता' में लिखा है कि :

"सो सूरदास जी जब श्री आचार्य जी महाप्रभु को प्रागट्य भयौ है, तब इनकौ जन्म भयौ है। सो श्री आचार्य जी सों ये दिन दस छोटे हते।"

श्री द्वारकेश जी ने अपने 'भाव-संग्रह' में भी ऐसा ही उल्लेख किया है—"सो सूरदास जी आचार्य जी महाप्रभून तें दस दिन छोटे हतें।"

श्री वल्लभाचार्य जी के वंशज गोपिकालंकार भट्ट जी का भी एक पद इसी प्रकार है जिसके अनुसार सूरदास का जन्म माधव मास के शुक्ल पक्ष की पंचमी, उपरान्त षष्ठी के दिन होना सिद्ध होता है :

प्रगटे भक्त शिरोमनि राय।
माधव शुक्ला पंचमि ऊपर छठ्ठ अधिके सुखदाय ॥

सम्प्रदाय की मान्यता के अनुसार आचार्य जी का जन्म संवत् 1535 वैशाख-कृष्णपक्ष 10 उपरान्त 11, रविवार है, अतः इस आधार पर सूरदास जी का जन्म ठीक इसके 10 दिन बाद संवत् 1535, वैशाख, शुक्ल पक्ष, 5, मंगलवार होना निश्चित होता है।

'जन्म-संवत्' की तरह ही सूर का निधन-संवत् भी अत्यन्त विवादग्रस्त है।

है। संवत् 1620 से लेकर संवत् 1642 तक का लम्बा समय इनका निधन संवत् माना जाता है। आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल तथा श्री नलिनी मोहन सान्याल ने सूर का जन्म संवत् 1540 मानते हुए अनुमान से 80-82 वर्ष की आयु मानकर संवत् 1620 में इनका निधन माना है। जबकि डा० मुंशीराम शर्मा ने अनेक प्रमाणों के आधार पर सूर का जीवन-काल संवत् 1628 तक सिद्ध किया है।[7]

श्री प्रभुदयाल जी मीतल अनेक तर्क प्रस्तुत करते हुए सूर की उपस्थिति सं 1640 तक स्वीकार करते हैं। आपने कृष्णदास का वसन्त-क्रीड़ा का एक पद उद्धृत किया है जिसमें अष्टछाप के खिलाड़ियों में सूरदास का भी नाम है और साथ ही गोसाई जी के पुत्र घनश्याम जी का भी। घनश्याम जी की जन्म-तिथि संवत् 1628 है। वसंत-क्रीड़ा के समय इनकी आयु कम-से-कम दस वर्ष अवश्य रही होगी। अतः सूर संवत् 1638 तक अवश्य जीवित थे। इसी तरह आपने राजभोग वाला भी एक पद उद्धृत किया है जो नवनीतप्रिया के राजभोग के समय गाया गया था। चूंकि यह राजभोग सादे जेवनार के रूप में सं० 1640 में हुआ था, अतएव सूरदास जी सं० 1640 तक उपस्थित थे।[8]

इस तरह सूर का निधन संवत् 1620 से लेकर संवत् 1640 तक माना जाता है। संवत् 1620 का मत शुद्ध अनुमान पर आधारित है। इसके बाद सूर का निधन कब हुआ यह नहीं कहा जा सकता। अतः प्रबल और पुष्ट प्रमाणों के अभाव में हम यही कह सकते हैं कि सूर का निधन संवत् 1620 से लेकर संवत् 1640 के बीच किसी समय हुआ।

अपने इस लम्बे जीवन-काल में सूर ने अनेक ग्रन्थों का प्रणयन किया। अब तक इनके नाम से लिखे हुए लगभग 25 ग्रन्थों की खोज हो चुकी है। लेकिन इनमें से अधिकांश तो सूरसागर के पदों के ही संग्रह हैं। कुछ अन्य कवियों की रचनाएँ हैं जो भ्रमवश सूर द्वारा ही रचित मान ली गई हैं। सूर द्वारा रचित केवल तीन ही ग्रन्थ हैं—सूरसागर, सूरसारावली और साहित्यलहरी। डा० व्रजेश्वर वर्मा प्रभृति विद्वानों ने तो केवल सूरसागर को ही प्रामाणिक माना है, लेकिन आधुनिक खोजों के आधार पर यह सिद्ध हो चुका है कि ये तीनों ही रचनाएँ महाकवि सूरदास की हैं।

इनमें से कवि की प्रथम रचना सूरसागर है जो कवि द्वारा अपने लम्बे जीवन-काल में हरिलीला के रूप में गाए गए विशाल पदों का संग्रह है। पदों की संख्या के सम्बन्ध में स्वयं कवि ने लिखा है :

'ता दिन तें हरि लीला गाई एक लक्ष पद बन्द।'[9]

यही नहीं, वार्ताकारों ने तो सवा लाख पदों तक की चर्चा की है—"सो तब

सूरदास जी मन में विचारे, जो मैं तो मन में सवा लाख कीर्तन प्रकट करिबे को संकल्प कियौ है। तो तामे तें लाख कीर्तन तो प्रकट भये हैं, सो भगवत् इच्छा तें पच्चीस हजार कीर्तन और प्रकट करने हैं।"[10]

कहते है कि इन पच्चीस हजार पदों की पूर्ति स्वयं श्रीनाथ जी ने की थी।

यद्यपि 'शिवसिंह सरोज' में सूर द्वारा रचित 60 हजार पदों का उल्लेख है लेकिन अभी तक केवल 8-10 हजार पद ही प्राप्त हुए हैं।

छह वर्ष की अल्पायु में ही गृह त्याग कर सूरदास जी चार कोस की दूरी पर एक गाँव में रहने लगे थे, जहाँ अपने भक्तों और सेवकों को विनय के पद सुनाया करते थे। यह क्रम 18 वर्ष की आयु तक चलता रहा। इस दीर्घकाल में उन्होंने अनेक पदों की रचना कर ली। 18 वर्ष से 31 वर्ष की अवस्था तक सूरदास जी गऊघाट पर रहे। वहाँ भी निःसन्देह उन्होंने अगणित पदों की रचना की होगी। इसके पश्चात् लगभग 70-72 गर्ष के साम्प्रदायिक जीवन में भगवान की लीला के विषय में उन्होंने इतने पद रचकर गाये होंगे कि जिनकी गणना करना भी असम्भव है। डा० हरवंशलाल शर्मा के मत से "कालान्धकार की घोर कालिमा के स्तरों के नीचे सूर के न जाने कितने पद दब गये होंगे, जो आज अलभ्य हैं परन्तु उनकी उपलब्धि के अभाव में, उनकी संख्या के विषय में उन्मुक्त अनुमान लगाना अनुचित है।"[11]

कवि की दूसरी महत्त्वपूर्ण रचना 'सूर सारावली' है। यह 1107 पदों का संग्रह है, जिसमें पूर्ण पुरुष से होली खेलने का रूपक प्रस्तुत किया गया है। इसकी रचना सूरदास जी ने 67 वर्ष की अवस्था में की।

सूर की तीसरी रचना 'साहित्यलहरी' है। साहित्यलहरी 118 पदों का संग्रह है। यह दृष्टिकूट शैली की रचना है जिसमें रस, अलंकार और नायिका-भेद का वर्णन है। इस ग्रन्थ के सम्बन्ध में विचार व्यक्त करते हुए डा० दीनदयालु गुप्त ने कहा है कि—" 'साहित्यलहरी' सूरदास के दृष्टिकूट पदों का ग्रन्थ है, जिसका संकलन सूर के जीवन-काल में हो गया था। इसकी रचना के बाद भी सूर ने 'सूरसागर' में दृष्टिकूट पद लिखे और उनको छाँटकर लोगों ने बाद को मूल साहित्यलहरी में मिला दिया।"[12]

इसके रचनाकाल को लेकर विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है, जिसकी चर्चा पीछे की जा चुकी है।

महाकवि सूर ने अपने सम्पूर्ण जीवन-काल में सहस्रावधि पदों की रचना की की। उनका सारा जीवन श्रीनाथ जी की कीर्तन सेवा करते हुए ही व्यतीत हुआ। यहाँ तक कि लीलागान करते हुए उनकी इहलीला भी समाप्त हुई।

सूर के व्यक्तित्व निर्माण में सहायक आरम्भिक परिस्थितियाँ

व्यक्तित्व से तात्पर्य किसी मनुष्य की उन विशेषताओं से है, जिसके आधार पर उसे अन्य लोगों से पृथक् किया जा सकता है। शारीरिक भिन्नता के साथ ही प्रत्येक मनुष्य में व्यवहार, बुद्धि और विचार की भी भिन्नता होती है। इन सभी भिन्नताओं का मूल कारण है मनुष्य का वह समाज जिसमें वह जन्म लेता है तथा जीवन व्यतीत करता है। प्रत्येक व्यक्ति का जन्म, उसका पालन-पोषण, दूसरे से भिन्न स्थिति में होता है। साथ ही उसका सामाजिक पर्यावरण भी दूसरे से अलग होता है। इनके प्रभाव के फलस्वरूप मनुष्य की प्रवृत्ति, बुद्धि, विचार व व्यवहार का जो स्वरूप संगठित होता है, वही दूसरे शब्दों में व्यक्तित्व है।

व्यक्तित्व का निर्माण पूर्वजन्म के संस्कारों और इस जन्म की परिस्थितियों पर अवलंबित रहता है। व्यक्ति के जन्म, उसके पालन-पोषण, वंश, परिवार, माता-पिता तथा तत्कालीन परिस्थितियों का उसके व्यक्तित्व निर्माण में प्रमुख योगदान रहता है।

सूर के व्यक्तित्व निर्माण में भी पूर्व-जन्म के संस्कारों और इस जन्म की परिस्थितियों का प्रभाव पड़ा।

यदि साहित्यलहरी के वंश-परिचय वाले पद 'प्रथम ही पृथु जाग ते थे प्रकट अद्भुत रूप' को प्रामाणिक माना जाए तो सूर ऐसे उच्च वंश में पैदा हुए थे जिसमें कभी पृथ्वीराज के दरबारी तथा राज कवि चन्दबरदाई का जन्म हुआ था। अर्थात् कवित्व शक्ति इन्हें वंश-परम्परा से ही मिली। लेकिन कवि का प्रारम्भिक जीवन अनेक संकटों में बीता।

सूरदास जी का जन्म दिल्ली से चार कोस दूर सीही नामक ग्राम में एक निर्धन सारस्वत ब्राह्मण के यहाँ हुआ। जन्म से ही ये अन्धे थे। दरिद्रता तथा अन्धता के कारण ये तिरस्कृत तथा उपेक्षित रहे। माता-पिता का समुचित लाड़-प्यार भी इन्हें न मिल सका। इस सम्बन्ध में इनके पिता का यह कथन द्रष्टव्य है :

"जो देखो—एक तो विधाता ने हमको निष्कंचन कियौ, और दूसरे घर में ऐसो पुत्र जन्म्यौ। जो अब याकी कौन तो टहल करैगौ और कौन याकी लाठी पकरैगौ।"[13] इसलिए माता-पिता तथा घर के और लोग इनसे प्रेम नहीं करते थे और इनके अन्धे होने के कारण कोई इनसे बोलता तक नहीं था।

एक बार इनके पिता को कहीं से दो मुहरें प्राप्त हुई जिसे रात में चहे उठा ले गये। सुबह मुहरें न पाकर इनके पिता विलाप करने लगे। सूर ने समझाया कि भगवान का सुमिरन करो, सब भला होगा। तब इनके माता-पिता बोले :

"जो तू ऐसी घड़ी कौ सूर जन्म्यौ है, सो हमको वाही दिन सों दुःख ही में जनम बीतत है। जो हमको काहू दिन सुख नांही भयौ और हमको भर पेट अन्नहू

नांही मिलत हो ।"[14]

माता-पिता के इस प्रकार के कथन से सूर को बहुत कष्ट पहुँचा। इससे उनमें हीनता-ग्रन्थि उत्पन्न हुई जो निश्चय ही अत्यन्त जटिल तथा कटु रही होगी। इस ग्रन्थि ने ही उन्हें घर से चले जाने के लिए बाध्य किया। और 6 वर्ष की अवस्था में ही वे गृह त्यागकर सीही से चार कोस दूरी पर स्थित एक पेड़ के नीचे तालाब के किनारे जाकर रहने लगे। वहाँ ये ज्योतिषी बनकर लोगों को शकुन बताने लगे। चूँकि इनके बताये शकुन ठीक निकलते थे अतः इनकी वहाँ काफी प्रतिष्ठा बढ़ी और तमाम लोग इनके शिष्य भी हो गये। अब सूरदास जी 'स्वामी' कहलाने लगे। यहाँ अपने सेवकों को विनयादि के पद गाकर सुनाया करते थे। इससे उनकी अपनी हीनता-ग्रन्थि का कुछ शमन हुआ। लेकिन एक दिन अचानक उनके मन में वैराग्य उत्पन्न हो गया कि मैं तो घर से निकला था भगवान के भजन हेतु, और यहाँ आकर माया-मोह में फँस गया।

अतः ज्योतिषी की मिथ्या प्रतिष्ठा के जाल को छोड़कर निरन्तर साहित्यिक साधना करने के लिए ये ब्रज की ओर चल पड़े। लेकिन मथुरा में विश्रामघाट पर पहुँचकर उन्होंने विचार किया कि यहाँ रहने से तो मेरा महात्म्य ही बढ़ेगा और हो सकता है मैं दुबारा माया-मोह में फँस जाऊँ। अतः यह विचार कर सूरदास आगरा और मथुरा के बीच गऊघाट नामक स्थान पर आकर रहने लगे। यहाँ रहते हुए ये नित्य विनय आदि के पद गाया करते और साथ ही विद्याध्ययन और संगीत-साधना भी किया करते थे। यहाँ ये लगभग 12 वर्ष तक रहे। तभी एक समय अड़ैल से ब्रज जाते समय वल्लभाचार्य जी गऊघाट पर पधारे। वहाँ सूर की ख्याति सुनकर उन्होंने मिलने की इच्छा प्रकट की। सूरदास जी ने भी आचार्य जी के पांडित्य एवं दिग्विजय की प्रशंसा सुन रखी थी। अतः ये आचार्य जी के दर्शनार्थ पहुँचे। आचार्य जी ने इनसे कुछ गाने को कहा। सूरदास जी ने विनय के दो पद सुनाये—'हौं हरि सब पतितन कौ नायक' तथा 'प्रभु हौं सब पतितन कों टीकौ।' जिसे सुनकर महाप्रभु ने कहा—सूर होकर ऐसे घिघियाते क्यों हो, कुछ भगवद्लीला का वर्णन करो। तब सूरदास जी ने कहा कि महाराज हमें तो कुछ मालूम ही नहीं है। तब आचार्य जी ने उन्हें सम्प्रदाय के अनुसार दीक्षा दी तथा दशमस्कन्ध की अनुक्रमणिका भागवत की स्वरचित 'सुबोधिनी' टीका और पुरुषोत्तम सहस्रनाम सुनाया, जिसे सुनकर सूर को सम्पूर्ण लीलाओं का ज्ञान हुआ तथा उनके हृदय में प्रेम-लक्षणा भक्ति स्थापित हुई।

वल्लभाचार्य के मिलन से सूर के व्यक्तित्व में एक नया मोड़ा आया। उनके व्यक्तित्व को एक निश्चित भावदिशा मिली तथा उन्हें अपनी हीनताग्रस्त चेतना को गौरवमय बनाने में सहायता मिली। और इस प्रकार उनकी पलायनवादी वृत्ति में स्थिरता आ गयी।

वल्लभाचार्य जी सूरदास को अपने साथ गोकुल ले आये और वहाँ उन्हें नवनीतप्रिय जी का दर्शन कराया। आचार्य जी ने भगवत की सम्पूर्ण लीलाओं की स्थापना सूर के हृदय में कर दी। यहाँ श्रीकृष्ण की बाल-लीलाओं के स्थल पर आकर सूर ने उनसे प्रभावात्मक तादात्म्य स्थापित किया, जिससे उन्हें बाल-साहित्य लिखने की प्रेरणा तथा स्फूर्ति मिली।

गोकुल में कुछ दिन रहने के पश्चात् आचार्य जी ब्रज पधारे, जहाँ सूरदास जी को श्रीनाथ जी का दर्शन कराया। यहाँ भी सूरदास जी ने अनेक पद गाकर सुनाये जिसे सुनकर आचार्य जी प्रसन्न हुए तथा उनको श्रीनाथ जी की कीर्तन सेवा का भार सौंप दिया। यहाँ सूरदास जी ने गोवर्धन के समीप पारसौली ग्राम को अपना निवास स्थान बनाया जहाँ रहकर ये नित्यप्रति श्रीनाथ जी की कीर्तन-सेवा करने लगे। उनका यह क्रम जीवन के अन्तिम क्षणों तक चलता रहा। डा० वी० लक्ष्मय्या शेट्टी के शब्दों में—"श्रीनाथ जी का दर्शन सूर के लिए भगवान का साक्षात्कार ही था। श्रीनाथ जी धीरे-धीरे सूर के भ्रमित व्यक्तित्व के आकर्षण केन्द्र बने। उनका साक्षात्कार कर सूर जिस भावावेश में गा उठते थे उसमें समस्त रस कोश उमड़ पड़ता था। सूर के समस्त काव्य का स्रोत श्रीनाथ जी का मंदिर ही रहा। अतः श्रीनाथ जी का मंदिर सूर की प्रातिभ साधना का केन्द्र माना जा सकता है।"[15]

वल्लभाचार्य जी के पश्चात् गोस्वामी विट्ठलनाथ जी गद्दी पर बैठे। उनके समय तक सम्प्रदाय में माधुर्य भक्ति का प्रवेश हो चुका था। सूर ने गोस्वामी जी के सम्पर्क में आकर राधाकृष्ण की मधुर लीलाओं का गान करना शुरू कर दिया। माधुर्य भक्तिपूर्ण साहित्य सृजन की प्रेरणा सूरदास जी को गोस्वामी विट्ठलनाथ जी से ही मिली।

इन सब परिस्थितियों ने मिलकर सूर के व्यक्तित्व निर्माण में अपूर्व योग दिया। इसीलिए उनके व्यक्तित्व में हमें जीवन की सरस कल्पना, सरस भावना, दीनता, भक्ति, गर्व, अभिमान, त्याग, गम्भीरता, वैदग्ध्य आदि गुणों का सामंजस्य मिलता है।

डा० विजयेन्द्र स्नातक के शब्दों में—"सूर के व्यक्तित्व में भक्ति का आवेश प्रधान रूप से व्याप्त था—दैन्य और विनय से प्रारम्भ करके 'पोषण अनुग्रह' से होते हुए वे सख्य और वात्सल्य में लीन हुए, तदनन्तर वत्सल से आगे बढ़कर माधुर्य और श्रृंगार की सीढ़ियों से चढ़कर वे दाम्पत्य भाव या कान्ता भाव तक पहुँचे। इन सब स्थितियों में भक्ति तत्व की ही प्रधानता समझनी चाहिए, क्योंकि भक्ति की प्रबल प्रेरणा ही उनके जीवन की संचालिका शक्ति थी और वही उनका बाह्य एवं आभ्यंतर व्यक्तित्व था।"[16]

तत्कालीन सामाजिक और राजनैतिक परिस्थितियाँ

सूर का समय संवत् 1535 से संवत् 1640 माना गया है। पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त और सोलहवीं शताब्दी के मध्य भाग का यह ऐसा समय है जब देश की अवस्था अस्त-व्यस्त और विक्षुब्ध थी तथा वह अशान्ति, दुर्व्यवस्था एवं संघर्ष की स्थिति से गुजर रहा था। मुस्लिम राज्य की प्रतिष्ठा तो बहुत पहले ही हो चुकी थी। उसका आतंक-विस्तार भी देश के इस कोने से उस कोने तक हो गया था। सूर का जन्म सल्तनत काल की अवसान वेला में हुआ। उस समय देश पर लोदीवंश का शासन था। इससे भी पूर्व खिलजी तथा सैयदवंश के सुल्तानों का शासन हो चुका था। सूर के जन्म से पूर्व अर्थात् खिलजी तथा सैयदवंश के सुल्तानों के समय में देश की राजनैतिक स्थिति अत्यन्त दयनीय रही। इस बीच हिन्दू जनता के साथ कैसा व्यवहार किया गया तथा उस पर कौन से जुलम ढाये गये इसका सच्चा स्वरूप तो तब प्रकट होता जब इस काल का इतिहास किसी हिन्दू द्वारा लिखा गया होता। पर दुर्भाग्यवश किसी हिन्दू ने इस काल का इतिहास लिखने का प्रयत्न नहीं किया। फिर भी मुसलमान लेखकों के ग्रन्थों से ही तत्कालीन हिन्दुओं की दुरावस्था का अत्यन्त करुणापूर्ण चित्र मिलता है। खिलजी बादशाहों के समय में हिन्दुओं के साथ कैसा व्यवहार होता था, इसका वर्णन डा० ईश्वरी प्रसाद ने इन शब्दों में किया है :

"हिन्दुओं के साथ विशेष रूप से कड़ाई की जाती थी। दोआब में तो उनकी उपज का आधा भाग ले लिया जाता था और इतनी कड़ाई से कूत किया जाता था कि बिस्वा-भर जमीन भी नहीं छोड़ी जाती थी। पशुओं के चारागाह पर अलग ही कर लिया जाता था और घर तक भी लगान से वंचित नहीं था। हिन्दू रैयतों एवं जमींदारों के लिए घोड़े पर चढ़ना, शस्त्र बाँधना, महीन कपड़े पहनना तथा पान खाना तक मना था। राजा की नीति यह थी कि हिन्दुओं के पास इतना धन ही न रहने दिया जाए कि वे घोड़े पर चढ़ सकें—हथियार रख सकें, सुन्दर एवं महीन वस्त्र पहन सकें तथा किसी प्रकार से आराम का जीवन बिता सकें। उनकी ऐसी दुर्दशा कर दी गई थी कि किसानों और जमींदारों की बहू-बेटियाँ मुसलमानों के घर में मजदूरी का काम करती थीं।"[17]

राज्य की ओर से हिन्दुओं के प्रति तरह-तरह के कटु व्यवहार किये जाते थे। कभी-कभी तो उन्हें बलपूर्वक मुसलमान बना डालने की आज्ञा दी जाती थी। इस सम्बन्ध में अलाउद्दीन खिलजी के काजी का हिन्दुओं के सम्बन्ध में यह कथन कितना लज्जापूर्ण है :

"इस्लाम का महत्व बढ़ाना हमारा कर्तव्य है और उसका अनादर करना पाप है। इन हिन्दुओं से ईश्वर घृणा करता है और इन्हें पद्दलित करके रखने की आज्ञा देता है। हिन्दुओं की बेइज्जती करके रखना एक धार्मिक कर्तव्य है,

क्योंकि ये हमारे नबी के शत्रु हैं।"[18]

देवमंदिरों को गिराना, मूर्तियों को तोड़ना, सब प्रकार के विरुद्ध विश्वासों का हनन और काफिरों को इस्लाम में दीक्षित करना आदि इस्लामी राज्य के कर्तव्य समझे जाते थे। हिन्दुओं पर जजिया नामक कर लगाया गया था जो अपनी जिन्दगी खरीद कर मृत्यु से बचने के लिए दिया जाता था।

मुसलमान राज्यों में शाही लोगों में विलासिता का दौर था। राज्य के उच्च पदों पर मुसलमान ही प्रतिष्ठित थे। बादशाह की इच्छा ही कानून होती थी। योग्यता की कोई पूछ नहीं थी। सुल्तान की कृपादृष्टि से जिन्हें सम्पत्ति और अधिकार प्राप्त थे उनमें विलासिता और दुर्व्यसन घर कर गये थे जिसके कारण ईसा की चौदहवीं शताब्दी के अन्त में मुसलमानों में शक्ति और स्फूर्ति की अवनति होने लगी।

सल्तनतकाल में हिन्दुओं की क्या स्थिति थी, इसका वर्णन डा० ईश्वरीप्रसाद ने इस प्रकार किया है :

"इस समय हिन्दू लोग निर्धनता-दीनता और कठिनाई का जीवन व्यतीत कर रहे थे। उनकी आय उनके कुटुम्ब के लिए मुश्किल से ही काफी होती थी। विजित प्रजा के जीवनयापन का स्तर बहुत निम्नकोटि का था और राजकीय कर का भार प्रधानतया उसी को वहन करना पड़ता था। ऐसी बुरी स्थिति में उन्हें अपनी राजनीतिक प्रतिभा के परिष्कार का अवसर भी कभी न मिल सका।"[19]

यह स्थिति तो सल्तनत काल की थी। लेकिन देश में मुगलों का शासन आने पर इसमें काफी सुधार हुआ। अकबर उदार प्रकृति का सम्राट था। उसके शासनकाल में देश में एक हद तक अमन चैन था। हिन्दू जनता का क्षेत्र अकबर की मृदुलमोहक नीति के कारण शान्त होता जा रहा था यद्यपि युद्ध और संघर्ष समाप्त नहीं हुए थे लेकिन उनके स्वरूप में अन्तर आ गया था।

अकबर के पूर्व सुल्तानों के शासनकाल में हिन्दू जनता को मुसलमानों की अपेक्षा बहुत कम राजनीतिक और धार्मिक अधिकार प्राप्त थे लेकिन अकबर ने अपने शासन काल में दोनों को समान अधिकार प्रदान किये। विसेन्ट स्मिथ के शब्दों में—"उसने अपने समय में प्रचलित समस्त धार्मिक भावनाओं का समन्वय करने का प्रयत्न किया, बौद्धिक आधार पर अपनी प्रजा में धार्मिक एकता पर जोर दिया और कट्टर मुसलमानों द्वारा घोर विरोध किये जाने पर तथा मुल्लाओं द्वारा इस्लाम धर्म से च्युत होने का फतवा पाकर भी वह अपनी नीति पर अटल रहा। अपनी धार्मिक भावनाओं को मूर्तिमान रूप देने के लिए ही दीनइलाही धर्म चलाया।"[20]

इतना ही नहीं हिन्दुओं को उसने राज्य में ऊँचे पद और सम्मान भी दिये। उनके ऊपर लगाये गये जजिया तथा तीर्थ-यात्रा करों को भी उसने समाप्त कर

दिया। इससे हिन्दुओं की सामाजिक स्थिति में काफी सुधार हुआ। अकबर की कुशल शासन-व्यवस्था के कारण देश की आर्थिक स्थिति तो सुधरी लेकिन इससे विलासिता को बढ़ावा मिला और लोग अफीम तथा मदिरा आदि के नशे में डूबे रहने लगे। अर्थात् उनका जीवन विलासितामय बन गया। सूर के अनेक पदों में सांसारिक विषयों में लीन मनुष्य के विलासी जीवन की विफलता के जो मार्मिक चित्र प्रस्तुत हुए हैं वे तत्कालीन सामाजिक परिस्थिति के ही परिणाम हैं। ऐसे में आदर्श समाज की कल्पना करना ही व्यर्थ था। आचार्य हजारीप्रसादी द्विवेदी के शब्दों में—"उस युग के भारतीय समाज के सामने कोई बहुत ऊँचा आदर्श नहीं था। लोग खाते-पीते थे, रोगी या निरोग होते थे, सोते जागते थे और चार दिन तक हंसकर या रोकर मर जाते थे। जो धार्मिक प्रवृत्ति के थे वे दस बीस मन्दिर बनवा देते थे, यज्ञ-याग करके हजार पाँच सौ ब्राह्मणों और साधुओं को भोजन दिला देते थे। ऊँचे वर्ग के लोग अपनी झूठी शान में मत्त रहते थे। उनका प्रधान कर्त्तव्य था जो उस युग में धनी आदमी की शोभा समझा जाता था —विलासिता।"[21]

समाज की यह स्थिति केवल विदेशी सत्ता की परुषता के कारण ही नहीं थी अपितु उसके आन्तरिक संगठन में भी ऐसी कुरीतियाँ व्याप्त हो गई थीं, जिनसे उसका ढाँचा ही जर्जरित हो उठा था। पारस्परिक वैमनस्य, साम्प्रदायिक कट्टरता तथा छुआछूत के भूत ने हिन्दुओं को कहीं का न रखा। वर्गभेद तथा वर्णभेद भी जोरों पर था। समाज उच्च और निम्न वर्गों में विभक्त था। जहाँ उच्चवर्ग विलासिता में डूबा था वहीं निम्नवर्ग सामान्य से भी निचले स्तर पर जीवन व्यतीत कर रहा था। साथ ही उसे इन विलासियों के लिए अपने रक्त-मांस से ईंधन भी देना पड़ता था, जिससे इनकी विलासिता रूपी अग्नि प्रज्वलित होती रहे।

सम्मिलित परिवार की प्रथा होने पर भी दयनीय गृह कलह की स्थिति थी। समाज व्यवस्था का तो पूछना ही क्या ? सभी वर्ग के लोगों में दुर्गुण व्याप्त हो चुके थे। अस्पृश्यता का रोग तो पहले से ही था। अछूत कहलाने वालों के लिए देवार्चन, पूजन की मनाही थी। समाज में उन्हें सिर उठाकर चलने नहीं दिया जाता था। ब्राह्मण जाति में अनेक कुरीतियाँ घर कर गई थीं। क्षत्रियों में भी वंश विभाजन और भेदाभेद की समस्या बढ़ गई थी। इस प्रकार जातीयता की भावना का लोप हो गया था। लोग व्यक्तिगत मानापमान पर ही आपस में जूझ मरते थे। यदि समाज में कोई सुखी था तो केवल वही, जिसे शासन की कृपा प्राप्त थी।

ऐसी ही दशा में मनुष्य दीनता और विरक्ति की बात सोचता है। महाकवि सूर पर भी इन परिस्थितियों का प्रभाव पड़ा। उनके विनय के पदों में सामाजिक

परिस्थितियों से खिन्न अंतरात्मा की पुकार स्पष्ट सुनाई देती है।

नगरीय सभ्यता का विकास और अपेक्षित ग्रामीण अंचल

सभ्यता का सीधा सम्बन्ध आर्थिक उन्नति ये होता है। जो क्षेत्र आर्थिक दृष्टि से जितना ही समुन्नत होगा, सभ्यता का पूर्ण विकास वहाँ उतना ही अधिक होगा। मुस्लिम बादशाहों के युग में आर्थिक उन्नति केवल नगरों तक ही सिमट कर रह गई थी अतः सभ्यना, संस्कृति तथा कला-कौशल का पूर्ण विकास भी इन्हीं नगरों तक ही सीमित रह गया। इस युग का सम्पूर्ण कलात्मक विकास, उद्योग व्यवसाय तथा विदेशी व्यापार राजदरबार के विशिष्ट जीवन को ही प्रतिबिम्बित करता है।

प्रारम्भिक मुस्लिम शासकों का भारत पर आक्रमण करने का उद्देश्य केवल इस्लाम का प्रसार था। लेकिन अचानक सत्ता प्राप्त हो जाने पर इसे चलाना भी उनके लिए आवश्यक हो गया। फिर भी उनका प्रमुख व्यवसाय युद्ध और लूट-पाट ही रहा। यहाँ की कृषक जनता से कर वसूल करना और इस पैसे से ऐय्याशी और विलासितापूर्ण जीवन बिताना ही इनका कार्य था। इन्होंने कोई प्रगतिशील उद्योग व्यवसाय नहीं अपनाये। अर्थात् राज्य का कोई सुदृढ़ आर्थिक आधार नहीं था। लेकिन बाद के सुल्तानों ने इस दिशा में काफी प्रयास किये। सल्तनत काल में औद्योगिक स्थिति बहुत ही अच्छी थी। उद्योग व्यवसाव तथा विदेशी व्यापार बहुत बढ़े हुए थे। लेकिन आर्थिक वैषम्य भी कम नहीं था। शिल्पजीवी उत्पादकों का पूंजीपतियों द्वारा खुलकर शोषण होता था। दूसरे उन सभी उद्योग व्यवसायों का फैलाव नगरों तक ही सीमित था, जिससे भौतिक सुख-समृद्धि और विलासिता इन्हीं नगरों में ही विकसित हुई। ग्रामीण अंचल प्रायः उपेक्षित ही रहे। होती भी कैसे? राज्य का मुख्य लक्ष्य तो मुस्लिमों के ही हित की वृद्धि करना था, इससे मुस्लिम वर्ग खूब फूला-फला और उसकी उत्तरोत्तर उन्नति होती गई। ग्रामीण हिन्दू जनता की स्थिति पहले जैसा ही रही।

सल्तनत का ढाँचा भी सामन्तवादी था। अकेले सुल्तान के लिए इतने बड़े देश पर शासन चलाना संभव न था। अतः शासन की समुचित व्यवस्था के लिए विशाल सल्तनत को प्रान्तों अथवा सूबों में विभक्त कर दिया गया और इनका शासन भार शक्तिशाली अमीरों, सेना नायकों या राजवंश के ही व्यक्तियों को सौंप दिया। ये सभी सुल्तान की इच्छानुसार ही शासन की मशीन चलाते थे। अपने क्षेत्र में कर वसूल करना और युद्ध के समय स्वयं अपनी सेना सहित

उपस्थित होकर सुल्तान की सैनिक सहायता करना इनका प्रमुख कार्य था। बादशाह की कृपा दृष्टि ही इनके लिए पर्याप्त थी। प्रजा के सहयोग और समर्थन की इन्हें कोई आवश्यकता न थी। ये सभी अमीर और सामंत सुल्तान की तरह ही अनेक सुविधा सम्पन्न होते थे अत: इनका भी जीवन विलासितापूर्ण हो गया था।

शाही दरबार विलासिता के केन्द्र थे। राजदरबार में जाने पर सबसे अधिक प्रभाव जिस बात का पड़ता था वह था उसके वैभव और ऐश्वर्य का। दरबार तथा राजमहल पर करोड़ों रुपये खर्च किये जाते थे और यह सब रुपया आता था गरीब किसानों की भूमि से प्राप्त लगान के रूप में। श्री बी० एन० लुणिया के शब्दों में—"उसके बच्चों के मुँह की रोटी उसकी स्त्रियों के तन का कपड़ा छीनकर दरबार में गुलछर्रे उड़ाये जाते थे। दिन-भर परिश्रम करने वाला व्यक्ति एक वर्ष भी समय से वर्षा न होने से दुर्भिक्ष का शिकार हो जाता था, अपने बेटे और स्त्री को बेंचकर जीवन-रक्षा की चेष्टा में भी असफल होता था और उसी से प्राप्त धन से उसका सम्राट सुरा की सरिता बहाता, व्यभिचार का व्यवसाय बढ़ाता और उसके बेटों को खरीद कर मुसलमान बनाता था। जनता का धन इस्लामी आदर्श के अनुसार जनता के सुख में व्यय करने के लिए होता है। हिन्दू आदर्श व अनुसार—शासक पिता के समान है, उसका चरित्र प्रजा के लिए अनुकरणीय है और प्रजा का हित उसका कर्त्तव्य है। तैमूरी सम्राटों ने न इस्लाम के तकाजे को माना और न काफ़िरों की कार्य पद्धति को। उन्होंने जो धन कर के रूप में पाया उसे यदि वे प्रजा की उन्नति, शिक्षा के प्रचार, सड़कों के विस्तार, जहाजी बेड़े के निर्माण तथा दीन-दुखियों की सहायता में व्यय करते तो उनका यश सौ गुना अधिक होता। परन्तु मध्ययुग में इन दिशाओं में सम्राटों का ध्यान कैसे जाता।"

लोदी वंश के शासकों के समय में तो अमीरों की स्वेच्छाचारिता और उनका मनमानी शासन था। इस काल में तो ग्रामीण जनता तथा उसकी संस्कृति की बड़ी ही उपेक्षा हुई। लेकिन मुगलकाल में भी इनमें कोई विशेष सुधार न हुआ। यद्यपि बादशाह की तरफ से मुगल शासकीय अधिकारियों को यह आदेश था कि वे अधिक-से-अधिक भूमि को कृषि योग्य बनायें, कुएँ और लहरें खुदवायें, निर्धन, निराश्रित और निस्सहास कृषकों को सहायता दें, तकावी ऋण की व्यवस्था करें और कृषि तथा कृषकों की दशा सुधारने के लिए खेतीवाड़ी को प्रोत्साहित करने के लिए प्रयत्न करें। परन्तु व्यावहारिक रूप से ऐसा कम होता था।[22]

साम्राज्य के अधिकारियों का गाँवों से कोई विशेष सम्पर्क नहीं होता था। प्रान्तीय तथा स्थानीय शासकीय कर्मचारी और अधिकारी ही गाँवों में कर वसूल करते थे और कानूनगोओं, चौधरियों, मुकद्दमों, पटवारियों और जमींदारों के माध्यम

से ग्रामीणों व कृषकों पर नियन्त्रण रखते थे। दुर्भिक्ष या अन्य संकटकाल में शासन की ओर से हरसंभव सहायता देने का आदेश था लेकिन व्यवहार में ऐसा कम ही होता था। इसका कारण यह था कि शासक वर्ग तो विधर्मी ही था, वह चाहे सुल्तान हो या विभिन्न प्रान्तों के शासक-मलिक, अमीर, सरदार तथा सामंत आदि। शासन में साधारण या ग्रामीण प्रजा का प्रतिनिधि तो कोई होता नहीं था जो उनकी फरियाद सुनता। दूसरे, मुस्लिम शासकों ने हिन्दुओं को हमेशा घृणित नजरों से ही देखा। इन्होंने कभी नहीं चाहा कि ग्रामीण हिन्दू भी उन्नति कर सकें और चैन का जीवन बिता सकें। अतः इन लोगों ने ग्रामीण हिन्दुओं की पूर्ण उपेक्षा कर दी। इस उपेक्षित ग्रामीण अंचल की शासन व्यवस्था तो सदियों पुरानी चली आ रही ग्राम-प्रजातंत्रात्मक ही थी। मध्यकाल में यह व्यवस्था अपने में स्वतंत्र एवं पृथक इकाई के रूप में थी। मुस्लिम बादशाहों ने इनकी इस स्वतंत्रता में कभी हस्तक्षेप नहीं किया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ग्रामीण शासन-व्यवस्था के प्रति मुस्लिम शासक प्रायः उदासीन ही रहे। ग्रामीण अंचल को उन्नतिशील बनाने के लिए उन्होंने कोई ठोस कदम नहीं उठाये। स्वयं इस अंचलों की स्थिति इस प्रकार नहीं थी कि ये उठ पाते। यह समाज तो गरीबी और भुखमरी का ही शिकार था। अतः सभ्यता की दृष्टि से यह उपेक्षित ही रह गया।

इस समय सभ्यता की दृष्टि से जो भी विकास हुआ वह नगरों का ही हुआ। मुगलों के शासनकाल में तो यह नगरीय सभ्यता अपने विकास के चरम शिखर पर पहुँच गई थी। इस बीच अनेक बड़े-बड़े शक्तिशाली नगर बसे जिनमें दिल्ली, आगरा, फतेहपुर सीकरी, अजमेर, लाहौर, मुल्तान, उज्जैन, बुरहानपुर, अहमदाबाद, बनारस, इलाहाबाद, पटना, राजमहल, बर्दवान, हुगली, ढाका तथा चटगाँव आदि प्रमुख हैं। आगरा की स्थापना तो लौदीवंश के शासन-काल में ही हुई। सिकन्दरलौदी ने यहाँ सैनिक छावनी स्थापित कर एक भव्य नगर बसाया जो आज आगरा के नाम से विख्यात है। ये सभी नगर औद्योगिक दृष्टि से वहुत विख्यात थे। वस्त्र उद्योग के लिए तो ढाका उस समय विश्वविख्यात था जहाँ को मलमल बहुत प्रसिद्ध थी।

सूर का जन्म ऐसे ही संकटकाल में हुआ था। मुस्लिम शासकों की विलासिता तथा उनकी नगरीय सभ्यता को उन्होंने उपेक्षा की दृष्टि से देखा। उनकी सहानुभूति तो निराश्रित, निःसहाय ग्रामीण संस्कृति का गान किया, जिसकी विस्तृत चर्चा आगे की जाएगी।

उत्पन्न सांस्कृतिक संकट और सूर की सजग साहित्यिक दृष्टि

भारतीय इतिहास का मध्यकाल हमारी राजनैतिक पराजय के साथ ही सांस्कृतिक पराजय का भी काल रहा। हिन्दुओं को अपनी आन्तरिक फूट के कारण मुसलमानों के आक्रमणों का सामना राजनैतिक धरातल के साथ ही धार्मिक, सामाजिक व सांस्कृतिक धरातलों पर भी करना पड़ा।

मुसलमानों का भारत पर आक्रमण करने का उद्देश्य साम्राज्य विस्तार के साथ ही इस्लामी धर्म और संस्कृति का भी विस्तार करना था। यह उनके पैगम्बर का हुक्म था। इसकी प्रेरणा उन्हें हजरत मुहम्मद से मिली। मुहम्मद साहब ने भी तत्कालीन अरेबिया में व्याप्त अनेक आडम्बरों, जाति-पाँति, ऊँच-नीच, छुआछूत तथा बहुदेववाद, मूर्तिपूजा और अवतारवाद की समाप्त कर एकेश्वरवाद का प्रतिपादन करने के लिए सुसंगठित सेना के साथ सन् 630 ई० में मक्का नगर पर आक्रमण किया था। प्रो० एस० के० पगारे के शब्दों में—"धर्म प्रचार के लिए पैगम्बर ने सेना व तलवार की सहायता ली। इसने इस्लाम को सैनिकत्व प्रदान कर दिया। आगामी शताब्दियों के धर्म प्रचारकों ने भी इसी उदाहरण को अपनाया।"[23] लेकिन धर्म प्रचार में जैसी सहायता मुस्लिम शासकों को अरब, सीरिया, मेसोपोटामिया, फारस, मिश्र बेबीलोनिया तथा अफगानिस्तान इत्यादि मध्य-पूर्वी एशियाई देशों में मिली, वैसी भारत में नहीं मिली।

मुसलमानों ने हमारी संस्कृति को नष्ट करने के लिए इस पर अनेक प्रहार किये। भारतीय संस्कृति ने भी इस विदेशी संस्कृति से अपने को बचाने के लिए कछुआ धर्म अपनाया तथा अपनी गर्दन को अन्दर कर, पीठ की ढाल पर सभी प्रकार के अत्याचारों को सहन करने का प्रयत्न किया। यद्यपि इस क्रम में उसे अपने अस्तित्व, परम्पराओं व आदर्शों को बचाने के लिए रूढ़िवादी रूप भी धारण करना पड़ा।

सभी महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक तत्त्वों को मुस्लिम शासकों द्वारा समूल नष्ट करने का प्रयास किया गया। धर्म, कला तथा साहित्य ये तीन भारतीय संस्कृति के प्रमुख तत्त्व रहे हैं। धर्म तो हमारी संस्कृति का मूल प्राण ही रहा है। जप-तप, पूजा-पाठ आदि के विविध-विधानों तथा मन्दिर देवालयों पर हमारी अपार श्रद्धा रही है। और इन सबका सम्मिलित रूप साहित्य में ही सुरक्षित रहा है। मुस्लिम शासकों ने इस बात को पहचाना। अतः उनका प्रथम प्रहार इन्हीं चीजों पर हुआ। मूर्तियाँ तोड़ी गई, मन्दिर गिराये गये और उनके स्थान पर मस्जिदों का निर्माण हुआ। यह कार्य तो प्रथम मुस्लिम आक्रमणकर्ता मुहम्मद बिन कासिम के समय से ही शुरू हो गया था। कासिम ने अनेक मन्दिर और मूर्तियों

को तोड़कर उनके स्थान पर मस्जिदें बनवाईं। इतना ही नहीं बौद्ध संघ में निवास करने वाली लगभग सात सौ बौद्ध भिक्षुणियों को भी उसने लूट लिया। कासिम के बाद आने वाले महमूद गजनवी ने भी खलीफा की अनुमति से हत्याएँ, लूट-पाट तथा सांस्कृतिक संहार किया। थानेश्वर और सोमनाथ के विश्व-प्रसिद्ध मन्दिर को उसने ही लूटा।

तुर्क गुलामों के शासन-काल में कुतुबुद्दीन ऐसा ही शासक हुआ। उसने अकेले बनारस शहर में ही एक हजार मन्दिरों को तुड़वाया और उनके स्थान पर मस्जिदें बनवाईं। इतना ही नहीं कोयल नगर (अलीगढ़) पर आक्रमण करके उसने वहाँ के नागरिकों को मौत के घाट उतार दिया। लगभग पचास हजार हिन्दुओं को गुलाम बनाया तथा एक लाख हिन्दुओं की हत्या की और अनेक प्रसिद्ध मन्दिरों को नष्ट-भ्रष्ट किया। खिलजियों के शासन-काल में भी यह क्रम चलता रहा। स्वयं अलाउद्दीन ने राजस्थान, मालवा तथा देवगिरि के मन्दिरों को लूटा। तुगलक वंश के शासकों ने कम उपद्रव नहीं किये। फिरोज तुगलक तो अत्यन्त ही धर्मान्ध शासक रहा। उसने स्वयं अपनी आत्मकथा में लिखा है कि "मैंने अपनी गैर मुस्लिम प्रजा को अनेक विधियों से इस्लाम धर्म स्वीकार करने के लिए उत्साहित किया है। जो हिन्दू अपना धर्म त्यागकर मुसलमान हो गये उन्हें जजिया कर से मुक्त कर दिया। धर्म परिवर्तन के प्रोत्साहन के लिए नकद, धन, उपाधियाँ, जागीरें तथा सरकारी उच्च पद तक प्रदान किये।"

फिरोज ने अपने शासन-काल में किसी भी नवीन मन्दिर का निर्माण नहीं होने दिया, यहाँ तक कि प्राचीन मन्दिरों का जीर्णोद्धार भी वर्जित कर दिया। हिन्दुओं के मेलों पर रोक लगा दी। 'मलह' गाँव में एक मन्दिर था जहाँ एक बार मेला लगा था जिसमें अनेक व्यक्ति एकत्रित हुए थे। फिरोज ने मेले के हिन्दू नेताओं को मारवा डाला तथा मन्दिर को तुड़वाकर उसके स्थान पर मस्जिद का निर्माण करवाया। ज्वालामुखी तथा जगन्नाथ जी के मन्दिरों को फिरोज ने ही नष्ट किया।

महाकवि सूर के जन्म के समय लोदी वंश का शासक बहलोल लोदी गद्दी पर बैठा था। यह भी अपने पूर्ववर्ती शासकों की तरह कट्टर और धर्मान्ध था। लेकिन इसके बाद होने वाले सिकन्दर लोदी ने तो हिन्दू सभ्यता और संस्कृति को नष्ट करने के लिए जो घृणित उपाय किये उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। एक हिन्दू माँ के गर्भ से उत्पन्न होने पर भी इसमें हिन्दुओं के प्रति तनिक भी रहम नहीं था। यद्यपि व्यक्तिगत जीवन में वह इस्लाम के सिद्धान्तों का पालक न था लेकिन मुसलमानों पर अपना प्रभाव डालने के लिए वह ऐसा करता था। अपनी इसी धर्मान्धता के जोश में इसने चन्देरी, धोलपुर, ग्वालियर, नरवर तथा मन्दरेल के मन्दिरों को तोड़ा तथा मूर्तियों के टुकड़े-टुकड़े करके

कसाइयों को बाँट के रूप में तौलने के लिए दे दिये। मन्दिरों के स्थान पर मस्जिदों को बनवाने में इसे बड़ा आनन्द आता था। फिरोज की भाँति इसने भी तीर्थ-स्थानों पर हिन्दुओं को स्नान करने तथा बाल मुड़वाने तक की मनाही करवा दी। इस्लाम स्वीकार करने हेतु इसने भी हिन्दुओं को सरकारी पदों, जजिया की माफी आदि के लालच दिये।

सल्तनत काल के शासकों की तरह मुगल काल के शासक भी धर्मान्ध ही रहे। इस वंश के संस्थापक बाबर ने ग्वालियर के निकट अनेक मन्दिरों को नष्ट किया तथा हिन्दुओं का सिर काटकर गाजी की उपाधि धारण की। इसके ही अफसर मीरबेग ने अयोध्या के रामजन्म स्थान वाले मन्दिर को तुड़वाकर उस स्थान पर मस्जिद का निर्माण करवाया।

हुमायूं भी अपने पिता की तरह कठोर तथा हिन्दुओं के प्रति असहिष्णु था। सूरवंश के शासकों ने भी धार्मिक कट्टरता व संकीर्णता को नहीं छोड़ा। स्वयं अकबर भी शुरू में अपने पूर्वजों की ही तरह था लेकिन बाद में उसने धार्मिक कट्टरता की नीति समाप्त कर हिन्दुओं पर से जजिया कर उठवा लिया तथा धार्मिक कृत्यों को करने की पूरी छट दे दी। वह हिन्दू और मुस्लिम दोनों को समान रूप से देखने का पक्षपाती था। जब उसे मालूम हुआ कि तीर्थ यात्रियों से कर लिया जाता है तो उसने यह कहते हुए कि 'ईश्वर की आराधना पर कर लेना पाप है' कर को समाप्त कर दिया। इतना ही नहीं युद्ध बन्दियों को गुलामी की प्रथा से भी उसने मुक्ति दिलवा दी। और इसके लिए फरमान जारी करवा दिया। इस फरमान ने न केवल एक अमानवीय प्रथा की समाप्ति की वरन् हिन्दू धर्म के बहुसंख्यक अनुयायियों को बड़े पैमाने पर एक विदेशी धर्म को अपनाने से बचा लिया।

यदि कुल मिलाकर देखा जाए तो अकबर को छोड़कर प्रायः जितने भी शासक हुए हिन्दुओं के प्रति सबकी नीति बड़ी अनुदार रही, तथा सभी ने भारतीय धर्म तथा संस्कृति को समूल नष्ट करने का प्रयास किया। इतना ही नहीं बीच-बीच में मंगोलों के भी आक्रमण होते रहे जिन्होंने हिन्दू जाति में थोड़े-बहुत बचे आत्मसम्मान को भी मिटा दिया।

इन राजनैतिक परिस्थितियों ने हिन्दू समाज में वैराग्यभाव निराशावाद को जन्म दिया। अस्त-व्यस्त शासन-व्यवस्था के कारण समाज में शिक्षा-दीक्षा अध्ययन-अध्यापन आदि की परम्पराएँ भी नष्ट हो गई। जीवन के हर क्षेत्र में अविश्वास और अनास्था के बीज अंकुरित हो चुके थे। भारतीय संस्कृति की सम्पन्नता और वैभव का उत्तराधिकार उससे छिन चुका था। उसके अवशेषों को बटोर कर वे मुस्लिम संस्कृति से प्रभावित हो रहे थे। आर्थिक विपन्नता और राजनैतिक दासता के कारण समाज में ऐसे मनोविकारों का जन्म हो गया

था जो संस्कृति के पतन के परिचायक थे।

महाकवि सूर इसी संक्रान्तिकाल के बीच जनमे। राजनैतिक उथल-पुथल, हत्या-संहार, लूट-पाट इत्यादि के कारण जनजीवन में व्याप्त उदासीनता को उन्होंने पहचाना और उसी के अनुरूप शृंगारमयी कृष्ण काव्य की रचना करके उनके मन से खिन्नता और उदासीनता मिटाने की भरसक कोशिश की। सांस्कृतिक पतन के इस काल में उन्हें कृष्ण चरित्र ही ऐसा दिखाई दिया जो राम-वाण का कार्य कर सकता था। अतः उन्होंने कृष्ण चरित्र के माध्यम से भारतीय संस्कृति का अमरगान किया और साथ ही हिन्दू जनता को भी मुगल महिमा द्वारा आत्म वंचित होने से बचाया। इसे उन्होंने भक्ति के ऐसे रंग में रंग दिया कि विदेशियों के वैभव-प्रभाव का एक भी रंग इस पर न चढ़ सका।

भारतीय संस्कृति की रक्षा तथा उसके विकास में सूर का यह योगदान निश्चय ही बड़ा महान् है। इस आधार पर उन्हें भक्तिकाल का सर्वश्रेष्ठ कवि सिद्ध किया जा सकता है।

विषय-चयन की प्रक्रिया को प्रभावित करने वाले तत्कालीन तत्व

सूर का जन्म ब्रजमण्डल के निकट हुआ था। उनका जीवन अधिकांश ब्रज में ही बीता। ब्रज तो भगवान कृष्ण की लीला भूमि थी। अतः ब्रज में उत्पन्न हुए सूरदास का कृष्ण भक्ति की ओर झुकना स्वाभाविक था। ब्रज उस समय भारतीय संस्कृति का केन्द्रबिन्दु था। लेकिन उसी के पास दिल्ली और आगरा में वैभवशाली मुगल साम्राज्य की स्थापना थी। स्थिति यह थी कि सामान्य जनता मुगल राज्य की चमचमाती चकाचौंध में आत्मविस्मृत हो शासकों के आचार-व्यवहार को अपनाने के लिए बाध्य होती हुई अपनी संकृति से दूर होती जा रही थी। महाप्रभु वल्लभाचार्य ने भारतीय-संस्कृति की इस विनष्टता को देखा और इसका निराकरण करने के लिए उन्होने ब्रज में अपनी योग-शक्ति का प्रयोग किया। ब्रजवासियों के सात्विक एवं सरल स्वभाव से प्रभावित होकर और उनकी हृदय-भूमि को भक्तिबीज के अंकुरित तथा पल्लवित होने के योग्य समझकर ही उन्होंने ब्रजप्रदेश को अपने पुष्टिमार्ग के प्रचार का प्रधान क्षेत्र बनाया। यहाँ रहकर उन्होंने आर्य संस्कृति के उद्धार का व्रत लिया। इसी क्रम में उन्होने गोवर्धन पर श्रीनाथ मन्दिर की स्थापना की। डॉ० मुंशीराम शर्मा के अनुसार—"गोवर्धन पर श्रीनाथ मन्दिर की स्थापना मानों इस प्रयोग का एक साधन था। इसके द्वारा उन्होंने आर्यजाति में प्रचलित संस्कारों, पर्वों और उत्सवों के प्रचार का ऐसा क्रम बनाया

कि जनता मुगल महिमा द्वारा आत्मवंचित होने से बच गई। उसे उन्होंने भक्ति के ऐसे रंग में रंगना आरम्भ किया कि विदेशियों के वैभव-प्रभाव का एक भी रंग उसके ऊपर न चढ़ सका। आचार्य जी के पश्चात् गोस्वामी विट्ठलनाथ ने इस क्रम को और भी अधिक बढ़ाया। परिणाम यह हुआ कि लोक समुदाय अपनी संस्कृति के प्रति आकृष्ट बना रहा। यही नहीं, भक्ति के इस रूप ने रसखान, रहीम, ताज आदि यवन संस्कृति में पले हुए अनेक व्यक्तियों को भी अर्य संस्कृति की गरिमा मानने के लिए विवश कर दिया।[24]

महाकवि सूरदास ने वल्लभाचार्य जी के इस पुनीत कार्य की महत्ता को समझा और इसमें योग देना अपना कर्त्तव्य माना। परिणामस्वरूप उनका झुकाव कृष्णकाव्य की ओर हुआ।

इसके अतिरिक्त कृष्ण काव्य में कई विशेषताएँ भी थीं। कृष्ण-काव्य जन-सामान्य का विषय था, वह दरबारी काव्य न था। जबकि सूर के पहले वीरगाथा-काल की कविता दरबारी कविता थी। सामान्य जनता से उसका कोई ताल्लुक न था। महाकवि सूर ने इसी कविता-कामिनी को दरबारी जीवन से मुक्त कर जन-सामान्य की वस्तु बना दिया। यहाँ तक कि स्वयं सम्राट अकबर द्वारा आग्रह करने पर भी उन्होंने उसकी प्रशंसा में 'मना तू करि माधौ सौं प्रीति'[25] तथा 'नाहिंस रह्यौ मन में ठौर'[26] के अतिरिक्त और कुछ नहीं सुनाया। इससे इनकी व्यक्ति-प्रशंसा न करने की प्रवृत्ति का स्पष्ट संकेत होता है।

कृष्ण चरित्र को ही अपना आधार बनाने का सूर का एक और भी कारण था। पीछे चर्चा की जा चुकी है कि मध्यकालीन राजनैतिक परिवेश ही कुछ ऐसा रहा जिससे नगरीय सभ्यता का ही विकास हुआ। ग्रामीण अंचल प्रायः उपेक्षित ही रहे। सूर तो ग्रामीण संस्कृति के पक्षधर थे उन्होंने इसी उपेक्षित ग्राम्यजीवन को ही प्रश्रय देना उपयुक्त समझा। क्योंकि ग्राम्य-जीवन ही यथार्थ और निश्छल जीवन होता है, जिसमें बनाव-शृंगार के लिए कोई स्थान नहीं होता। चूंकि कृष्णकाव्य ग्रामीण जीवन का ही काव्य था और कृष्ण की कथा ग्रामीण जीवन की ही कथा थी अतः सूर ने कृष्ण काव्य को ही अपना आधार बनाया। कृष्ण काव्य में ही मधुर-रस के रूप में भारतीय संस्कृति का अमर गान था। वह भक्ति तथा संगीत के तत्त्वों से भरपूर था साथ ही उसमें शृंगारिकता भी थी। लेकिन वह लौकिक नहीं अलौकिक थी क्योंकि उसके आलम्बन भगवान श्रीकृष्ण थे। इसी अलौकिक शृंगारी भावना ने ही निराश हिन्दू जनता को अपनी ओर आकृष्ट किया था। मध्यकालीन वैष्णव धर्माचार्यों ने यह देखा कि संसार में उत्पन्न जीव काम, क्रोध, लोभ आदि के प्रबल आघातों से अपने को बचा नहीं पा रहा है। यहाँ तक कि इन शत्रुओं का सामना करते हुए बड़े-बड़े वीतरागी सिद्ध महात्मा भी अपनी सिद्धि गँवा बैठते हैं। अतः इन आयाचों ने यह उपदेश

दिया कि यदि लौकिक विषयों से मन न हटता हो तो इन विषयों को ही भगवान में लगा दिया जाए। इसका कारण उन्होंने यह बताया कि भगवान के संसर्ग से उन विषयों का विकृत रूप शुद्ध हो जाता है। यहाँ तक कि भगवत-संसर्ग के प्रभाव से वे विषय स्वयं भगवद्रूप हो जाते हैं। इसी बात की श्रीमद्भागवत में और भी स्पष्ट रूप से कहा गया है—

कामं, क्रोधं, भयं, स्नेहमैक्यं सौहृदमेव च।
नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हिते ॥[27]

अर्थात् काम, क्रोध, भय, स्नेह, ऐक्य और सुहृदभाव—इनमें से किसी को भगवान के साथ लगाने से वह स्वयं भगवत्मय हो जाता है।

प्रभुदयाल मीतल के शब्दों में—"वैष्णव धर्माचार्यों ने बताया कि जीवन के प्रबल शत्रु 'काम' को परास्त करने का एक ही उपाय है कि जीवन अपनी समस्त कामपूर्ण चेष्टाओं को अनन्यभाव से भगवान श्रीहरि के प्रति जोड़ दे। इस प्रकार की भक्ति को माधुर्य भक्ति कहते हैं। यह भक्ति शृंगारमयी है। जिस प्रकार विष रोग को दूर करने के लिए विष ही औषध रूप में दिया जाता है, उसी प्रकार काम दोष को मिटाने के लिए इस प्रकार की भक्ति में 'काम' के उपयोग की व्यवस्था की गई है। पर इस प्रकार की भक्ति करना कोई हँसी-खेल नहीं है।"[28]

महाकवि सूर के समय में विदेशी संस्कृति से आत्मरक्षा के लिए भक्ति की दो धाराएँ काम कर रही थीं—एक निर्गुण भक्तिधारा और दूसरी सगुण भक्तिधारा। इन दोनों की भी दो-दो शाखाएँ थीं। निर्गुण साधना में ज्ञानमार्गी और प्रेमाश्रयी शाखा तथा सगुण साधना में राममार्गी और कृष्णामार्गी शाखा।

ज्ञानमार्गी शाखा कबीर आदि सन्तों की थी। यद्यपि यह भारत की अपनी ही चीज थी, सरल और सहज थी परन्तु तात्कालिक जन-समुदाय अपने पुराने संस्कारों के कारण तत्काल इसे ग्रहण नहीं कर पा रहा था। सूर के समय नाथपंथी योगियों का भी बोलवाला था जो आसन, ध्यान, आराधना आदि के द्वारा साधना करते थे तथा मुद्रा, भस्म, विषण्ण, मृगचर्म आदि धारण करते थे। ये सभी कहने के लिए तो सुधारक थे पर हिन्दू धर्म के ऊपर घोर प्रहार करने वाले तथा भागवत धर्म के प्रत्यक्ष विरोधी थे। ये सभी भगवान के सगुण स्वरूप को सर्वथा अस्वीकार करते थे। इन्हें निखिल विश्व में व्याप्त ब्रह्म दिखाई नहीं देता था। ये हृदय से बाहर ईश्वर का अस्तित्व केवल नाममात्र को स्वीकार करते थे। वर्ण-व्यवस्था पर पूरी शक्ति के साथ आक्रमण करना, मूर्तिपूजा, तीर्थयात्रा व्रत-पूजा एवं दान आदि को व्यर्थ ठहराना ही इनका कार्य था। महाकवि सूर को ऐसे वेद—विरोधी सुधारकों की साधना पसन्द नहीं आई। उनकी इस साधना का उन्होंने अपने भ्रमरगीत में विरोध भी किया है,

जिसकी चर्चा आगे की जायगी।

इसके अतिरिक्त एक धारा सूफी मुसलमान पीर फकीरों की थी। ये सूफी फकीर भारतीय कथाओं के आधार पर प्रेम कहानियों की सृष्टि कर रहे थे तथा इन कहानियों को गा-गाकर निम्न श्रेणी के हिन्दुओं को मुस्लिम धर्म की ओर आकृष्ट कर रहे थे। इनको उत्तर देने के लिए तथा जनता को भगवान के स्वरूप की ओर आकृष्ट करने के लिए सूर को भगवान कृष्ण की प्रेममयी लीलाओं का वर्णन आवश्यक लगा। उन्हें रामकाव्य भी उतना पसन्द नहीं आया। कारण कि—"कृष्ण रसायन में चाहे राम रसायन की अपेक्षा पौष्टिकता कुछ कम हो, किन्तु स्वाद अधिक था। मनुष्य की रागात्मक वृत्तियों से उसका सीधा सम्बन्ध था।"[29]

साथ ही कृष्ण-काव्य का जनता के हृदय से निकट का सम्बन्ध था। इसमें कृष्ण की बाल और यौवन लीलाओं के द्वारा जीवन के सौन्दर्य पक्ष का उद्घाटन भी था। उन्हीं सब बातों ने ही सूर को कृष्ण काव्य लिखने के लिए बाध्य किया। और उन्होंने इन लीलाओं का वर्णन कर जीवन के प्रति आस्था उत्पन्न कर दी।

सूर की सामयिक दृष्टि

सूर की दृष्टि बड़ी पैनी थी। वे अपने युग तथा समय के प्रति पूर्णतः सचेष्ट थे। जिस समय भारतवर्ष यवनों एवं मुगलों के अत्याचारों से आक्रान्त था तथा जिस समय लोगों में द्रौपदी की पुकार और गज की टेर सुनकर आने वाले कृष्ण में विश्वास नहीं रह गया था, ऐसे समय में महाकवि सूर ने ब्रजमाधुरी द्वारा अपने मानस को सरल सुहावना बनाकर दशों दिशाओं में जगन्मोहन की मुरली बजाई। उन दिनों जबकि एक तरफ संत ज्ञानियों के वेदान्ती उपदेशों के द्वारा सांसारिक निस्सारता का प्रतिपादन हो रहा था और दूसरी ओर आक्रमण-कारियों के अत्याचारों के कारण हिन्दू जाति में जीवन के प्रति प्रायः कोई आकर्षण शेष न रह गया था, अर्थात् पूरे देश का वातावरण निराशामय हो गया था, ऐसे समय में महाकवि सूर ने अपने दिव्य प्रेम संगीत के द्वारा जीवन की मधुरिमा को उपस्थित कर लोगों में आस्था जगाई तथा उनके सोये हुए हृदयों में आशा का संचार किया। डॉ० राजेश्वर प्रसाद चतुर्वेदी के शब्दों में—"मध्यकाल के ऐसे नैराश्यमय वातावरण में सूर ने 'कृष्ण' नाम की रसायन को श्रृंगार के मधुरावेष्टन में पर्यवेष्टित कर जाति को नवकिसलययुक्त मधुर जीवन प्रदान किया।"[30]

यद्यपि सूरदास कवि सामाजिक होते हुए भी सामाजिकता से दूर रहे।

राजनीतिक और धार्मिक परिस्थितियाँ उन्हें बहुत अधिक प्रभावित न कर सकीं। फिर भी इतना तो मानना ही पड़ेगा कि उन्हें अपने समय की विभिन्न परिस्थितियों और साथ ही इनके कारण व्याप्त सामाजिक अन्तर्विरोधों व द्वन्द्वों आदि का ज्ञान अवश्य था। लेकिन उनका उद्देश्य इन परिस्थितियों का चित्रण करना न होकर, समानता पर आधारित एक ऐसे मानव-समाज की सृष्टि करना था जो विश्व-बन्धुत्व तथा प्रेम के निश्छल तत्व पर आधारित हो। इसके लिए सूर ने कृष्ण-राज्य की कल्पना की। उनका यह कृष्णराज्य व्रज का सरल, सौहार्द्र एवं रस से आप्लावित समाज है जिसमें जातिगत तथा वर्गगत भेदभाव के लिए कोई स्थान नहीं है। इसमें स्वामी-सेवक, राजा-प्रजा, ठाकुर-ठकुराइन और सामान्य स्त्रियों तक का सम्बन्ध ममता, एकता और निजत्व के मूलमंत्र पर आधारित है। इस संदर्भ में सूर ने कृष्ण के रूप में एक ऐसे नायक की कल्पना की जो भगवान तथा मनुष्य दोनों रूपों में जाति-पाँति, छुआछूत तथा वर्गभेद का पूर्णतः उल्लंघन करने वाला है।

सूर के समय में उस वर्णाश्रम व्यवस्था को, जो कभी लोक-कल्याण के लिए धीरे-धीरे विकसित हुई थी—लोग मिथ्या दृष्टि से देखने लग गये थे। उन्हें मानवता के लिए श्रम एवं आयु के कर्त्तव्यों का विभाजन न समझ कर लोग शाश्वत उच्चता और नीचता से सम्बन्धित मानने लगे थे। इससे परिणाम यह हुआ कि प्रत्येक वर्ण में एक-दूसरे के प्रति सहानुभूति, विश्वास और सहकारिता का अभाव हो गया। लोग एक होकर एवं एक ब्रह्म का अपने में अनुभव कर अपने कल्याण के कार्य में तत्पर नहीं होते थे। देश की मुसलमानों से पराजय उनके हाथों से दुरावस्था एवं हिन्दुत्व के ह्रास का यही कारण बन गया था। जातीय उच्चता एवं नीचता की भावना दूर किये बिना पारस्परिक सौहार्द्र नहीं आ सकता था। इसीलिए सूर ने जातीय ऊँच-नीच की भावना को सर्वथा हेय बतलाया और उसे भगवान के समक्ष सर्वथा तुच्छ और त्याज्य कहकर लोगों को उससे परांगमुख होने का उपदेश दिया। इस सम्बन्ध में उनके इन पदों को देखा जा सकता है :

1. राम भक्तवत्सल निज बानौं।
   जाति, गोत, कुल, नाम गनत नहिं रंग होइ़ कै रानौं ।।[31]
2. काहू के कुल तन न विचारत।
   अविगत की गति कहि न परति है व्याध-अजामिल तारत ।।[32]
3. गोविंद प्रीति सबनि की मानत।
   जिहि-जिहि माइ करत जनसेवा अंतर कौ गति जानत ।।[33]
4. जाति-पांति पूछै नहि कोई श्रीपति के दरबार।[34]
5. ऊँच-नीच हरि गनत न दोइ़।[35]

सूर के कृष्ण स्वयं कुब्जा नामक एक परिगणित जाति की नारी के घर जाकर और उसकी सेवा स्वीकार कर वर्णाश्रम धर्म के इतिहास में एक नया अध्याय जोड़ देते हैं, और यह सिद्ध कर देते हैं कि सेवा की भावना से बढ़ने वाला व्यक्ति सदैव ही स्नेह का पात्र है। उसके विषय में ऊँच-नीच, छोटे-बड़े तथा अवर्ण-सवर्ण का विचार व्यर्थ है। श्रीकृष्ण का यह निश्चित ही अत्यन्त क्रान्तिकारी कदम था और इस दिशा में वे अत्यन्त प्रगतिशील माने जाने योग्य हैं। सूर ने उनका यह आदर्श रूप प्रस्तुत कर समाज को एक नयी चेतना की ओर उन्मुख किया।

पीछे चर्चा हो चुकी है कि मध्यकाल में यद्यपि सम्मिलित परिवार की प्रथा थी फिर भी समाज विघटनोन्मुख था। राजनीतिक अव्यवस्था और अराजकता की स्थिति ने समाज को विश्रृंखलित कर डाला था। ऐसे समय में एक ऐसे माध्यम की जरूरत थी जो समाज को संगठित रख सके तथा उसका दिशा निर्देश कर सके। सूर की दृष्टि में कृष्ण-चरित्र ही एक ऐसा था जो यह महान् कार्य कर सकता था। कृष्ण का बाल रूप इसका प्रमाण है। सूर ने श्रीकृष्ण की बाल और यौवन लीलाओं के द्वारा जीवन के सौन्दर्य पक्ष का उद्घाटन कर जीवन के प्रति आस्था उत्पन्न कर दी।

सूर के कृष्ण जिस निश्छल, सरल और सौहार्द्रपूर्ण वातावरण में पले हैं, उसका दर्शन कृष्ण के खेलने, गायें चराने जाने आदि के प्रसंगों में होता है। सूर ने कृष्ण का वह रूप प्रस्तुत किया है जहाँ उन्हें अपनी गोद में भर लेने के लिए परस्पर होड़-सी मची रहती है :

नैकु गोपालहिं मोकौं दे री।
देखौं बदन कमल नीकैं करि, ता पाछैं तू कनिया लै री।[36]

इतना ही नहीं कृष्ण के साढ़े तीन माह के पूरे हो जाने का समाचार पाते ही लोग उमड़े पढ़ रहे हैं :

यह सुख सुनि हरषीं ब्रजनारी। देखन कौं धाई बनवारी।
कोउ जुवती आई, कोउ आवति। कोउ उठि चलति, सुनत सुख पावति।
घर-घर होति अनंद-बधाई। सूरदास प्रभु की बलि जाई॥[37]

सूर ने कृष्ण का वह बालरूप उपस्थित कर दिया है जिसे देखकर गोपियाँ अपनापन खो देती हैं।[38] वे कृष्ण के उस बालरूप पर मोहित हो जाती हैं और अपना तन-मन-धन सब समर्पित कर देती हैं।[39] यहाँ तक कि जब से उन्होंने यशोदा के इस पुत्र को आँगन में खेलते हुए देख लिया है तब से उनका अपने घर-बार से नाता ही टूट गया है।[40] कृष्ण के इस रूप-वर्णन का एकमात्र उद्देश्य परिवार तथा समाज में सरस, सौहार्द्रपूर्ण स्थिति का निर्माण करना है। सूर इसमें

अत्यन्त सफल रहे हैं। उनका 'खेलन में को काको गुसैयाँ'[41] वाला पद ऐसा है जो यह सिद्ध करता है कि बाल-समाज में ऊँच-नीच का कोई भेद भाव नहीं है। सूर के कृष्ण एकता के इसी निश्छल वातावरण में पले हैं जो ग्वालों के हाथ से जूठे कौर भी छीनकर खा जाते हैं :

1. सूर स्याम अपनौ नहिं वेंत ग्वालानि कर तें लै लै खात।[42]
2. ग्वालनि कर तें कौर छुड़ावत, मुख लै मेलि सराहत जात।[43]
3. ग्वालनि कर तें कौर छुड़ावत।
   जूठौ लेत सबनि के सुख कौ, अपने मुख लै नावत।[44]

सूर ने कृष्ण के माखन-चोरी प्रसंग का भी वर्णन किया है। कृष्ण का माखन-चोरी प्रसंग, मात्र प्रसंग ही नहीं है बल्कि परिवार को बृहत्तर समाज में बदलने की प्रक्रिया भी है। कृष्ण ग्वालों-बालों के साथ गोपियों के सूने घर में माखन चुराने जाते हैं लेकिन यह मात्र कृष्ण की ही इच्छा नहीं है, गोपियाँ भी चाहती हैं कि कृष्ण कभी हमारे घर आवें और मैं उनको माखन खाते हुए अचानक पकड़ूँ :

ब्रज वनिता यह सुनि मन हरषित, सदन हमारे आवैं
माखन खात अचानक पावैं, भुज हरि उरहिं छुवावैं।
मनहीं मन अभिलाष करति सब हृदय धरति यह ध्यान।।[45]

गोपियों की इस प्रकार की अभिलाषापूर्ति के लिए ही कृष्ण ने अपना वह स्वरूप उपस्थित किया। यह तो हुआ कृष्ण का बालरूप। सूर ने कृष्ण के उत्तरार्द्ध जीवन को भी इस प्रकार प्रस्तुत किया है जो मध्यकालीन परिस्थिति के लिए अप्रासंगिक न हो। उन्होंने कृष्ण को उस राजा के रूप में चित्रित किया है जो वर्गगत भेदभाव को कम करना चाहता है तथा गरीबों का रक्षक है :

हरि सों ठाकुर और न जन को।
जिहिं-जिहिं विधि सेवक सुख पावै, तिहिं विधि राखत मन कौं।[46]

वे अपने सेवकों के खान-पान तथा वस्त्रादि तक का ध्यान रखने वाले हैं। शरणागत की रक्षा करने वाले, अनाथों के संगी और मीत तथा गरीबों के गाहक भी हैं :

गोविंद गाढ़े दिन के मीत।[47]

वस्तुतः सूर ने मध्यकालीन परिस्थितियों के अनुरूप ही कृष्ण का रूप प्रस्तुत किया। क्योंकि सूर का तो आदर्श ही था समाज में एकता और समानता की स्थापना करना। भगवत् प्रेम के महत्व को आगे करके सूर ने समाज से वर्ग-

भेद, जाति-भेद और यहाँ तक कि आर्थिक असमानता को भी मिटा देना चाहा। उन्होंने कृष्ण प्रेम की परिधि में एक ऐसा वातावरण उपस्थित कर दिया जहाँ पतित और अधम अपनी पतितता और अधमता को सहज त्याग देते हैं। सूर ने समाज के ऊँच-नीच के भेदों को इसी प्रेम तत्व में घुला-मिला देना चाहा। समाज के जिन वर्गों में शताब्दियों से आत्महीनता की भावना व्याप्त थी, उसे सूर ने भगवद्प्रेम से धो डालने का उपदेश दिया।

सांस्कृतिक चेतना की सफल अभिव्यक्ति एवं उसका युगबोधीय धरातल

भारतीय इतिहास का मध्यकाल सांस्कृतिक संकट का काल रहा है। इस्लाम के आक्रमण ने हमारे संस्कृतिगत और कलागत मूल्य ही बदल दिये। भारतीय मूर्तिवाद पर कठोर प्रहार से हमारी आस्था ही डगमगा उठी। ऐसे में निर्गुणिया सन्तों ने निराकार ब्रह्म की उपासना का एक सीधा मार्ग प्रस्तुत किया, जिसने लोक मानस को अपनी ओर आकृष्ट किया। पर आस्था के संकट से पूर्णतः छुटकारा न मिल सका। जन सामान्य शताब्दियों की सांस्कृतिक परम्परा और जातिगत प्रवृत्ति को एकदम अस्वीकार नहीं कर पा रहा था। इस्लाम की धार्मिक दृष्टि में भी ऐसी कोई व्यवस्था नहीं थी। अतः अन्तराल बना ही रहा। ऐसे में रामानन्द भक्ति का एक नया मार्ग लेकर आये जिससे युग की डगमगाती हुई आस्थाओं को स्थिरता मिली। अपने इस भक्ति मार्ग द्वारा उन्होंने इस्लाम को चुनौती दी पर इसके लिए उन्हें भारतीय संस्कृति की कुछ ऐसी सनातन अभिव्यक्तियों को तिलांजलि देनी पड़ी जो रहस्यमयी अन्तःसाधना और शृंगार भावना पर आधारित थीं। अतः नैतिक्तावादी योजना से मुस्लिम संस्कृति का अतिक्रमण सम्भव न हो सका। सूफी पीर-फकीरों ने जिस प्रेम-साधना को प्रस्तुत किया वह सबके लिए सहज नहीं हो सकती थी। ऐसे में जरूरत थी भक्ति के ऐसे सीधे और सरल मार्ग की जिसमें भारतीय सांस्कृतिक चेतना को प्रमुख स्थान प्राप्त हो।

आचार्य बल्लभ ने कृष्णभक्ति के माध्यम से भक्ति के इसी मार्ग का प्रतिपादन किया जिसमें भारतीय सांस्कृतिक चेतना का गुणगान था और साथ ही लोगों को अपनी ओर आकर्षित करने की शक्ति भी थी। महाकवि सूरदास के आचार्य बल्लभ के इस भक्ति मार्ग को विकास के चरम शीर्ष पर पहुँचा दिया। उन्होंने कृष्ण लीला के रूपक द्वारा जीवन की समग्रता, लोकोन्तरता, नित्यता और वास्तविकता का प्रचार किया। डा० रामरतन भटनागर के शब्दों में—

"आचार्य बल्लभ के सुयोग्य शिष्य महाकवि सूरदास ने युग की आन्तरिक आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए उनकी पूर्ति बड़े ही सूक्ष्म और मौलिक ढंग से की। युग की आत्मा को कोमलता, स्नेहिलता और मधुरता देकर उन्होंने देश के चिन्मय स्वरूप की रक्षा की ओर अतिवादों के युग में सन्तुलित और समग्र जीवन-चेतन से हमें पुरस्कृत किया।"[48]

उन्होंने कृष्ण चरित्र को अपने काव्य का मुख्य विषय बनाकर ब्रज-संस्कृति के माध्यम से भारतीय संस्कृति का अमरगान किया और लोगों को अपनी महत्वपूर्ण सांस्कृतिक विरासत से परिचित कराया।

उन्होंने भगवान कृष्ण की शैशव और यौवन की विभिन्न क्रीड़ाओं एवं रंगरेलियों का अभिव्यंजन करने वाले एक ऐसे समाज की कल्पना की है जो आकार में लघु होते हुए भी श्रेष्ठता में महान् है। शिशु कृष्ण इस समाज की धुरी हैं। परिवार या समाज का प्रत्येक सदस्य किसी-न-किसी रूप में शिशु कृष्ण से जुड़ा हुआ है। स्नेह की इस व्यापक परिधि में परिवार के दूसरे सदस्यों को समेटते हुए सूर ने पारिवारिक जीवन का जो चित्र प्रस्तुत किया है, वह अपने में महान् है।

बालक कृष्ण का जन्म होता है। सर्वत्र खुशी की लहर दौड़ जाती है। हर्ष विह्वल नर-नारी निशान बजाते, गीत गाते और उछल-कूद करते हुए नन्द से घर की ओर बढ़े जा रहे हैं। ब्रज वधुएँ सहज शृंगार किये हुए स्वर्ण निर्मित थालों में दूब, दधि, रोचन रखकर बधावा ले जा रही हैं। नन्द के यहाँ चन्दन, चोवा, अबीर तथा पीली दही का छिड़काव इतना अधिक हो गया है कि लोग फिसल कर गिर रहे हैं। वेद ध्वनि हो रही है। ग्रह, नक्षत्र, लग्न आदि का विचार करके शुभ मुहूर्त निकाला जा रहा है। इस अवसर पर नन्द जी लोगों को दान देना, सेवकों को नेग देना एवं परिचितों को सुन्दर-सुन्दर वस्तुएँ भेंट करना नहीं भूलते।[49]

कृष्ण के जातकर्म के बाद के अन्य संस्कार नामकरण,[50] अन्नप्राशन,[51] वर्ष-गाँठ,[52] कर्ण-छेदन,[53] यज्ञोपवीत तथा विवाह[54] इत्यादि भी मनाये जाते हैं। सूर ने कृष्ण के विवाह-प्रसंग का सांगोपांग वर्णन किया है। इसका कारण है कि विवाह मानवीय विधि में मानसिक और सांस्कृतिक चेतना का वाहक रहा है। मध्यकाल में सामाजिक संस्कारों के संरक्षण के लिए विवाह की पवित्रता एवं संस्कारमूलकता की मान्यता आवश्यक थी।

सूर ने गोप, गोपवधुओं तथा सखाओं के मनोविनोदार्थ नाना प्रकार के खेलों और त्योहारों का वर्णन किया है। समाज को भविष्य के प्रति आशावान बनाने तथा सांस्कृतिक चेतना को गति प्रदान करने में पर्वों, उत्सवों और त्योहारों का विशेष स्थान है। इन त्योहारों में लोक की प्रसन्नता और उमंग छलक कर बाहर गिर

पड़ती है और जनमानस हर्ष की रंग-बिरंगी लहरियों से खिलवाड़ करता दृष्टि-गोचर होता है।

सूरने कर्मकाण्डीय जीवन को भी अभिव्यक्त किया है, जिनमें समाज के सभी वर्गों के लोगों के प्रातः से सायं तक किये जाने वाले विविध कार्यों का उल्लेख है। एक ओर जहाँ कवि ने परम्परागत लोक-विश्वासों की विवृति की है वहीं दूसरी ओर वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकला आदि विविध कलाओं की भी अभि-व्यंजना की है।

सूरदास ने मध्यकाल में प्रचलित मान्यताओं, रूढ़ियों और विश्वासों तथा विभिन्न आचारों-विचारों का भी चित्रण किया है। उनका ऐसा करने का उद्देश्य जाति या समाज को संगठित करना था। क्योंकि जन-साधारण में प्रचलित आचार-व्यवहारों का समाज की संस्कृति से घनिष्ठतम सम्बन्ध हुआ करता है। परोक्ष रूप से किसी जाति के संगठन में जितना योग प्रथाओं, माध्यताओं, रूढ़ियों और विश्वासों का हुआ करता है उतना और किसी दूसरी शक्ति का नहीं हुआ करता।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कृष्ण को काव्य का आलम्बन बनाकर सूर ने ऐसे समाज की परिकल्पना की है जो अपने आप में पूर्ण एवं सुविधा-सम्पन्न है। सांस्कृतिक विकास के साथ-साथ पुरातन परम्पराओं का अनुसरण, कलात्मक अभिव्यक्ति के प्रति गहन मोह तथा सनातन विश्वासों के प्रति आस्थामय दृष्टि-कोण इस समाज के आकर्षक पृष्ठ हैं।

सूर ने कृष्ण का सम्बन्ध इसी समाज से जोड़ा है। इसीलिए हम देखते हैं कि एक सामन्त के यहाँ जन्म लेते हुए भी कृष्ण लोकजीवन से अधिक जुड़े हैं। सूर ने उनके सामंती रूप की सर्वथा उपेक्षा की है। कृष्ण की राजसी वैभव उन्हें कभी रास नहीं आया।

सूर ने प्रेम और भक्ति के क्षेत्र में भी एक नवीन स्थापना की है। उन्होंने मानव मन की उन अतल गहराइयों में प्रवेश कर प्रेम की जिस रागात्मक स्थिति का चित्रण किया है, वह आज भी मनोविज्ञान की कसौटी पर खरी उतरती है। यदि हम युग सापेक्ष दृष्टि से तत्कालीन समाज को केन्द्र बिन्दु बनाकर आक-लन करें तो पाएँगे कि सूर ने भक्ति को माधुर्य से मंडित करके समाज के सम्मुख प्रस्तुत किया है, जो उस युग की सबसे बड़ी माँग थी। यही उनका सबसे बड़ा युगबोध भी है। उन्होंने साहित्य की शाश्वत मान्यताओं को सदैव अपने सामने रखा। यही कारण है कि उनका काव्य युग की सीमाओं में सिमटकर समाप्त नहीं हो गया। वह आज भी उसी प्रकार जीवन्त है, जिस प्रकार उनके समय में था। उनके साहित्य की यही सबसे बड़ी सार्थकता है।

संदर्भ

1. हिन्दी साहित्य का अतीत (प्रथम भाग)—आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ० 199।
2. सूरसौरभ—श्री मुंशीराम शर्मा, भाग 1, पृ० 6।
3. देखिए : महाकवि सूरदास—आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, पृ० 85।
4. सूरदास—पं० रामचन्द्र शुक्ल, पृ० 140।
5. सूर-सौरभ, भाग 1—डा० मुंशीराम शर्मा, पृ० 11।
6. सूरदास—पं० रामचन्द्र शुक्ल, पृ० 140-141।
7. सूर-सौरभ भाग 1—डा० मुंशीराम शर्मा, पृ० 80।
8. सूर निर्णय—प्रभुदयाल मीतल एवं द्वारिकादास पारीख, पृ० 100-101।
9. सूर-सारावली, सम्पादक—डा० मनमोहन गौतम, पद—1103।
10. सूरदास जी की वार्ता, सम्पादक प्रभुदयाल मीतल प्रसंग 10, पृ० 55।
11. सूर और उनका साहित्य—डा० हरवंश लाल शर्मा, पृ० 37।
12. अष्टछाप और बल्लभ सम्प्रदाय, भाग 2, डा० दीनदयालु गुप्त, पृ० 294।
13. सूरदास की वार्ता—सं० प्रभुदयाल मीतल।
14. सूरदास की वार्ता—सं० प्रभुदयाल मीतल।
15. सूरसागर में प्रतीक योजना—डा० बी० लक्ष्मय्या शेट्टी।
16. सूर की साहित्य साधना—सं० मिश्र एवं अरुण (लेख—सूर : एक सर्वेक्षण —डा० विजयेन्द्र स्नातक), पृ० 76।
17. A History of Muslim Rule in India, Dr. Ishwari prasad, p. 123.
18. Medieval India : S. Lanepool, p. 13.
19. History of Medieval India—Dr. Ishwari Prasad, p. 471.
20. अकबर : दि ग्रेट मुगल—विसेन्ट स्मिथ, पृ० 182।
21. सूर साहित्य—आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० 73-74।
22. मुगलकालीन भारत का राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास—श्री बी० एन० लुणिया।
23. मध्यकालीन भारत : राजनैतिक, सांस्कृतिक इतिहास—प्रो० एस० के० पगारे, पृ० 3।
24. भारतीय साधना और सूर साहित्य—डॉ० मुंशीराम शर्मा, पृ० 317।
25. सूरसागर, प्रथमस्कन्ध, पद-325।
26. वही, दशमस्कन्ध, पद 4351।
27. भागवत, दशमस्कन्ध, अ० 29, श्लोक 15।
28. ब्रज-भारती, चैत्र—भाद्रपद, संवत् 2006 (लेख—भक्त कवियों का शृंगारिक

काव्य—प्रभुदयाल मीतल), पृ० 4।
29. ब्रज-लोक-संस्कृति—सं सत्येन्द्र (लेख—ब्रजभाषा साहित्य का प्रवृत्तिगत विकास—गुलाबराय), पृ० 214-215।
30. पोद्दार अभिनदन ग्रन्थ—सम्पादक डॉ० बासुदेव शरण अग्रवाल (लेख—ब्रजभाषा में नवरस—डॉ० राजेश्वर प्रसाद चतुर्वेदी, पृ० 149।
31. सूरसागर, प्रथम स्कन्ध, पद 11।
32. वही, पद 12।
33. वही, पद 13।
34. वही, पद 231।
35. वही, पद 236।
36. सूरदास, दशमस्कन्ध, पद 673।
37. वही, पद 688।
38. वही, पद 755।
39. 'सूरस्याम के ऊपर वारै तन-मन-धन ब्रजबाल री' वही, पद 758।
40. वही, पद 754।
41. वही, पद 863।
42. वही, पद 1083।
43. वही, पद 1084।
44. वही, पद 1086।
45. वही, पद 890।
46. वही, प्रथमस्कन्ध, पद 9।
47. वही, पद 31।
48. सूर साहित्य की भूमिका—डा० रामरतन भटनागर, पृ० 12।
49. देखिये : सूरसागर, दशमस्कन्ध, पद 4 से 39 तक।
50. वही, पद 85 से 87 तक।
51. वही, पद 88 से 93 तक।
52. वही, पद 94 से 96 तक।
53. वही, पद 180।
54. वही।

3

'सूर' और मध्यकालीन राजनैतिक स्थिति

मुगल साम्राज्य की जमती जड़ें

महाकवि सूरदास का जन्म लोदीवंश के सुल्तान बहलोल लोदी के समय में हुआ था। पर उनके जीवन का अधिकांश समय मुगल बादशाहों के शासन-काल में व्यतीत हुआ। यह वह समय था, जब मुगल साम्राज्य भारत में अपनी जड़ें मजबूत कर रहा था। सूरदास ने मुगलवंश के तीन शासकों—बाबर, हुमायूँ तथा अकबर का शासन देखा था।

मुगल साम्राज्य का संस्थापक बाबर माना जाता है। इसका जन्म 14 फरवरी, 1483 ई० को मध्य एशिया के फरगाना राज्य में हुआ था। बाबर के पिता फरगाना के शासक थे जिनकी मृत्यु के बाद बाबर को फरगाना का राज्य प्राप्त हुआ। पर पारिवारिक कठिनाइयों के कारण यह अपने पैतृक राज्य को चलाने में असमर्थ रहा। अपने पूर्वजों की राजधानी समरकन्द भी इसके हाथ न लग सकी। अतः पश्चिम में स्थायी रूप से सफलता न मिल सकने के कारण इसकी दृष्टि पूर्व की ओर लगी। यहाँ काबुल और गजनी को केन्द्र बनाकर इसने भारत पर आक्रमण करने शुरू किये। बाबर का पहला आक्रमण 1519 ई० में यूसुफजाई कबीलों पर हुआ। 1520 ई० में इसका दूसरा आक्रमण पेशावर पर हुआ। तीसरे आक्रमण में इसने सियालकोट को जीत लिया। चौथा धावा बाबर ने दौलत खां लोदी के आमंत्रण पर किया जिसमे उसने देवपालपुर तक के इलाके को जीत लिया। 1585 ई० में इसका पाँचवाँ हमला हुआ जिसमें इसने दौलत खां लोदी से पंजाब छीन लिया। आलम

खां लोदी को दिल्ली का सुल्तान बनाने के बहाने यह दिल्ली की ओर बढ़ा। दिल्ली का सुल्तान इब्राहीम लोदी, बाबर का सामना करने के लिए आगे आया और पानीपत के ऐतिहासिक मैदान में दोनों सेनाओं में भयंकर युद्ध हुआ। इसमें इब्राहीम लोदी की पराजय हुई और बाबर ने दिल्ली पर अधिकार कर लिया। शीघ्र ही आगरा पर भी इसने अधिकार कर लिया और दिल्ली का सुल्तान बन बैठा। इस प्रकार भारत में मुगल नामक एक नए राजवंश की नींव पड़ी।

बाबर ने मुगल राजवंश की केवल नींव ही नहीं डाली बल्कि इसको मजबूत करने का भी भरसक प्रयत्न किया, पर भाग्य ने उसका अधिक दिनों तक साथ नहीं दिया। उसे अनेक वाह्य एवं आन्तरिक समस्याओं का सामना करना पड़ा पर उसने हिम्मत न हारी। बड़ी दृढ़ता से इन वाह्य एवं आन्तरिक कठिनाइयों पर विजय प्राप्त करने का प्रयत्न किया। उसने 1527 ई० में खानवां के प्रसिद्ध युद्ध में राणा सांगा को परास्त कर भारत में मुगल साम्राज्य की जड़ें मजबूती से जमा दीं।

बाबर की मृत्यु के बाद उसका सबसे बड़ा पुत्र नासिरुद्दीन मुहम्मद 'हुमायूं' सन् 1530 में गद्दी पर बैठा। हुमायूँ ने अपने पिता द्वारा जमायी गई मुगल साम्राज्य की नींव को सुदृढ़ करने का प्रयास किया। पर अपने पिता की तरह उसका भी जीवन संघर्षों और कठिनाइयों में बीता। दूसरे, वह अपने पिता की तरह कुशल सेनानी और नीति-निपुण शासक नहीं था। यही कारण है कि उसे अधिक सफलता न मिल सकी। जिस समय हुमायूं बंगाल में रंगरेलियाँ मना रहा था, उसी समय शेर खां ने मौका पाकर मुगल साम्राज्य के अनेक हिस्सों पर अधिकार कर लिया। चौसा नामक स्थान पर हुमायूं और शेर खां में युद्ध हुआ जिसमें हुमायूं बुरी तरह पराजित हुआ और उसे जान बचाकर भागना पड़ा।

शेर खां ने दिल्ली पर अधिकार कर लिया और शेरशाह के नाम से भारत का सम्राट बन बैठा। इस प्रकार भारत में 'सूर' नामक एक नए अफगान राजवंश की नींव पड़ी।

हुमायूं चौदह वर्ष तक भारत और उससे बाहर ईरान और अफगानिस्तान के विभिन्न स्थानों में भटकता रहा। चौदह वर्ष बाद सन् 1554 ई० में उपयुक्त अवसर पाकर उसने भारत पर चढ़ाई कर दी और लाहौर तक के क्षेत्र पर अधिकार कर लिया। इसके बाद उसने सूरवंश के तत्कालीन शासक सिकन्दर सूर के विरुद्ध आक्रमण किया और उसे पराजित करने में सफल हो गया। इस प्रकार सन् 1555 ई० में वह पुनः भारत का सम्राट बन गया, पर भाग्य ने उसका साथ नहीं दिया। वह केवल सात महीने ही शासन कर सका था कि अचानक सीढ़ियों से गिरने के कारण उसकी मृत्यु हो गई।

हुमायूं की मृत्यु के बाद उसके पुत्र अकबर को गद्दी पर बैठाया गया। अकबर जिस समय गद्दी पर बैठा उसकी अवस्था केवल पन्द्रह साल की थी।

उसे गद्दी पर बैठते ही अनेक आरम्भिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। हुमायूं की मृत्यु के समय मुगल साम्राज्य का क्षत्र बड़ा सीमित हो गया था। पंजाब के कुछ जिलों के अलावा केवल देहली और आगरा पर ही मुगलों का अधिकार था। अपने शासन-विस्तार के लिए अकबर ने बड़ी उदार नीति अपनायी। राजपूतों को उसने अपने साथ मिला लिया और उन्हीं के बल पर सम्पूर्ण भारत को जीत लिया। हेमू को परास्त कर उसने अफगान व राजपूत विद्रोहियों को बुरी तरह कुचल डाला, जिससे वे पुन: मुगलों के विरुद्ध विद्रोह करने का साहस न कर सके। इस प्रकार उसका राज्य पश्चिम में काबुल-कन्दहार से लेकर पूर्व में बंगाल तक तथा उत्तर में कश्मीर से लेकर दक्षिण में अहमदनगर तक फैल गया। इस प्रकार अकबर ने अपने दादा बाबर द्वारा स्थापित मुगल साम्राज्य को और भी अधिक मजबूत एवं सुव्यवस्थित कर दिया।

केन्द्रीय शक्ति का विकास

मुगलों तथा उनसे पूर्व के सल्तनतकालीन शासकों के शासन-काल में देश में केन्द्रीय शक्ति का विकास हुआ। यद्यपि इस्लामिक कानूनों के अनुसार इस्लामिक सल्तनत को लोकतन्त्रात्मक रहना चाहिए था, पर व्यावहारिक रूप में वह सबसे अधिक केन्द्रीयकरण वाला शासन था। सल्तनतकालीन सुल्तानों के राज्य में देश में केन्द्रीय शक्ति का उतना विकास न हो सका जितना कि मुगल बादशाहों के शासन-काल में हुआ। इसका खास कारण सल्तनत के स्वरूप का सामन्तवादी होना था। सारी सल्तनत को तुर्क गुलामों, अमीरों, मलिकों व खानों ने आपस में बाँट लिया था और अवसर पाकर ये सभी स्वतन्त्र हो जाते थे। उत्तराधिकार का समुचित नियमन होने के कारण योग्य, महत्वाकांक्षी, षड्यन्त्रकारी, अवसरवादी तथा कूटनीतिज्ञ लोग योग्यता और तलवार के बल पर सल्तनत पर कब्जा कर लेते थे और अपने को सुल्तान घोषित कर देते थे। अत: इनके शासनकाल में केन्द्रीय शक्ति का उतना विकास न हो सका। पर मुगलों का शासन आने पर इस स्थिति में परिवर्तन आया। उन्होंने केन्द्रीय शक्ति का विकास किया। यद्यपि प्रथम मुगल आक्रान्ता बाबर तथा उसके पुत्र हुमायूं के शासनकाल में केन्द्रीय शक्ति उतनी विकसित न हो सकी, लेकिन महान मुगल सम्राट अकबर ने देश में केन्द्रीय शक्ति का पूर्ण विकास किया।

बाबर ने एक महत्त्वपूर्ण कार्य यह किया कि उसने बादशाहत को एक ईश्वरीय शक्ति के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया। उसने सुल्तान के स्थान पर बादशाह की उपाधि धारण की जिसके पीछे सैनिक तथा राजकीय शक्ति के साथ

धर्म द्वारा स्वीकृत ईश्वरीय शक्ति का भी भाव था। उसकी इस सूझ-बूझ ने देश में केन्द्रीय शक्ति को मजबूत करने में अमूल्य सहयोग दिया।

हुमायूँ ने भी अपने पिता के पदचिह्नों पर चलने का प्रयास किया। देश के अनेक भागों को जीतकर उसने अपनी केन्द्रीय शक्ति मजबूत करने की कोशिश की, पर उसे उतनी सफलता न मिल सकी। इसके विपरीत उसके शत्रु शेरशाह ने अधिक प्रशासकीय प्रतिभा का परिचय दिया। अपने छह वर्ष के शासनकाल में उसने जो महत्त्वपूर्ण प्रशासकीय कार्य कर दिखाये, वैसे बाबर और हुमायूँ भी नहीं कर सके। उसने अराजक और अव्यवस्थित शासन-तंत्र को पूर्ण रूप से सुव्यवस्थित बना दिया। साम्राज्य की शक्तियों का केन्द्रीयकरण कर उन्हें अपने पास रखा और इस प्रकार देश में केन्द्रीय शक्ति को पूर्ण रूप से विकसित किया। लेकिन उसके वंशजों में ऐसा कोई न हो सका जो केन्द्रीय शक्ति को विकसित कर उसे मजबूत बनाए रखता। परिणाम यह हुआ कि सल्तनत फिर एक बार मुगलों के हाथ आ लगी। सूरवंश के अन्तिम शासक सिकन्दर सूर को हराकर हुमायूँ पुन: बादशाह बन गया। लेकिन वह बहुत थोड़े दिन ही जीवित रहा। उसके बाद उसका पुत्र अकबर बादशाह बना।

अकबर ने केन्द्रीय शक्ति को जितना अधिक मजबूत किया, उतना उसके पूर्ववर्ती किसी भी शासक ने नहीं किया। इसका प्रमुख कारण उसकी उदार नीति थी। वह केवल राजनैतिक एकता से ही सन्तुष्ट न था, वरन् उसने सांस्कृतिक, सामाजिक तथा धार्मिक एकता के लिए भी प्रयास किये। इसी का परिणाम रहा कि वह भारत में एक विशाल साम्राज्य कायम कर सका और केन्द्रीय शक्ति को विकसित कर सका।

शासन व्यवस्था : महाकवि सूरदास चूंकि सल्तनत काल की अवसान बेला में उत्पन्न हुए थे इसलिए उन्होंने मुख्यत: मुगलों का ही शासन-प्रबन्ध देखा था। उनके जीवन का अधिकांश सम्राट अकबर के शासन-काल में व्यतीत हुआ और अकबर के शासन-काल में उनकी इहलीला भी समाप्त हुई।

अकबर का शासन-प्रबन्ध सम्पूर्ण सल्तनत तथा मुगलकालीन शासकों में सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। उसकी इस सफलता का प्रमुख कारण था उसकी उदार-वादी हिन्दू नीति। उसने अपने ऊपर से उलेमा के बन्धनों को हटाकर सर्वोच्च सत्ताधिपति बनने का प्रयत्न किया, जिसका परिणाम हुआ कि धार्मिक सत्ता तथा प्रशासनिक शक्ति एक ही व्यक्ति में निहित हो गई।

अकबर एक सर्वशक्तिमान, स्वेच्छाचारी, किन्तु उदार और सुसंस्कृत शासक था। वह राज्य का प्रमुख, सेना का सर्वोच्च सेनापति, प्रमुख व्यवस्थापक तथा नियम-विधान निर्माण करने वाला सर्वोच्च अधिकारी भी था। वह जनमत का आदर करता था। न्याय का आदिस्रोत भी था। वह स्वयं ही लोगों के झगड़ों को तय

करता तथा मुकदमों का फैसला करता था। वह दिन में तीन बार दरबार करता था। उसका पूरा समय देश तथा शासन-सुधार में ही बीतता था।

अकबर के अधीन केन्द्रीय सरकार के चार विभाग थे—प्रधानमंत्री (वकील), वित्तमंत्री (दीवान या वजीर), मुख्य वेतनाध्यक्ष (मीरबख्शी) तथा प्रमुख सदर (सदरुस सदर)।

प्रधानमंत्री को वकील कहा जाता था। वह केन्द्रीय सरकार के समस्त विभागों का अध्यक्ष था। अपने अधीन मंत्रियों को नियुक्त करना तथा उन्हें पदच्युत करना इसी का अधिकार था। किन्तु बैरम खां को हटाये जाने के उपरान्त 'वकील' को इन अधिकारों से धीरे-धीरे वंचित कर दिया गया।

वित्तमंत्री को 'दीवान' या 'वजीर' कहते थे। इनका मुख्य कर्त्तव्य मालगुजारी बन्दोबस्त के लिए नियम निर्माण करना, अन्य प्रकार के कर निश्चित करना तथा रुपये-पैसे के लेन-देन की देखभाल करना था।

दीवान की सहायता के लिए अनेक सहायक होते थे। एक 'दीवाने खालसा' होता था जो बादशाह की रक्षित भूमि का कारिन्दा होता था। 'दीवाने-जागीर' सेवा के उपहार में दी हुई जागीरों की देखभाल करता था। 'साहिबे-तौजीह' सेना सम्बन्धी हिसाब-किताब का कारिन्दा होता था। चौथा सहायक 'दीवाने वयुतूत' कहलाता था, जिसका काम विभिन्न कारखानों के हिसाब-किताब की देखभाल करना होता था। सरकारी खजाना भी जो 'मुशिरफे खजाना' के प्रबन्ध में होता था, दीवान के ही नियन्त्रण में होता था। अकबर स्वयं इस विभाग में दिलचस्पी लेता था। इस विभाग की कार्यविधियों और प्रगति का निरीक्षण करने के लिए उसने पाँच विशेषज्ञों की एक समिति भी नियुक्त कर दी गयी थी।

'मीरबख्शी' का पद सल्तनत युग के 'दीवाने आरिज' के समान था। उसके पास एक रजिस्टर होता था, जिसमें मनसबदारों के नाम, उनके दर्जे तथा मिलने वाला वेतन दर्ज होता था। सभी अधिकारियों का वेतन तथा सभी दर्जे के मनसबों का नियुक्ति-पत्र उसके विभाग से ही होता था। वह सैनिक विभाग की नौकरी के लिए आने वाले उम्मीदवारों को पेश करता था। बादशाह के महल की निगरानी करने वाले रक्षकों की सूची बनाता था। विभिन्न प्रान्तों में संवाद-लेखकों को नियुक्त करना और उनसे प्राप्त संवादों को बादशाह तक पहुँचाना भी उसी का काम था। इसके अतिरिक्त उसे कभी-कभी सैनिक अभियानों का नेतृत्व भी करना पड़ता था। इस विभाग का कार्य अधिक बढ़ गया था अतः कई सहायक मीरबख्शियों की भी नियुक्ति कर दी गई थी।

'सदरुस सदर' सम्राट के धार्मिक सलाहकार के रूप में कार्य करता था। शाही दानपुण्य को विभिन्न व्यक्तियों और संस्थाओं में बाँटना तथा सम्राट के

प्रधान न्यायाधीश के रूप में कार्य करना भी इसी का कार्य था। अकबर ने अपने शासन के उतरार्द्ध में उसके इन अधिकारों में कुछ कमी कर दी थी।

'मीर सामां' दीवान या वजीर के अधीन ही कार्य करता था। उसके प्रबन्ध में शाहीमहल, हरम, रसोई, रक्षक, कारखाने इत्यादि थे।

अकबर ने अपने सम्पूर्ण साम्राज्य को प्रान्तों में विभाजित कर इनमें एक-सी शासन-व्यवस्था स्थापित कर दी। उस समय ये प्रान्त सूबा कहलाते थे। इसके अतिरिक्त साम्राज्य के अन्तर्गत बहुत-सी रियासतें भी थीं, जिनकी गणना साम्राज्य के जिलों में की गई थी। उनका प्रबन्ध इनके निकट वाले सूबों के हाथ में था। सूबे का प्रमुख, 'सूबेदार' या 'सिपहसालार' होता था जिसके अधीन एक बड़ी सेना होती थी। यह सम्राट द्वारा नियुक्त और सम्राट का प्रतिनिधि होता था। सूबे की शासन-व्यवस्था करना, कृषि को प्रोत्साहन देना, सड़कें, सराएँ, बाग, अस्पताल आदि बनवाना भी उसी का कार्य था। हर सूबे में एक राज्यपाल अथवा सिपहसालार, एक दीवान, बख्शी, सद्र, काजी, कोलवाल, मीरबहर और वाकया नवीस होते थे। इन सबके अलग-अलग दफ्तर होते थे जिनके पास अनेक क्लर्क, एकाउन्टेन्ट तथा चपरासी होते थे।

'दीवान' की नियुक्ति केन्द्रीय दीवान की सिफारिश परहोती थी। यह वित्त विभाग का अध्यक्ष होता था। मालगुजारी एकत्र करना, आय-व्यय का हिसाब रखना, प्रान्तीय अधिकारियों को वेतन बाँटना तथा दीवानी मुकदमों का फैसला करना इसी का कार्य था। कृषि को प्रोत्साहन देना, सरकारी खजाने पर पूरी निगरानी करना, मालगुजारी वसूल करने वाले के कार्यों का निरीक्षण करना तथा समय-समय पर केन्द्रीय दीवान को रिपोर्ट भेजना भी इसी का कार्य था।

'सिपहसालार' फौज, पुलिस तथा शासनिक सेनाओं का अध्यक्ष होता था और 'दीवान', दीवानी तथा कर सम्बन्धी विभाग का। प्रत्येक एक-दूसरे के कार्य की निगरानी रखता था तथा आपस में ये एक-दूसरे के निरीक्षक के रूप में कार्य करते थे। एक को दूसरे के कार्य की रिपोर्ट दरबार में भेजनी पड़ती थी। डा० आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव के शब्दों में—"यह इस उद्देश्य से कराया जाता था जिससे इन प्रान्तीय उच्चाधिकारियों की महत्वाकांक्षाओं पर नियन्त्रण रहे और वे जनता पर अत्याचार न कर सकें।"[1]

'सदर' और 'काजी' का पद एक कर दिया गया था। प्रान्तीय सदर वजीफे तथा जागीर प्राप्त करने के अधिकारी व्यक्तियों की सिफारिश केन्द्रीय सदर से करता था। काजी प्रान्त के न्याय विभाग का अध्यक्ष होने के नाते मुकदमों की सुनवाई करता था तथा फैसला भी वही देता था। प्रांतीय 'बख्शी' सिपहसालार के अन्तर्गत सेना की भरती, उनके संगठन, नियन्त्रण और कार्यपटुता का उत्तर-दायित्व सम्भालता था।

वाकयानवीस अपनी देखरेख में सूबे भर में प्रमुख स्थानों पर यहाँ तक कि सिपहसालार, दीवान, काजी, फौजदार आदि अफसरों के कार्यालयों तक में—संवाद लेखकों और गुप्तचरों को नियुक्त करता था। ये सभी उसके पास प्रतिदिन रिपोर्ट भेजते थे। इन रिपोर्टों का वह सूक्ष्म रूप तैयार करता था और उसे शाही दरबार में भेज देता था।

'कोतवाल', राजधानी की आन्तरिक सुरक्षा, शान्ति और सुव्यवस्था तथा स्वास्थ्य और सफाई का प्रबन्ध करता था। उसके अधीन भी अनेक कर्मचारी होते थे। 'मीर बहर' नाव और पुलों की चुंगी तथा बन्दरगाहों पर 'कर' वसूल करने का प्रबन्ध करता था।

प्रत्येक सूबे को कई जिलों (सरकारों) में बाँट दिया गया था। हर जिले में एक फौजदार, अमलगुजार, काजी, कोतवाल, वितिक्ची और एक खजानदार होता था। जिले का प्रमुख 'फौजदार' होता था जो एक सैनिक अधिकारी होता था। जिले में शान्ति एवं सुरक्षा कायम रखना, सड़कों को चोर-लुटेरों से सुरक्षित रखना तथा शाही आज्ञाओं का जनता द्वारा पालन करवाना इसका प्रमुख कार्य था। इस कार्य में सहायता के लिए इसके पास एक छोटा-सा सैनिक दल भी होता था। फौजदार के कार्यों की हमेशा निगरानी हुआ करती थी, जिससे वह मनमानी न कर सके।

जिले का दूसरा प्रमुख अधिकारी 'अमलगुजार' होता था। यह मालगुजारी एकत्र करता था। इसकी सहायता के लिए अनेक सहायक भी होते थे। चोर-लुटेरों को सजा देना, कृषकों की रक्षा करना, कभी-कभी मालगुजारी वसूल करते समय प्रत्येक बीघे पर एक बिस्वा की छूट भी देना, जिले के खजांची के कार्य का निरीक्षण करना, आय-व्यय की मासिक रिपोर्ट दरबार भेजना तथा जिले की सम्पूर्ण आय शाही खजाने में भेजना भी इसी का कार्य था।

अमलगुजार के सहायकों में 'वितिक्ची' का महत्त्वपूर्ण स्थान था। जमीन की किस्म और उस पर होने वाली पैदावार सम्बन्धी आँकड़े एकत्र कर उसी आधार पर मालगुजारी नियत करना, पटवारी तथा मुखिया के रिकार्डों का निरीक्षण करना तथा आय-व्यय का दैनिक और मासिक हिसाब रखना उसी का कार्य था।

'खजानदार' का काम सरकारी आय को संभाल कर सुरक्षित रखना तथा उसे केन्द्रीय खजाने में भेजना था।

प्रत्येक जिले को बहुत से परगनों या महालों में बाँट दिया गया था। प्रत्येक में चार प्रमुख अधिकारी-शिकदार, आमिल, फोतदार और कारकुन होते थे। 'शिकदार' परगने का प्रमुख अधिकारी होता था। परगने में शान्ति और सुव्यवस्था की स्थापना करना, काश्तकारों द्वारा खजाने में जमा करने के लिए लाए

गए मालगुजारी के रुपयों को संभालना तथा खजाने के कर्मचारियों की पूरी निगरानी करना इसका कार्य था। फौजदारी के छोटे-मोटे मामलों को भी यह निपटाया करता था।

'आमिल' का मुख्य कार्य 'कर' नियत करना तथा मालगुजारी एकत्र करना था। इसके अतिरिक्त शान्ति व्यवस्था स्थापित करने तथा उत्पातियों को सजा देने में वह शिकदार की सहायता भी करता था।

'फोतदार' परगने का खजांची होता था। उसके वही कार्य थे जो जिले में खजानदार के थे। 'कारकुन' क्लर्क होते थे। ये उत्पादन योग्य भूमि, पैदावार, मालगुजारी द्वारा वसूल हुए रुपयों तथा लेन-देन का लेखा रखते थे।

'कानूनगो' परगने भर के पटवारियों का अफसर होता था। वह परगने की पैदावार, मालगुजारी, वसूल हुए रुपये तथा लेन-देन का हिसाब रखता था। बन्दोबस्त के विभिन्न प्रकारों, जमीन के भेद-प्रभेद तथा लगान सम्बन्धी अनेक बातों की वह जानकारी रखता था।

परगनों के अतिरिक्त बन्दरगाहों, सीमांत चौकियों अथवा किलों तथा थानों आदि पर भी प्रशासनिक दल तैनात रहते थे।

विशेष महत्वपूर्ण नगरों में एक कोतवाल भी नियुक्त होता था जो पुलिस कार्य के अतिरिक्त नगर-प्रशासन की देखभाल भी करता था। इसकी नियुक्ति केन्द्रीय सरकार द्वारा होती थी। इसके अधीन एक छोटा-सा सैनिक दल भी होता था। यह सम्पूर्ण नगर को विभिन्न वार्डों में बाँट कर प्रत्येक में अपना एक अधिकारी प्रबन्धक के रूप में रख देता था। नगर को स्वच्छ बनाए रखना भी उसी का कार्य था। उसके कार्य थे—(1) शहर की रक्षा और निगरानी, (2) बाजार पर नियन्त्रण, (3) लावारिस सम्पत्ति की उचित देखभाल, (4) अनाचारों की रोकथाम, (5) बूचड़खानों तथा श्मशानों पर नियन्त्रण तथा अकबर के सामाजिक सुधारों को कार्यान्वित करना।

ग्राम प्रशासन अपने पुराने ढर्रे पर ही चला आ रहा था। ग्राम पंचायतें ही गाँव का सारा कार्य करती थीं।

अकबर की इस शासन-व्यवस्था में कई बार अधिकारी भ्रष्ट हो जाते थे और मनमानी किया करते थे। इससे जन-सामान्य को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था। सूर ने अपने अनेक पदों में इन अधिकारियों के कृत्यों का वर्णन किया है। उन्होंने जिन भ्रष्ट अधिकारियों का वर्णन किया है उनमें वजीर[2], अमीन[3], कोतवाल[4], मुहर्रिर[5], पटवारी[6] आदि मुख्य हैं।

सामंती संस्कृति का उदय

मुसलमानों की शासन-व्यवस्था सामंती थी। प्रारम्भिक मुस्लिम आक्रांता वास्तव में लुटेरे थे। उनके पास उत्पादन की कोई नई प्रणाली नहीं थी। अतः उन्होंने भारत के सामंतवादी आधार को ही अपनाया। हाँ, इसमें उन्होंने कुछ परिवर्तन अवश्य किये।

सल्तनत काल का पूरा स्वरूप सामंतवादी था। सम्पूर्ण राज्य अलग-अलग सूबों में विभक्त था जिन पर मुसलमान गवर्नर शासन करते थे। राज्य के पास एक विशाल सेना होती थी, जिसका काम असन्तुष्ट सामन्तों और सरदारों को दबाना था। पर सल्तनत काल का सामन्तवाद अधिक दिनों तक नहीं चल सका। शासकों की आपसी कलह, सरदारों की बगावतों और किसानों के बढ़ते हुए असन्तोष ने मिलकर सल्तनत की सत्ता को कमजोर कर दिया। सत्ता के कमजोर हो जाने से देश अनेक छोटे-छोटे सामन्ती राज्यों में विभक्त हो गया। सोलहवीं शताब्दी के आरम्भ तक उत्तर भारत में बंगाल, जौनपुर, मालवा, बिहार, कश्मीर, सिन्ध, मुल्तान तथा गुजरात आदि अनेक छोटे-छोटे सामन्ती राज्यों का उदय हो चुका था।

ठीक इसी समय भारत पर बाबर का आक्रमण हुआ। दिल्ली के तत्कालीन सुल्तान इब्राहीम लोदी तथा मेवाड़ के राजा संग्राम सिंह को परास्त कर उसने दिल्ली साम्राज्य पर कब्जा कर लिया। इसके बाद शीघ्र ही उसने अपने शक्ति बल तथा कूटनीति से काम लेकर समस्त उत्तरी भारत पर अधिकार कर लिया और इस प्रकार भारतीय इतिहास के सबसे बड़े और सर्वाधिक शक्तिशाली सामन्ती साम्राज्य की स्थापना की। बाबर के बाद मुगलों के ढाई सौ वर्षों के शासन-काल में जितने भी बादशाह हुए, सभी ने सामन्ती व्यवस्था को ही अपनाया। बाबर ने स्वयं अपने साम्राज्य को अनेक सामन्तों तथा अधिकारियों में बाँट दिया। इस प्रकार सारे देश में छोटे-छोटे सामन्ती राज्यों का समूह-सा बन गया था। इन राज्यों के शासक अधिकांशतः शक्तिशाली अमीर, सेनानायक या राजवंश के ही व्यक्ति होते थे। अपने राज्य में होने वाले उपद्रवों तथा मौका पड़ने पर बादशाह की सहायता करने के लिए इन्हें सेना रखने की छूट थी। लेकिन बादशाह के निर्बल होते ही ये सभी शासक, शासन, न्याय तथा स्वेच्छाचारिता के मामले में स्वतन्त्र हो जाते थे। चूंकि बादशाह अपने मलिकों, अमीरों और सरदारों के सहयोग से ही शासन चलाता था, अतः शासन-सम्बन्धी मामलों में इन लोगों का प्रमुख हाथ होता था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि पूरा साम्राज्य सामन्तशाही बन गया था। राज्य का सर्वप्रधान बादशाह होता था जो स्वयं एक बहुत बड़ा सामन्त था। उसके नीचे उसके सहायक सामन्त होते थे जो उसकी इच्छा के अनुसार शासन की

मशीन चलाते थे।

इन सामन्तों के दरबार विलासिता के केन्द्र बन गए। इनके आस-पास ही नगरीय सभ्यता का विकास हुआ और एक खास तरह की संस्कृति विकसित हुई जिसे सामन्ती संस्कृति कहा जा सकता है। सुख-समृद्धि सभ्यता एवं शिष्टता का केन्द्र सामन्ती दरबारों तक ही सीमित रहा। उद्योग-धन्धों, कला-कौशल, ज्ञान-विज्ञान तथा साहित्य की उन्नति सामन्ती दरबारों के आस-पास ही सिमटी रही। ग्रामीण अंचल प्रायः उपेक्षित ही रहे। मुगलों की इस सामन्ती प्रवृत्ति तथा सामन्ती संस्कृति के उदाहरण हमें अप्रत्यक्ष रूप से सूर साहित्य में मिल जाते हैं। एक तरफ निरीह भोले-भाले ग्वालों का समूह है जो नितान्त उपेक्षित है, वहीं दूसरी तरफ मथुरा में अत्याचारी कंस का सामन्ती दरबार है जो हर प्रकार की सुख-सुविधा और वैभव-विलास से सम्पन्न है।

नृप कंस, नन्द के कालीदह के तीन करोड़ कमल-पुष्प मँगाता है। अल्प समय में इतने पुष्प एकत्र करने में असमर्थ नन्द व्याकुल होते हैं। पर किसी तरह पुष्प जुटाया जाता है और कंस के पास पहुँचाया जाता है। पुष्प पहुँचाने के लिए कंस, नन्द तथा अन्यान्य गोपों को पुरस्कृत करता है। वह कृष्ण, बलराम को देखने की इच्छा प्रकट करता है। यह सुनकर नन्द प्रसन्न होते हैं और यह मान लेते हैं कि राजा ने उनकी सेवा स्वीकार कर ली है। ये सब बातें मध्यकालीन भारतीय संस्कृति की सामन्तशाही प्रवृति का अभिद्योतन करती हैं। सूरसागर ऐसे प्रसंगों से भरा पड़ा है।

युद्धों की शृंखला

हमारे देश पर मुसलमानों के आक्रमण करने का एकमात्र उद्देश्य था—यहाँ की अपार सम्पत्ति को लूटना तथा अपने धर्म का प्रचार करना। इसके लिए उन्हें युद्धों का सहारा लेना पड़ा। वस्तुतः मुस्लिम काल का सम्पूर्ण इतिहास युद्धों का ही इतिहास है। प्रारम्भिक शासकों ने यदि यहाँ की बहुमूल्य सम्पत्ति को लूटने के लिए कत्ले-आम किया तो बाद के शासकों ने इस्लाम धर्म के प्रचार तथा राज्य-विस्तार के लिए।

सल्तनतकालीन शासकों ने तो हिन्दू जनता पर इस तरह कहर ढाये, उन्हें इस तरह रौंदा कि जिसे सुनकर आज भी हमारे रोंगटे खड़े हो जाते हैं। महाकवि सूरदास जिस समय पैदा हुए, देश पर लोदी वंश के शासक बहलोल लोदी का शासन था। यद्यपि यह लाहौर और सरहिन्द का सूबेदार था लेकिन तत्कालीन शासक अलाउद्दीन आलमशाह की अयोग्यता और अदूरदर्शिता का लाभ उठाकर

यह दिल्ली का सुल्तान बन बैठा। बहलोल लोदी को अपने जीवनकाल में अनेक युद्ध करने पड़े।

इसके बाद के शासकों सिकन्दरशाह तथा इब्राहिम लोदी का जीवन भी युद्धों में ही व्यतीत हुआ। यह तो स्थिति रही महाकवि सूर के प्रारम्भिक जीवनकाल की। पर उनके जीवन का अधिकांश तो मुगलों के शासन-काल में व्यतीत हुआ। मुगलों ने भी कम युद्ध नहीं किये। मुगल साम्राज्य के संस्थापक बाबर का सारा जीवन ही संघर्ष करते बीता। उसके पुत्र हुमायूँ का भी जीवन संघर्षों में ही व्यतीत हुआ। सूरवंश के संस्थापक शेरशाह सूरी ने भी अनेक युद्ध किये। उसे सिंहासन प्राप्त करने से पूर्व ही अनेक युद्धों का सामना करना पड़ा। सम्राट बनने के बाद भी उसने अनेक लड़ाइयाँ लड़ीं। उसकी मृत्यु के बाद उसके उत्तराधिकारी अपनी सत्ता बचाने के लिए संघर्ष करते रहे। 1555 ई० में हुमायूँ ने सिकन्दरशाह पर आक्रमण किया। सरहिन्द नामक स्थान पर दोनों सेनाओं में भयंकर युद्ध हुआ जिसमें सिकन्दरशाह बुरी तरह पराजित हुआ और सत्ता दुबारा मुगलों के हाथ में आ गई। इस समय देश की दशा कुछ अच्छी न थी। डा० आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव के शब्दों में--"उत्तरी भारत की दशा इस समय अत्यन्त शोचनीय थी। लड़ाइयों का क्रम निरन्तर चलते रहने के कारण देश के विभिन्न स्थानों में बहुत से शौर्यवीर पैदा हो गये थे। इन लोगों द्वारा किये गये अत्याचारों और लूटमार से कृषक-वर्ग ऐसी बुरी दशा में था कि पैदावार एकदम समाप्त-सी हो गई थी। फलतः इस अन्न संकट से दुर्भिक्ष भी पैदा हो गया था। दिल्ली और आगरा के आसपास तो इस दुर्भिक्ष ने बड़ा भयंकर रूप धारण किया। संघर्षरत लोगों के ऊपर प्रकृति का प्रकोप भी कम नहीं था। उन दिनों वर्षा बहुत ही कम हुई थी। अन्न का मिलना भी मुश्किल हो गया। ज्वार रुपये सेर तक बिक जाती थी और कभी-कभी तो इसका मिलना भी कठिन हो जाता था। लोग जंगली घास और पेड़-पौधों की जड़ें तक खाने के लिए बाध्य हो गये थे, उन्हीं दिनों एक भयंकर बीमारी भी फैल गई जिससे लोग घोर संकट में पड़ गये। देश की आबादी घटने लगी। दुर्भाग्यवश आगरा के पुराने किले में एक दिन भयंकर विस्फोट भी हो गया, जिससे शहर की नींव तक हिल गई और बहुत से लोग मर गये। हुमायूं द्वारा दिल्ली के पैतृक सिंहासन पर, पुनः अधिकार करते समय भारतवर्ष की ऐसी दुर्दशा थी।"[7]

सिंहासन पर पुनः आसीन होने पर हुमायूँ के सामने अनेक समस्याएँ थीं। उसका लक्ष्य विद्रोहियों का दमन कर एक सुव्यवस्थित राज्य की स्थापना करना था। लेकिन वह ऐसा न कर सका क्योंकि 27 जनवरी, 1956 ई० को वह इस दुनिया से कूच कर गया।

उसकी मृत्यु के बाद दिल्ली का तख्त उसके बेटे अकबर को मिला। अकबर

को भी शुरू में अनेक युद्धों का सामना करना पड़ा। अकबर को पहला सामना अफगानों से करना पड़ा। आदिलशाह ने शेरशाह का साम्राज्य प्राप्त करने की आशा न छोड़ी थी। हेमू उसका योग्य सेनापति था। जिसने अनेक युद्धों में विजय प्राप्त की थी। आदिलशाह ने उसे विशाल सेना देकर आगरे भेजा जिस पर हेमू ने बड़ी आसानी से कब्जा कर लिया। इसके बाद उसने भागती शाही सेना का दिल्ली तक पीछा किया और मुगल सेनापति वेग से दिल्ली छीनकर उस पर कब्जा कर लिया। दिल्ली सल्तनत पर अधिकार करने के लिए उसने अन्तिम बार मुगलों पर आक्रमण किया। लेकिन युद्ध के मैदान में अचानक तीर लग जाने के कारण उसकी सेना उसे मरा हुआ समझकर भाग खड़ी हुई और वह बन्दी बना लिया गया। इस प्रकार हेमू की पराजय हुई। आगरे पर पुनः अधिकार कर लिया गया। इसके बाद बैराम खां ने अकबर के साथ सिकन्दर सूर का पीछा किया। जहाँ भाग कोट के किले में उसने आत्मसमर्पण कर दिया। इसके बाद ग्वालियर और जौनपुर जीता गया। अकबर की नीति सम्पूर्ण भारत पर अधिकार करने की थी। अतः इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसका प्रथम आक्रमण मध्य भारत के गोंडवाना राज्य पर हुआ। वहाँ रानी दुर्गावती ने वीरतापूर्वक सामना किया किन्तु विशाल शाही सेना द्वारा वह पराजित हुई। देश को मुगलों ने उजाड़ डाला और लूट लिया। इसी बीच विद्रोहियों ने सिर उठाये जिनका पूर्णतः दमन किया गया। इसके बाद चित्तौड़, रणथम्भौर और कालिंजर पर भी अकबर ने अपनी विजय पताका फहराई। अन्य बचे हुए राजपूतों ने भी उसकी अधीनता स्वीकार कर ली। मालवा जीतने के बाद उसने गुजरात पर भी विजय प्राप्त की। इसके बाद अकबर ने बागी सूबे बंगाल को जीतने के लिए दाऊद को भेजा। लेकिन दाऊद स्वयं निरंकुश बन गया। फलतः एक दूसरे सेनापति को भेजा गया जिसने दाऊद को परास्त किया और इस प्रकार बंगाल तथा बिहार का सारा देश अकबर के अधीन हो गया। तत्पश्चात् अकबर का मेवाड़ के राणाप्रताप के साथ युद्ध हुआ। लेकिन इसमें अकबर पूर्णतः सफल न हो सका। राणाप्रताप की मृत्यु के बाद उनके पुत्र अमरसिंह गद्दी पर बैठे। उनके गद्दी पर बैठते ही अकबर ने फिर 1599 ई० में शाहजादा सलीम को मानसिंह आदि सरदारों के साथ भेजा लेकिन यह भी आक्रमण निष्फल ही रहा। उधर बंगाल में मुजफ्फर खां की कठोर नीति के कारण आन्तरिक विद्रोह उठ खड़ा हुआ। लेकिन अजीजकोका और टोडरमल की सहायता से विद्रोहियों का दमन किया गया। काबुल के शासक तथा अकबर के भाई मुहम्मद हकीम ने भी बादशाह बनने की लालच में बगावत शुरू कर दी और पंजाब पर आक्रमण कर बैठा। अकबर ने उसको भी परास्त किया। गुजरात में भी विद्रोह उठ खड़ा हुआ। गुजरात के शासक मुजफ्फर ने पुनः अहमदाबाद पर अधिकार कर लिया। अकबर

ने अब्दुर्रहीम खानखाना को उसके विरुद्ध भेजा, जिसने मुजफ्फर को 1584 ई० में सरखेज की लड़ाई में पराजित किया। मंगोलों के आक्रमण से बचने के लिए उत्तर-पश्चिमी सिमान्त की स्थिति मजबूत करना अकबर के लिए परम आवश्यक हो गया। इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु उसने बर्बर पहाड़ी जातियों का दमन किया। इसके बाद अकबर ने कश्मीर तथा सिन्ध पर भी विजय प्राप्त की।

उत्तर पश्चिम के खतरे से निश्चिन्त होकर अकबर ने दक्षिण की ओर नजर घुमायी। उसने अहमदनगर के निजामशाही राज्य पर आक्रमण किया और चाँद-बीबी की मृत्यु हो जाने पर उसे अपने साम्राज्य में मिला लिया। 1601 ई० में असीरगढ़ को भी हस्तगत कर लिया। इस प्रकार वह सम्पूर्ण भारत का सम्राट बन गया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सूर के सम्पूर्ण जीवन-काल में बहलोललोदी से लेकर मुगल सम्राट अकबर तक युद्धों की शृंखला चलती रही। सूर ने अनेक पदों में इन युद्धों के कारण जन सामान्य के हृदय पर पड़ने वाले प्रभाव तथा उनमें व्याप्त निराशा का अप्रत्यक्ष वर्णन किया है।

प्रभावित ग्रामीण-व्यवस्था

सूर के प्रारम्भिक जीवनकाल में युद्धों का सिलसिला लगातार जारी रहा। ये सभी लड़ाइयाँ जनता की छाती पर ही लड़ी जाती रहीं। युद्धकाल में ग्रामीणजन पिस जाते थे, उनकी फसलें बरबाद हो जाती थीं और स्थिति यहाँ तक पहुँच जाती थी कि उन्हें भूखों मरना पड़ता था। इसके अतिरिक्त युद्धों की शृंखला जारी रहने से उनका मानसिक व्याघात भी होता था। उनके मस्तिष्क में भय और आशंका समायी रहती थी, जिससे वे कोई भी कार्य ठीक से नहीं कर पाते थे। सल्तनतकाल तथा मुगल-काल के प्रारम्भिक वर्षों में तो उन्हें लूट भी लिया जाता था, उनकी सम्पत्ति हड़प कर ली जाती थी तथा उनकी जवान बहू-बेटियों को उठावा लिया जाता था। इन सब कारणों से ग्रामीणों की दशा बड़ी शोचनीय हो गई थी। उनकी आर्थिक दशा भी बहुत अच्छी न थी। यद्यपि पैदावार बहुत ज्यादा होती थी लेकिन लगान की मात्रा अधिक होने तथा मध्यस्त कर्मचारियों द्वारा उपज का अधिकांश हड़प कर लिए जाने के कारण उनकी आर्थिक स्थिति बड़ी खराब हो जाती थी।

सल्तनत काल तथा मुगलकाल के प्रायः सभी शासक निरंकुश ही रहे। उन्होंने ग्रामीणों की दशा सुधारने का कोई प्रयास नहीं किया। सल्तनत युग में तो ग्रामीण हिन्दू जनता को बहुत कष्ट उठाने पड़े। उनके साथ दुर्व्यवहार किया

जाता था। तुर्क सरदारों तथा शासकों को हिन्दुओं की सुन्दर लड़कियों को अपनी पत्नियाँ बनाने का शौक लग गया। इस कारण हिन्दुओं में पर्दा-प्रथा तथा बाल-विवाह का सामान्य रिवाज हो गया। तुर्क-अफगान शासन के 350 वर्षों में मानवीय जीवन का जितना नृशंसतापूर्वक विनाश इस युग में हुआ उतना शायद अन्य किसी युग में नहीं हुआ। हिन्दुओं में प्रचलित अन्धविश्वास ने भी उनकी स्थिति को गिराने में सहयोग दिया। हिन्दुत्व छुई-मुई-सा नाजुक धर्म हो गया था। गाँव के कुएँ में यदि मुसलमान जूठा पानी डाल देते थे तो सारा गाँव स्वतः मुसलमान हो जाता था। राज्य की बहुसंख्यक ग्रामीण प्रजा अपने राजनैतिक और धार्मिक अधिकारों से वंचित थी। राज्य का स्वरूप एकतांत्रिक और निरंकुश होने से प्रजा की कोई आवाज न थी।

मुस्लिमकालीन ग्रामीण जनता के राजनीतिक एवं आर्थिक जीवन का कोई ऐतिहासिक विवरण नहीं मिलता। बादशाह के अधिकृत खालसा नामक प्रदेशों को छोड़कर राज्य द्वारा जनता के आर्थिक विकास, सामाजिक उन्नति, यातायात और संवादवाहन तथा साहित्य और कला के क्षेत्र में विकास का कोई प्रयास नहीं किया गया। इस सम्बन्ध में जो कुछ भी विकास हुआ वह मात्र व्यक्तिगत था। जे० एन० सरकार के शब्दों में—"जहाँ पर किसी भी प्रकार का संगठित ग्राम समुदाय था, वहाँ पर इन कार्यों में ग्रामप्रधान ही नेतृत्व करता था। दूसरे स्थानों पर जमींदार अथवा छोटे राजा ही स्थानीय जीवन के केन्द्र थे।"[8] भूमिकर न चुकाने की स्थिति में ही ग्रामीणों की शांति भंग होती थी अन्यथा उन्हें उपेक्षित, अप्रभावित तथा अपने ही साधनों पर आश्रित रहने दिया जाता था।

सल्तनत तथा मुगल सम्राटों की ओर से गाँवों के लिए कोई विशेष शासन व्यवस्था नहीं की गई थी। केवल भूमि कर वसूली के अतिरिक्त अन्य कोई शासकीय कार्य नगण्य न था। साम्राज्य के अधिकारियों का गाँवों से कोई विशेष सम्पर्क भी नहीं था। प्रान्तीय तथा स्थानीय कर्मचारियों द्वारा लगान की वसूली हो जाती थी। पटवारी भूमि का सारा विवरण रखते थे और कारकुन ग्राम-शासन का हिसाब। शासकीय कर्मचारी और अधिकारी पटवारियों, कारकुनों, मुकद्दमों, कानूनगोओं, चौधरियों और जमींदारों के द्वारा ग्रामीणों पर नियन्त्रण रखते थे। चोरी, डकैती, हत्या, लूटपाट को रोकने के लिए शासन की ओर से थाने स्थापित किये गए थे। इसके अतिरिक्त समय-समय पर प्रान्तीय अधिकारियों का ग्रामीण क्षेत्रों का दौरा हुआ करता था जो ग्रामीणों की फरियादें सुनते थे, उनका निर्णय करते थे या निर्णय का आश्वासन देते थे। दुर्भिक्ष या अन्य संकट काल में शासन की ओर से ग्रामीणों को हरसम्भव सहायता देने का आदेश था। मुगल शासकीय अधिकारियों को यह भी आदेश दिया गया था कि वे अधिक-से-अधिक भूमि को कृषि योग्य बनायें; कुएँ और नहरें खुदवायें; निर्धन, निराश्रित और निःसहाय

कृषकों को सहायता दें; तकावी ऋण की व्यवस्था करें और कृषि तथा कृषकों की दशा सुधारने के लिए खेती-बाड़ी को प्रोत्साहित करने के लिए प्रयत्न करें। परन्तु व्यावहारिक रूप से ऐसा बहुत कम होता था।

सल्तनत तथा मुगलकाल में ग्रामों का प्रबन्ध पुराने युग से चली आ रही ग्राम-संस्थाओं द्वारा ही होता था। डॉ० आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव के अनुसार—"हमारी सबसे बड़ी वैधानिक देन ग्राम प्रशासन के क्षेत्र में थी। भारतवर्ष में युगों से ग्राम-प्रजातन्त्र का सुसंगठित स्वरूप रहा है, जो ग्रामवासियों में भ्रातृभाव फैलाने के साथ ही ग्राम-प्रशासन का कार्य भी सुगमता और पटुता से करता आया है।"[9] मध्यकालीन भारत में ग्राम प्रजातन्त्र अपने में स्वतन्त्र तथा पृथक् इकाइयों के रूप में अवस्थित थे। दिल्ली के सुल्तानों ने भी इनकी इस स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप नहीं किया। शेरशाह सूरी गाँवों के मुखिया, पटवारी तथा चौकीदार जैसे अर्द्ध-सरकारी कर्मचारियों द्वारा ग्रामों से सम्पर्क बनाये हुए था। अकबर ने इस दिशा में और आगे कदम बढ़ाया और उसने ग्राम पंचायतों को न्याय करने वाली संस्था के रूप में मान्यता दे दी। साथ ही पटवारी और चौकीदार का परगने की सरकार से निकटतम सम्पर्क भी स्थापित करा दिया। इसके अतिरिक्त अन्य कोई ऐसा प्रमाण नहीं मौजूद है जिसके आधार पर अकबरकालीन ग्रामीण व्यवस्था की सही झाँकी मिल सके। हाँ! अबुल फजल ने इस दिशा में जरूर कुछ जिक्र किया है। उसके अनुसार—"प्रत्येक गाँव में ग्राम प्रशासन के लिए ग्राम पंचायतें थीं, जिनमें गाँवों में रहने वाले परिवारों के प्रमुख सदस्य रूप में सम्मिलित होते थे। यह पंचायतें ही ग्राम प्रशासन का उत्तरदायित्व संभालती थीं। गाँव की रक्षा, स्वास्थ्य और सफाई, प्रारम्भिक शिक्षा, सिंचाई, चिकित्सा, निर्माण कार्य, न्याय तथा लोगों की नैतिक और धार्मिक उन्नति सम्बन्धी प्रबन्ध और व्यवस्था का भार ग्राम पंचायतों को उठाना पड़ता था। पंचायतें ही ग्राम-निवासियों के खेलकूद, मनोरंजन और आनन्द उत्सवों का प्रबन्ध करती थीं। मुकदमों का फैसला करने के लिए एक पृथक् पंचायत होती थी।···इसके अतिरिक्त जाति-बिरादरी की भी पंचायतें होती थीं, जो बिरादरी तथा कुटुम्बगत झगड़ों को तय करती थीं। प्रत्येक गाँव में एक या दो पहरेदार होते थे। वहाँ एक पुजारी, एक शिक्षक, एक ज्योतिषी, एक बढ़ई, एक लुहार, एक कुम्हार, एक धोबी, एक नाई, एक चिकित्सक तथा एक पटवारी अथवा एक मुनीम भी होता था। ये व्यक्ति ही ग्राम संचालक समझे जाते थे और ग्राम प्रशासन कार्य को ये लोग पारस्परिक प्रेम और सहयोग की भावना से करते थे।

ग्राम स्वावलम्बी होते थे और इनमें रहने वाला प्रत्येक व्यक्ति एक-दूसरे के दुःख-दर्द में सम्मिलित रहता था।[10]

उपर्युक्त ऐतिहासिक तथ्यों को देखते हुए हम यह कह सकते हैं कि सल्तनत

तथा मुगलकाल के कुछ बादशाहों को छोड़कर सभी ने ग्रामीण जीवन को उपेक्षित कर दिया था। उनका केवल लगान या भूमि-कर मात्र से ही सम्बन्ध था। शेरशाह तथा अकबर जैसे कुछ शासकों ने ग्रामीण-व्यवस्था को सुधारने की ओर जरूर कदम बढ़ाये। अन्यथा यह व्यवस्था सदियों पुराने ढाँचे पर ही चली आ रही थी और सम्पूर्ण मुस्लिम काल तक चलती रही।

महाकवि सूर ने शासकों द्वारा उपेक्षित इस ग्रामीण संस्कृति को गले लगाया। उन्होंने अपने काव्य के माध्यम से भारतीय ग्रामीण जन-जीवन की अभिव्यक्ति की। वे ग्राम्य संस्कृति के ही पक्षधर रहे, शहरी या नगरीय संस्कृति के नहीं। स्वयं उनके इष्टदेव भगवान श्रीकृष्ण ग्रामीण जीवन के नायक हैं, लोक के नायक हैं। कृष्ण काव्य के माध्यम से उन्होंने इसी ग्रामीण संस्कृति तथा ग्रामीण जन-जीवन का ही अमर गान किया। उनका सूरसागर ग्राम्य जीवन तथा ग्राम्य-संस्कृति का अक्षय भण्डार है।

राजस्व सम्बन्धी दृष्टि

मुस्लिम शासकों की राजस्व व्यवस्था—जिसमें उसके आय-व्यय इत्यादि सम्मिलित थे—बहुत कुछ इस्लामिक कानून और सुल्तान की इच्छा पर निर्भर थी। शेरा के अनुसार चार प्रकार के टैक्स लिये जाते थे। खिराज, खम्स, जकात और जजिया। इसके अतिरिक्त भी मुसलमानों से एक अन्य प्रकार का टैक्स लिया जाता था जिसे उश्र कहते थे। 'खिराज' गैर मुसलमानों से लिया जाने वाला भूमिकर (मालगुजारी या लगान) था। 'खम्स' युद्ध के दौरान एकत्र किए गए लूट के माल, खानों अथवा भूमि में गड़े हुए खजानों पर लिया जाने वाला कर था। 'जकात' मुसलमानों पर लगाया गया धार्मिक कर था जो केवल धनवान मुसलमानों से ही लिया जाता था। 'उश्र' भी मुसलमानों से लिया जाने वाला भूमिकर था।

'जजिया' गैर मुस्लिम प्रजा—विशेषकर हिन्दुओं से वसूल किया जाता था। इस्लामिक कानून के अनुसार गैर मुस्लिमों को मुस्लिम शासक के राज्य में रहने का अधिकार न था। जजिया देने के पश्चात् ही वे राज्य में रहकर शासक से संरक्षण और जीवन की सुरक्षा प्राप्त कर सकते थे।

उपर्युक्त करों के अतिरिक्त मुसलमानों से वस्तु के मूल्य का 2½ प्रतिशत और हिन्दुओं से 5 प्रतिशत व्यापारिक कर लिया जाता था। इन सबके अतिरिक्त मुद्रा की ढलाई, लावारिस सम्पत्ति तथा अमीरों और प्रान्तीय सूबेदारों द्वारा दी गई वार्षिक भेंटें भी सुल्तान की आय के साधन थे। सुल्तान का मुख्य

व्यय सेना, अपने महल और विभिन्न पदाधिकारियों के वेतनों पर होता था।

राज्य की सम्पूर्ण भूमि चार भागों में विभक्त थी। प्रथम प्रकार की वह भूमि जो दान के रूप में दी गई थी। इस पर राज्य कोई लगान नहीं लेता था। द्वितीय, वह भूमि जो वलियों अथवा मुफ्तियों के अधिकार में थी। इससे यही वली या मुफ्ती लोग लगान वसूल करते थे और अपने शासन के व्यय को पूरा करने के पश्चात् शेष धन सरकारी खजाने में जमा कर देते थे। तृतीय, भूमि वह जो हिन्दू राजाओं के अधीन थी। ये राजा लोग प्रतिवर्ष एक निश्चित धनराशि राज्य को देते थे। चतुर्थ, खालसा भूमि थी जो केन्द्रीय सरकार या सुल्तान की भूमि थी। इससे सुल्तान के कर्मचारी लगान वसूल करते थे। इसकी लगान व्यवस्था का भार सुल्तान और उसके कर्मचारियों पर था। इसके लिए राज्य द्वारा प्रत्येक 'शिक' में 'आमिल' नामक अधिकारी की नियुक्ति होती थी। यह 'आमिल' पटवारी, चौधरी, मुकद्दम, कानूनगो, खूत आदि अधिकारियों की सहायता से लगान वसूल करता था।

लगभग सम्पूर्ण सल्तनत काल में किसानों पर लगान व्यवस्था $\frac{1}{3}$ से लेकर $\frac{1}{2}$ भाग तक रही, और साधारणतया यह लगान सिक्कों के रूप में ही लिया जाता रहा।

इन शासकों के काल में जागीरदारी ही सर्वाधिक महत्वपूर्ण व्यवस्था थी। इन जागीरदारों को शाही खिदमत की पूर्ति के साथ अपने खर्चे से फौज भी रखना पड़ता था, जिससे जरूरत पड़ने पर बादशाह की सहायता कर सकें। इस प्रकार की व्यवस्था में यद्यपि जागीरों की संख्या कम रही लेकिन उनका क्षेत्र अवश्य बड़ा रहा। बादशाह के निजी खर्च के लिए रख लिये गये रक्षित प्रदेश को छोड़कर सारा देश इसी प्रकार की जागीरदारी की व्यवस्था से शासित था। वेतन पाने वाले कर्मचारी तो न के बराबर थे। इस काल में कृषकों का प्रत्यक्ष सम्पर्क इन्हीं जागीरदारों से ही था। सल्तनत का सारा कार्य जागीरदारों के बल पर ही होता था। मुगल शासकों की राजस्व व्यवस्था सल्तनतकालीन शासकों की व्यवस्था से ज्यादा भिन्न न थी। बाबर और हुमायूं के समय तक सल्तनत काल की ही मालगुजारी प्रथा जारी रही।

शेरशाह ने इस व्यवस्था में काफी सुधार किया। किसानों की सुविधा और समृद्धि को ध्यान में रखकर उसने सल्तनत की अव्यवस्था को दूर करने के अनेक उपाय किये। उसने खेतों को नापने की प्रथा का आरम्भ किया और लगान खेतों की नाप के अनुसार निश्चित की। खेती योग्य भूमि को अच्छी, मध्यम और खराब वर्गों में विभाजित कर दिया ताकि लगान भूमि की किस्म के अनुसार वसूल की जाये। सरकारी लगान की राशि समस्त उपज का $\frac{1}{3}$ भाग तय कर दिया। किसानों को छूट दे दी गई कि वे लगान चाहे नकद दें या अनाज के रूप

में। उन्हें लिखित पट्टे भी दिये गये जिसमें जमीन का क्षेत्रफल, भूमि की किस्म और सरकारी लगान की राशि लिखी रहती थी। इसके अतिरिक्त किसानों को प्रोत्साहित किया जाता था कि वे सीधे परगना के खजाने में जाकर लगान चुकायें ताकि गाँव के मुखिया आदि के अत्याचारों से वे बच सकें तथा शासन और किसानों के बीच सीधा सम्पर्क हो सके।

शेरशाह का यह आदेश था कि लगान निश्चित करते समय उदारता बरती जाए और वसूल करते समय कठोरता। भ्रष्ट कर्मचारियों को शेरशाह ने कठोर दण्ड देने की व्यवस्था की। किसानों को आदेश था कि भ्रष्ट कर्मचारियों के खिलाफ कोई शिकायत करनी हो तो उच्च अधिकारियों से सम्पर्क करें। अकाल, दुर्भिक्ष, सूखा पड़ने या अतिवृष्टि के समय सरकार किसानों को सस्ती दरों पर अनाज देती थी। सैनिक अभियान के समय भी खड़ी फसल को नुकसान नहीं पहुँचाया जाता था। यदि किसी कारणवश नुकसान पहुँच भी जाता था तो किसानों को उसका मुआवजा मिलता था। शेरशाह ने हिन्दू और मुसलमान का भेदभाव नहीं बरता। किसानों को लूटने और गुलाम बनाने पर कड़े प्रतिबन्ध लगा दिये गये। सरकारी कर्मचारियों का हर दूसरे-तीसरे वर्ष स्थानान्तरण कर दिया जाता था जिसे भ्रष्टाचार न फैलने पाये। इसके अतिरिक्त किसी भी तरह का अनुचित लाभ लेने वालों के लिए कड़े दण्ड की व्यवस्था की गई थी।

शेरशाह ने भी अपने सैनिक अधिकारियों को जागीरें दीं, लेकिन इस्लाम-शाह ने नगद वेतन देना शुरू किया। उसने जागीरों तथा जागीरदारों के लिए जितने नियम उपनियम प्रचलित थे सबको समाप्त कर दिया। लेकिन उसका यह नियम अधिक दिनों तक नहीं चल सका। उसने स्वयं थोड़े दिनों बाद अपने भाई को एक जागीर दी तथा अन्य कितनों को ही नकद वेतन तथा वृत्तियों के बदले में भूमि देना प्रारम्भ कर दिया।

शेरशाह की मृत्यु के बाद उसके उत्तराधिकारियों ने शेरशाह द्वारा चलाई गई व्यवस्था को ही कायम रखा। सूरवंश के पतन के बाद सम्राट अकबर ने भी शेरशाह की ही व्यवस्था को अपनाया और तब तक उनमें कोई परिवर्तन नहीं किया जब तक उनकी उपयोगिता खत्म नहीं हो गई।

अकबर का इस्लामिक करारोपण के सिद्धांत में विश्वास नहीं था। उसने धार्मिक कर जैसे जजिया तथा यात्रा कर आदि को बन्द करवा दिया। जकात नामक कर भी धीरे-धीरे लुप्त हो गया। अकबर को केन्द्रीय आय व्यापार, टक-सालों, उपहारों, उत्तराधिकारियों, नमक, चुंगी तथा भूमिकर से होती थी। स्थानीय आय चुंगी, नाव, सड़क तथा अन्य करों द्वारा होती थी।

अकबर के शासनकाल में प्रारम्भ में समूचे प्रदेश के लिए प्रति बीघा लगान गल्ले के रूप में आँकी जाती थी और उसे सरकारी भाव से सिक्कों में बदलने

की भी व्यवस्था थी। बाद में प्रति बीघा लगान स्थानभेद से विभिन्न होने लगी परन्तु तब भी गल्लों को सिक्कों में बदलने के लिए सरकारी भाव ही काम में लाया जाता रहा। और भी आगे चलकर प्रति बीघा लगान भी स्थानीय विभिन्नता के आधार पर आँकी जाने लगी, साथ ही उस गले को सिक्कों में परिवर्तित करने के लिए स्थानीय भावों से भी काम लिया जाने लगा। कुछ ही दिनों बाद इस गणना में भी असुविधा होने पर लगान पिछले अनुभवों के आधार पर सिक्कों के ही रूप में लगाई जाने लगी। यही व्यवस्था अकबर के पूरे शासनकाल में लागू रही।

शासक और शासित के बीच बढ़ती दूरी तथा अन्य उत्पन्न समस्याओं का सूर साहित्य पर प्रभाव

सल्तनतकालीन शासकों की तरह मुगलों के समय में भी राज्य का स्वरूप एकतांत्रिक और निरंकुश था। यद्यपि बादशाह की सहायता के लिए वजीर (मंत्री) इत्यादि होते थे लेकिन उसके मन्त्रिमण्डल का कोई वैधानिक स्वरूप नहीं होता था। बादशाह कोई भी महत्वपूर्ण निर्णय अपनी इच्छानुसार लेता था, इस सम्बन्ध में उसे दूसरों की राय मान लेना आवश्यक न था। मुगल बादशाहों ने जागीरदारी का अन्त कर दिया था जिससे राज्य और भी अधिक केन्द्रित हो गया था। शासन में प्रधानता सैनिक तत्व की थी। निरंकुश वातावरण में प्रजा की कोई आवाज न थी। राज्य की बहुसंख्यक प्रजा अपने राजनैतिक और धार्मिक अधिकारों से वंचित थी। राज्य की कल्पना संकीर्ण हो गयी थी और उसका कार्य क्षेत्र सीमित हो गया था। ऐसी परिस्थिति में राष्ट्र, जातीयता, नागरिकता और वैधानिक विकास सम्भव नहीं था।

इस स्थिति में शासक और शासित दोनों के बीच स्पष्ट अन्तर होना स्वाभाविक था। शासक द्वारा जारी किए गए फरमान दूर के प्रान्तों और विशेषकर देहातों में पहुँच ही नहीं पाते थे। प्रजा स्थानीय और जातीय नियमों से ही शासित होती थी। शासक और शासित के बीच के कर्मचारियों में सामन्ती प्रवृत्ति व्याप्त हो गयी थी। प्रजा को लूटना-खसोटना और बेगार लेना ही उनकी वृत्ति बन गई थी।

महाकवि सूरदास पर इन सभी परिस्थितियों का प्रभाव पड़ा। शासकों की इस उपेक्षित नीति के कारण ही उन्होंने राजसी गौरव और सांसारिक वैभव के प्रति सदा उपेक्षा का भाव रखा। कंस के प्रति उनके दृष्टिकोण में हम शासकों के

सम्बन्ध में उनकी मनोवृत्ति का आभास पा सकते हैं। अपने सम्पूर्ण सूरसागर में कवि ने कहीं भी नगरीय जीवन की विलासिता एवं उसके वैभव का वर्णन नहीं किया है। मथुरा के कंस निकन्दन और द्वारिका के रुक्मिणी रमण के प्रति जो आत्मीयता सूर ने दिखाई है, वह उनके ब्रजवासी होने के नाते ही। शासक-रूप में तो कृष्ण सामान्य-जीवन से बड़ी दूर चले जाते हैं, जहाँ तक पहुंच पाना सबके लिए सम्भव नहीं है। क्योंकि वहाँ बाहर तो अनेक भूपों की भीर है और भीतर भोग-भामिनियों की। ऐसे में साधारण ब्रजवासियों के लिए स्थान कहाँ ?

हौं कैसे कैं दरसन पाऊं।
सुनहु पथिक वा देश द्वारिका जौ तुम्हरें संग जाऊं।।
बाहर भीर वहुत भूपनि की बूझत बदन दुराऊं।
भीतर भीर भोग भामिनि की तिहि ठाँ काहि पठाऊं।।[11]

प्रस्तुत पद में मात्र गोपियों की मनःस्थिति का ही संकेत नहीं है वरन् मध्यकालीन शासकीय वृत्ति का भी संकेत है। सूरकालीन शासकों की अनुदारनीति और संकुचित मनोवृत्ति तथा मध्यस्त शासकीय कर्मचारियों की उपेक्षित नीति ने शासक और शासित के बीच एक स्पष्ट विभाजक रेखा खींच दी थी। सरकार अन्धाधुन्ध थी अतः जीवनयापन करना मुश्किल हो गया था।[12] सिंहासन पर विराजमान शासक के सिर पर तो दंभ का क्षत्र रहता था। मन्त्रीगण कुमंत्रणा द्वारा राज्य में द्विविधा, दुःख और उपद्रव की स्थिति उत्पन्न कर रहे थे और दरबार के अन्य सदस्य तथा कर्मचारी अमीर, खवास, द्वारपाल, दास-दासी आदि भी भ्रष्ट होते थे जो राज्यकार्य में विघ्न डालने वाले होते थे। सूर ने अपने एक पद में रूपक के माध्यम से इस स्थिति का चित्रण किया है।[13]

मुगलकाल में कोतवाल शहर की सुरक्षा और शान्ति की व्यवस्था करने वाले होते थे। उनके जिम्मे शहर के व्यवसाय, व्यापार केन्द्रों एवं बाजारों आदि की सुरक्षा का प्रबन्ध होता था। लेकिन कभी-कभी वे दगाबाज और कर्तव्यहीन होकर अत्याचार करने वाले हो जाते थे। सूर ने उनकी इस स्थिति का चित्रण किया है।[14]

उस समय शहरों या कस्बों में न्याय करने के लिए काजी की नियुक्ति होती थी। लेकिन ये लोग निष्पक्ष निर्णय करने के बजाय बादशाह की हाँ में हाँ मिलाने वाले ही होते थे। सूर ने आँखों को राजा रूपी कृष्ण की हाँ में हाँ मिलाने वाले काजी के रूप में वर्णित कर इस स्थिति की ओर संकेत किया है।[15]

उन्होंने ग्राम और ग्रामीण जीवन के साथ-साथ कृषि तथा कृषि सम्बन्धी शासन-व्यवस्था का भी यथार्थ चित्र खींचा है। जमाबन्दी करने के क्रम में लगान का लेखा-जोखा, स्थानीय कर्मचारियों, पटवारियों, कोतवाल की दगाबाजी और

अन्याय, गाँव के ठाकुर की लूटमार एवं इन सबके कारण किसान के त्रस्त होने का रेखाचित्र सूर ने अपनी संवेदनशील लेखनी से किया है ।[16]

भूमि तथा लगान सम्बन्धी शासनाधिकारी निरीह किसान से खेती पकने से पूर्व ही ऋण तथा लगान भरने को कहते हैं। गाँव के पंच भी किसान के विपक्ष में ही फैसला देते हैं। जमाबन्दी आदि का हिसाब लिखने वाला लेखाकार किसान को वही रकम देने का उत्तरदायी ठहराकर उसके लिए साक्षात् यम के रूप में आता है। इन अधिकारियों की विभिन्न शर्तों एवं माँगों की पूर्ति के लिए किसान के घर में रुपयों की थैली नहीं होती । यहाँ तक कि गाँव का महाजन भी उसकी जमानत देने को प्रस्तुत नहीं होता। अत: ऐसी स्थिति में स्थानीय एवं राजकीय शासनाधिकारियों के चंगुल में फँसा हुआ निर्धन किसान अन्त में ठाकुर के शोषण का शिकार हो जाता है ।[17]

सूर ने किसान की जीविका और मुँह की रोटी छीनने वाले पटवारी के कुकृत्यों को भी उजागर किया है कि किस प्रकार गाँव का पटवारी झूठी बही लिखकर किसान के खेत की भूमि में हेर-फेर करता है और अन्त में निरीह किसान गाँव छोड़ने को बाध्य हो जाता है।[18]

सूर ने मात्र इस स्थिति का चित्रण ही नहीं किया है वरन् उन्होंने कृषक रूप में प्रभु या भूस्वामी से प्रार्थना भी की है कि वे अपने नाम का ऐसा प्रभाव चलायें जिससे निरीह किसान गाँव छोड़कर दूसरे स्थान पर जाने को बाध्य न हों और वहीं उन्हीं के गाँव में सुख से रह सकें।[19]

सूरदास ने गरीब किसान के दु:खमय जीवन की कहानी का अन्त स्थानीय कर्मचारियों एवं अधिकारियों के झूठे और अन्यायपूर्ण कृत्यों तक ही नहीं रखा है वरन् राजा का नाम लेकर उसके राजकीय कर्मचारियों, मंत्री, कोतवाल, अमीन द्वारा किये गये अत्याचारों का भी उल्लेख जोरदार शब्दों में किया है।[20] राजा के वजीर का नाम लेकर राज्याधिकारियों की सेना गाँव-गाँव में जाकर प्रत्येक किसान को तंग करती थी । राजा के भेजे हुए घुड़सवार अहदी, किसानों के साथ-साथ उनके कुटुम्बियों को भी लश्कर में बाँधकर पकड़ लेते थे । सूर ने इस दमन और आतंक के चक्र का एक गाँव में ही नहीं वरन् चौरासी गाँवों के घर-घर में होने का उल्लेख किया है।[21]

यही नहीं, सूर ने तत्कालीन लगान वसूल करने वाले अधिकारियों की हेर-फेर का भी उल्लेख किया है। वे आमिल रूप में प्रभु से विनती करते हुए कहते हैं कि हे हरि ! हमको ऐसे अमल की प्राप्ति हुई है जिसमें साबिकजमा माल-गुजारी जोड़ी हुई है तथा उसको भिनजालिक में लिख दिया गया है। इतना ही नहीं वे उच्च अधिकारियों से प्रार्थना करते हुए कहते हैं कि अधिकारियों का हेर-फेर यहीं तक ही नहीं है। वरन् उन्होंने लगान के 'वासिलबाकी' दोनों को

लिखने में अनीति और अधर्म का सहारा लिया है और इस प्रकार 'मुजामिल' में गलत हिसाब लिखकर बड़ी धनराशि को मेरे जिम्मे बकाया निकाला है। अतः सूर लगान सम्बन्धी बहियों और स्याह की जाँच-पड़ताल करने के लिए मुस्तौफी (लेखाकार) की नियुक्ति की बात कहते हैं।[22]

अपने विनय के पदों में सूर ने मध्यकालीन लगान सम्बन्धी व्यवस्था में जमाबन्दी तथा मालगुजारी के हिसाब को विविध बहियों में लिखने, सरकारी कर्मचारियों की उसमें की गई बेईमानी के फलस्वरूप गाँव के भद्रजनों को कैद में डालने का ही वर्णन नहीं किया है वरन् राजकीय कर्मचारियों तथा गाँव के ठाकुर आदि की विषम स्थिति पर भी प्रकाश डाला है।[23]

मुस्तौफी भी अधर्म, असत्य और अनीति के वश में है इसलिए सूरदास अब सर्वोच्च शक्ति प्रभु के चरणों में ही त्राण पाना चाहते हैं। वह मोहर्रिर से बहुत से अधिकारियों के आने पर अपनी विपत्ति के बढ़ जाने की बात कहते हैं। आने वाले ये अधिकारीगण उनका काम बनाने के बजाय बिगाड़ देते हैं और उनके पास तगीरी का आज्ञा पत्र आ जाता है। इससे सूरदास अपनी सुध-बुध खो बैठते हैं और प्रभु या उच्चतम अधिकारी से अपने दस्तक को माफ करने की याचना करते हैं।[24]

इस प्रकार महाकवि सूर ने कृषकों पर राज्याधिकारियों द्वारा मालगुजारी करते समय किए जाने जाले अत्याचारों और हथकण्डों का वर्णन करते हुए मध्यकालीन त्रस्त तथा ऋणी किसान की सच्ची तस्वीर प्रस्तुत कर दी है।

तत्कालीन शासकों की क्रूरता से बचने के लिए लोगों द्वारा अपनी सुरक्षा के लिए अन्यत्र प्रस्थान का सूक्ष्म संकेत भी सूरसाहित्य में मौजूद है।[25]

स्थिति बड़ी विचित्र थी। जिनका मुख देखने पर दुःख उत्पन्न होता था उन्हीं को 'राजा-राय' कहना पड़ता था :

जिनकौ मुख देखत दुख उपजत तिनकौं राजा-राय कहै।[26]

सूर को शासकों की प्रशंसा कभी नहीं भायी। सम्राट अकबर ने भी जब उनसे अपनी प्रशंसा सुननी चाही, तब उसकी प्रशंसा में कुछ न कहकर केवल 'मना तू करि माधौ सौं प्रीति' तथा 'मन में रह्यौ नाहिन ठौर' ही सुनाया। इससे स्पष्ट संकेत मिलता है कि शासकों की प्रजा के प्रति उपेक्षित नीति के कारण ही सूर को ऐसा करना पड़ा। उन्हें तो इस तरह का शासक चाहिए था जो प्रजा का पालन-पोषण कर सके तथा उसके दुःख-दर्दों को समझ सके। साथ ही सशक्त सेना द्वारा देश की बाह्य आक्रमणकारियों से रक्षा करे तथा शासन और व्यवस्था द्वारा प्रजा में आन्तरिक द्वन्द्वों का समाधान करते हुए शान्ति स्थापित करने में प्रयत्नशील रहे।

सूर साहित्य में अभिव्यक्त परिस्थितियों का स्वर सामयिकता और युगबोध को कसौटी पर

महाकवि सूर ने अपने साहित्य में जिन परिस्थितियों को अभिव्यक्ति दी है वे मात्र सामयिक नहीं हैं, युगबोध की कसौटी पर भी वे पूरी तरह खरी उतरने वाली हैं। जिन्होंने जीवन तथा समाज की जिन विसंगतियों का चित्रण किया है वे युग-युग की विसंगतियाँ हैं। इनका निराकरण समाज को स्वस्थ दिशा प्रदान करने के लिए परम आवश्यक है।

प्रायः विद्वान सूर को एकान्तिक भक्त कवि मानकर उनकी उपेक्षा कर देते हैं। लेकिन वे यह भूल जाते हैं कि सूर का काव्य मात्र भक्ति-काव्य ही नहीं है, वह जन-सामान्य का भी काव्य है। उसमें समसामयिक जावन की विडम्बनाओं और विसंगतियों का स्पष्ट चित्रण हुआ है। यदि मध्यकालीन आडम्बरगत धार्मिकता का वीभत्स रूप देखना हो तो सूर का यह पद देखा जा सकता है :

"जरत ज्वाला, गिरत गिरि तें, स्वकर काटत सीस।
देखि साहस सकुच मानत, राखि सकत न ईस।
कामना करि कोटि कबहूं किए बहु पसु-घात।
सिंह-सावक ज्यौं तजें गृह, इन्द्र आदि डरात।"27

उनके ये भक्तिपरक पद तत्कालीन सामाजिक स्थितियों के अध्ययन के लिए मूल्यवान स्रोत हैं। इनसे उन गम्भीर भावों का उद्घाटन होता है, जिनसे उस युग के लोगों का जीवन परिचालित था।

सूर ने अपने आध्यात्मिक पदों में तत्कालीन शासन सत्ता के जिन उपकरणों का प्रयोग किया है, उनकी चर्चा हो चुकी है। जहाँ अधर्मी अमीन हैं, लूटखोर और दगाबाज कोतवाल तथा धनलोभी वजीर है वहाँ बेचारी जनता की क्या दशा होगी, इसका मात्र अनुमान ही लगाया जा सकता है। जिन लोगों ने सूर को समाज से निरपेक्ष कल्पनालोक में विचरण करने वाला तथा पलायनवादी कवि माना है उन्हें सूर के इस वर्णन से सवक लेना चाहिए। सूर ने अपने विनय के पदों में भारतीय जीवन के स्तम्भ किसान, परगना के मुख्य अधिकारी, शिक-दार तथा राज्यसत्ता द्वारा जमाबन्दी व लगान वसूल करने के लिए नियत स्थानीय अधिकारियों और उनकी कार्यप्रणाली पर विशेष प्रकाश डाला है। मुगलकालीन भारत में स्थित ग्राम-किसान, खेती और उसकी मालगुजारी वसूल करने की विविध प्रक्रियाओं का उल्लेख सूर को पलायनवादी नहीं अपितु ठोस यथार्थ का चित्रण करने वाला काव्यकार सिद्ध करता है। उनका काव्य जीवन का संगीत साथ लेकर चलता है। तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक परिस्थितियों ने जो वैराग्य जनमानस में उत्पन्न कर दिया था उसे सूर ने बड़ी

सहजता से धो दिया है। उन्होंने अपने भ्रमरगीत में ज्ञानमार्ग का खण्डन कर प्रेम भक्ति की जो प्रतिष्ठा की है, वह युगीन आवश्यकताओं के पूर्णत: अनुरूप ही है।

मध्यकाल में जीवन को नियन्त्रित करने वाली शक्ति के रूप में धर्म ही प्रतिष्ठित था अत: सामाजिक क्रान्तियाँ भी इसी के माध्यम से हुई हैं। समाज के निचले और पीड़ित वर्ग की मुक्ति-कामना अन्य भक्तिकालीन कवियों की तरह सूर ने भी की है। लेकिन जहाँ निर्गुण भक्त कवियों ने वर्ण-व्यवस्था पर प्रत्यक्ष आघात किये वहाँ सगुण भक्तों ने बिना किसी प्रकार की प्रकट निन्दा के उसके विधान की निर्ममता को दूर किया। सूर ने तो माना है कि भक्तों के भगवान केवल प्रेम के अधीन हैं। उनसे प्रेम करने का जितना अधिकार ब्राह्मण को है उतना ही चण्डाल को भी। वे तो सच्चे प्रीति निबाहक हैं :

स्याम गरीबनि हू के गाहक।
दीनानाथ हमारे ठाकुर सांचे प्रीति निबाहक।
कहा बिदुर की जाति-पांति कुल, प्रेम-प्रीति के लाहक।
कह पांडव के घर ठकुराई अरजुन के रथ वाहक।
कहा सुदामा के धन हो तौ सत्य प्रीति के चाहक।
सूरदास सठ तातैं हरि भजि आरत के दुख-दाहक।।[28]

मध्यकालीन सामन्ती परिवेश में नारी पुरुष की सम्पत्ति थी। उसकी दशा अत्यन्त दयनीय थी। पुरुष मात्र उसका शोषक होता था। वह उसके प्रेम और समर्पण के महत्व को नहीं जानता था। सूर ने अपने भ्रमरगीत में इस पीड़ित नारी के प्रति अपार करुणा और सहानुभूति का प्रदर्शन किया है। उन्होंने गोपियों के उपालम्भों के माध्यम से पुरुष की उपेक्षा और नारी की व्यथा को वाणी दी है :

ऊधौ हमरो दोष नहीं कछु, वे प्रभु निपट कठोर।
हम हरि नाम जपति हैं निसदिन जैसे चंद चकोर।
हम दासी बिन मोल की ऊधौ ज्यौं गुड़िया बिनु डोर।
सूरदास प्रभु दरसन दीजै नाहीं मनसा और।।[29]

सूर ने नारी की उस दशा का चित्रण किया है जो पुरुष द्वारा परित्यक्त होने पर भी उसे मानने के लिए विवश है। तभी तो वह कहती है :

'व्याहौ लाख धरौ दस कुबरी, अन्तहि कान्ह हमारो।'

नारी की यह ममता निश्चित ही श्लाघनीय है।

सूर ने युगबोधीय स्तर पर मनुष्य की 'दुर्बलताओं' का भी चित्रण किया है।

ये दुर्बलताएँ हैं मनुष्य की प्रकृति जिसे बन्धन में नहीं बाँधा जा सकता। उन्होंने मनुष्य की इन्हीं दुर्बलताओं को, उसकी रक्षा के लिए उपयुक्त प्रहरी बना दिया। उन्होंने भजन के पारस पत्थर से स्पर्श कराकर विलासिता रूपी कुधातु को सोना बना दिया है।

वस्तुतः सूर ने अपने सूरसागर में उन मानव-मूल्यों की प्रतिष्ठा की है जिनसे सामयिक समस्याओं के साथ शाश्वत सत्य का निर्वाह भी हो सकता है। सहज स्वस्थ मानव जीवन के प्रति आस्था तथा कृत्रिम वैराग्य और अतिशय भोग या प्रवृत्ति और निवृत्ति के बीच सामंजस्य ही सूर के युग का आदर्श तथा जीवन की समग्रता को लक्ष्य में रखते हुए जीने की सम्यक् पद्धति का अन्वेषण ही उनके युग की चेतना थी। सूर का युगबोध आध्यात्मिकता एवं सांसारिकता, अनासक्ति और उपभोग, सामाजिक बन्धन एवं सामूहिक स्वच्छन्दता के बीच सामंजस्य तथा जीवन को उसकी सम्पूर्णता में स्वीकारना था और इसी की अभिव्यक्ति के लिए ही उन्होंने कृष्ण कथा के पौराणिक मिथक को अपना माध्यम बनाया।

सूर के युग में एक प्रमुख समस्या सामाजिक विघटन की भी थी। और इस विघटन का कारण था वर्ण और वर्ग का भेद। उन्होंने इस समस्या को समाप्त करने का भरसक प्रयत्न किया। सूर ने देशव्यापी धार्मिक एवं सामाजिक विकृतियों का खंडन कर एक आदर्श समाज का स्वप्न देखा था। इसीलिए तो उन्होंने ब्रज को प्रेम की भावना पर आधारित सामाजिक जाति-भेद, कुल-भेद की परिधि से निकाल कर समानता और मानवता की नींव पर खड़ा किया।

सूर ने एक कुशल शासक के समान भी कार्य किया है। जिस प्रकार एक श्रेष्ठ शासक देश व समाज में शान्ति व्यवस्था और सन्तुलन स्थापित करता है, तथा सशक्त सेना द्वारा देश की बाह्य आक्रमणकारियों से रक्षा करता हुआ शासन और व्यवस्था द्वारा प्रजा में आन्तरिक द्वन्द्वों का समाधान करने में प्रयत्नशील रहता है और उसी प्रकार महाकवि सूर ने भी समाज की जनसंचेतना को उभार कर परब्रह्म और आत्मस्वरूप का साक्षात्कार कराने के साथ मानव जाति को नैतिक और सामाजिक मूल्यों तथा गुणों से अवगत कराते हुए शान्तिमय एवं संतुलित समाज की रचना के लिए दिशाबोध किया। उन्होंने अपने चतुर्दिक जीवन से अपने को संयुक्त करके यथार्थ समस्याओं को पूरी गहराई से समझने की चेष्टा की है। इस दृष्टि से हिन्दी के महान कवि हैं। उनका काव्य आज भी हमारे लिए उतना ही उपयोगी है जितना कि मध्यकाल में था।

सूर द्वारा समर्थित सांस्कृतिक जीवन-दृष्टि

महाकवि सूर ने जिस सांस्कृतिक जीवन-दृष्टि का समर्थन किया है, वह लोक से जुड़ी रहने वाली है। उनके काव्य में जीवन की जो पृष्ठभूमि है वह सम्पूर्ण रूप से सामान्य जन-जीवन से सम्बन्धित है। उनका सूरसागर भागवत पर आधारित होते हुए भी आध्यात्मिकता के आग्रह से अलग है। भागवत की आध्यात्मिकता के साथ सूरदास का आग्रह उसके संवेदनात्मक पक्ष के निर्वाह की ओर अधिक है। उन्होंने भागवत के अध्यात्मोन्मुख कथा-प्रसंगों के भीतर से मानवीय संवेदना को उभारा है। इसके मूल में है सूर की लोकधर्मी जीवन-दृष्टि। उन्हें अपने चतुर्दिक फैले जन-जीवन और समाज की गहरी और अन्तरंग पहचान है और इसी पहचान के कारण ही उनके काव्य को गरिमा और महत्ता भी मिली है। श्रीमती शान्ता सिंह के शब्दों में—"लोक जीवन की आतमीय सहजता, सम्बन्धों की अनौपचारिक ऊष्णता, निर्व्याज उन्मुक्तता वस्तुतः यही सूर-काव्य को गरिमा प्रदान करता है, उसे साहित्य का मुकुटमणि बनाता है, सूर को काव्याकाश का अप्रतिम सूर्य बनाता है। भक्ति-सिद्धान्तों का निदर्शन परम्परा-पालन का परिणाम है, आनुषंगिक है। इस एक प्रयोजन, भक्तितत्व की व्यंजना के अतिरिक्त सूर ने शिशु और माता, पत्नी और प्रिया, किशोर और वयस्क, पुरुष, सखा और प्रेमी जिसका भी चित्रण किया है उसकी सहज मानवीय संवेदना को ही पकड़ने की चेष्टा की है। उसके मर्म को लक्षित करने में सूर की निःसर्ग सहृदयता कभी चूक नहीं करती।"[30]

सूर द्वारा समर्थित संस्कृति ग्राम्य संस्कृति है, नगरीय नहीं। उसमें स्थान के तो केवल सामान्य लोगों के ही लिये। उनके चरित-नायक श्रीकृष्ण भी जिस गोप-जीवन के बीच विकास करते हैं वह राजसी ठाट-बाट और ऐश्वर्य की दृष्टि से बहुत दरिद्र है। वे वन में मृगया के लिए नहीं, वरन् गाय चराने के लिए जाते हैं। गोकुल में उनका सम्पूर्ण जीवन एक सामान्य गोप-बालक के जीवन की तरह व्यतीत होता है। अन्य गोप-बालकों के साथ वे भी अपनी गायें चराने जाना चाहते हैं :

> हौं अपनी सब गाइ चरैंहौं।
> प्रात होत बल कैं संग जैंहौं, तेरे कहैं न रैंहौं।

माँ यशोदा उन्हें प्रेमवश अनेक तरह से समझाती हैं लेकिन वे मानते ही नहीं। उनका तो तर्क है कि :

> और ग्वाल सब गाइ चरैंहैं मैं घर बैठो रैंहौं।

अतः विवश होकर माँ को कहना पड़ता है कि अब तुम सो जाओ, सुबह मैं तुम्हें जाने दूंगी :

'सूर स्याम तुम सोई रहौ अब, प्रात जान मैं दैहौं ।'[31]

प्रातः होने पर कृष्ण आनन्द मुद्रा में गाय चराने के लिए दौड़ पड़ते हैं :

अति आनन्द भए हरि धाए ।
हेरत ग्वाल बाल सब आवहु, मैया मोहि पठाए ।
उत तैं सखा हंसत सब आवत, चलहु कान्ह बन देखहिं ।
वनमाला तुमकौं पहिरावहिं, धातु चित्र तनु रेखहिं ।[32]

फिर क्या था ? अब तो वे गोप बालों की सेना के साथ बन-बन धेनु चराते हुए फिरने लगे :

बन-बन फिरत चारत धेनु ।
स्याम हलधर संग-संग बहु गोप-बालक-सेनु ।[33]

एक सामन्त के यहाँ जन्म लेकर भी सूर के कृष्ण इसी तरह का सामान्य जीवन व्यतीत करते हैं । वस्तुतः सूर के द्वारा कृष्ण का यह चित्रित जीवन-परिदृश्य इसी कारण हमें बहुत परिचित और आत्मीय लगता है । इस ग्राम्य-जीवन में हमें सहजता, सरलता और निश्छलता के दर्शन होते हैं । यहाँ दिल के साफ लोग रहते हैं, दिल के काले नहीं । दिल के काले तो मथुरा में रहते हैं । गोपियाँ उद्धव से कहती हैं :

बिलग जनि मानौ ऊधौ प्यारे ।
वह मथुरा काजर की ओबरी, जे आवें ते कारे ।[34]

इसके विपरीत ग्रामीण समाज में सहज आत्मीयता के मानदण्ड ही अलग होते हैं । वहाँ पारस्परिक व्यवहार का निर्धारण सामाजिक या जातीय आधारों पर नहीं होता । पूरा गाँव अनेक परिवारों का समूह नहीं, बल्कि एक बड़ी पारिवारिक इकाई-सा होता है, जिसमें सबके बीच पारिवारिक सम्बन्धों के अनुसार छोटे-बड़े का अधिकार और स्थान तय होता है। नन्द और यशोदा गाँव के बड़े हैं इसलिए उन्हें गाँव के लोगों को डाँटने-डपटने या समझाने का पूरा हक है । लेकिन नहीं, सामाजिक असमानताजन्य कटुता के निवारण का यह कैसा समाधान है । यशोदा नन्द की पत्नी है तो क्या हुआ, गलती या असावधानी करने पर उन्हें भी डाँट पड़ेगी । वे बालक को अकेला आँगन में खेलता हुआ छोड़ देती हैं कि अचानक आँधी आती है और कृष्ण उसमें गायब हो जाते हैं । लेकिन यह तो उनका भाग्य अच्छा था इसलिए बच गये । यशोदा की इस असावधानी पर एक ग्वालिनि उन्हें डाँटते हुए कहती है :

भली नहीं यह प्रकृति जसोदा, छांड़ि अकेली जाति।
गृह कौं काज उनहूं तें प्यारी, नेंकहुं नाहिं डराति।[35]

एक आत्मीय समाज में एक बालक सबका बालक होता है, एक की खुशी सबकी खुशी होती है। वहाँ बड़े-बूढ़े सबको डाँटने-फटकारने के अधिकारी होते हैं। वस्तुतः इस जीवन में लोक-मन का हर्ष-विषाद, क्रोध-लोभ, आवेश और आह्लाद सब कुछ पुस्तक के खुले पृष्ठ के समान प्रत्यक्ष होता है। निष्कपट, निश्चल अकृत्रिम लोक व्यवहार की यह सहज शोभा हमें अन्यत्र नहीं मिलेगी।

कृष्ण अब बड़े हो गये हैं। वे घर-घर माखन चुराने जाने लगे हैं। ग्वालिनें शिकायत लेकर आती हैं। लेकिन यशोदा पर तो अपना बड़प्पन सवार है। वे बड़बड़ाने लगती हैं कि मेरे तो ईश्वर का दिया हुआ बहुत-सा दूध-दही है। दूसरे लोग भी मेरे यहाँ से आकर खा-पी जाते हैं। यदि तेरे घर मेरा पुत्र चला ही गया और भूल से थोड़ा-सा पी ही गया तो तू ऐसे गरज रही है जैसे घोड़े पर चढ़कर आई है :

मेरे बहुत दई कौ दीन्हौ, लोग पियत हैं औरें।
कहा भयौ तेरे भवन गये जो पियौ तनक तैं भोरैं।
ता ऊपर काहे गरजति है मनु आई चढ़ि घोरैं।[36]

लेकिन ग्वालिनें कहाँ चुप रहने वाली हैं। एक दिन का किस्सा हो तो वे बर्दाश्त भी कर लें लेकिन यह तो रोज-रोज का किस्सा हो गया है। अतः वे यशोदा से स्पष्ट कह देती हैं :

अपनो गाउँ लेउ नंदरानी।
बड़े बाप की बेटी पूतहिं भले पढ़ावति बानी।[37]

वे यशोदा से यह भी कह देती हैं कि क्या अपनी जाति वालों से झगड़ा करके दूसरी जाति वालों को अपने आसपास बसाने का इरादा है :

जाति-पांति के लोग न देखत और बसैहै नैरी।[38]

तुम अपने बेटे को मना नहीं कर सकतीं, एक तुम्हारा ही अनोखा बेटा है क्या ? :

सूर श्याम को हरकि न राखै तैं ही पूत अनोखौ जायौ।[39]

गोपियाँ बेहद खीझ जाती हैं और कहती हैं कि अब तो ब्रज का बसना ही छोड़ना पड़ेगा क्योंकि यशोदा तो ऊसर की वर्षा की तरह उतरा चली हैं :

ह्यां लगि नैकु चलौ नंदरानी।
हमैं तुम्हैं रिस बैर कहां को आनि दिखावत ज्यानी।
या ब्रज को बसिबौ हम छांड्यौ सो अपने जिय जानी।
सूरदास ऊसर की बरषा थोरे जल उतरानी ॥[40]

इतनी जली-कटी शिकायतों, उलाहनों और तानों से तंग आकर जब माँ यशोदा गुस्से में भरकर कृष्ण को ऊखल से बाँध देती हैं तो यही गोपियाँ कृष्ण की ओर से सिफारिश भी करने लगती हैं :

जसुदा तेरो मुख हरि जोव।
जो तेरौ सुत खरो अचगरौ, तऊ कोखि कर जायौ।[41]

एक तो झल्लाकर यहाँ तक कह देती है :

ऐसी रिस तोकौ नंदरानी।
भली बुद्धि तेरे जिय उपजी बड़ी बैस अब भई सयानी।
ढोटा एक भयौ कैसेहुं करि कौन-कौन करबर विधि मानी।
क्रम क्रम करि अबलौ उबर्यौ है ताको मारि पितर दै पानी।
को निरदई रहै तेरे घर, को तेरे संग बैठे आनी।[42]

वस्तुत: क्रोध-क्षोभ का ऐसा अनावृत-अकुंठरूप, परम आत्मीयता, अखण्ड विश्वास और सौहार्द्र ग्राम्य-जीवन में ही सम्भव है। नागरिक जीवन की शिष्ट औपचारिकता हमें सहज भावोद्रेक को अनेक पर्तो के भीतर अवरुद्ध करके जीना सिखाती है।

सूर द्वारा वर्णित ग्राम्य समाज, भरा-पूरा जीवन्त समाज है। उसमें ऐसे कामों का अनुकरण नहीं करने दिया जाता, जिससे परिवार की मर्यादा नष्ट हो। राधा ऐसा ही कार्य करती है। वह कृष्ण से लुक-छिप कर प्रेम करती है; इसकी चर्चा सभी गाँव वालों ने सुन रखी है। अत: साँसें अपनी-अपनी बहुओं को राधा के कुसंग से बचने के लिए सावधान करती हैं :

सासु ननद घर त्रास दिखावें।
तुम कुल वधू लाज नहिं आवति बार-बार समुझावें।
राधा कौ तुम संग करत हौ ब्रज उपहास उड़ावें।
वे हैं बड़े महर की बेटी, तौ ऐसी कहवावें।
सुनहु सूर यह उनहीं फाबै, ऐसी कहति डरावें।।[43]

परिवार के गुरुजन कहते हैं कि हम साधारण ब्रजवासी अहीर हैं, ऐसी चाल चलो कि कोई हँसे नहीं। तुम तो कुलवधू हो, तुम्हें निर्लज्ज आचरण नहीं करना

चाहिए। राधा की करनी तो उसे ही शोभा देती है। तुम उसके साथ मत जाना। राधा जो कर रही है वह करे, पर तुम कोई ऐसा कार्य मत करना जिससे समाज के उपहास का पात्र बनो। यह स्थिति वधुओं की ही नहीं है। स्वयं राधा को भी इसी स्थिति का सामना करना पड़ता है। वह कृष्ण से अपनी विपत्ति कहती है कि हमें माता-पिता डराते हैं, भाई मारने को घिराते हैं। माँ कहती है कि तुम कुलीन घर की लड़की हो तुम्हें लज्जा नहीं आती ? पिता मन-ही-मन में क्रोधित होते हैं, बहन कुल कलंकिनी कहकर गाली देती है :

मातु-पिता अति त्रास दिखावत।
भ्राता मोहिं मारन कौं घिरवैं, देखें मोहिं न भावत।
जननी कहति बड़े की बेटी, तोकौं लाज न आवति।
पिता कहै कैसी कुल उपजी, मनहीं मन रिस पावति।
भगिनी देखि देति मोहिं गारी काहैं कुलहिं लजावति।
सूरदास प्रभु सौं यह कहि-कहि, अपनी विपति जनावति ॥[44]

सूर ने ऐसी संस्कृति को अपनाया है जो एकदम निश्छल है। इसमें छलकपट के लिए कोई स्थान नहीं है। वह आदर्शारोपण से मुक्त है। तभी तो सूर की सीता ग्रामवधुओं को उत्तर देती हुई कहती है :

सासु की सौति सुहागिनि सो सखि पिय की अति ही प्यारी।
अपने सुत कौं राज दिवायौ हमकौं देस निकारी ॥[45]

वस्तुतः सीता के इस कथन में अन्याय के विरुद्ध अकृत्रिम क्षोभ और परिस्थिति की सहज व्याख्या है, जो स्वाभाविक है। तात्पर्य यह कि किसी प्रकार के आदर्शारोपण से मुक्त, सहज लोकानुभव सूर के काव्य का महत्वपूर्ण तत्व है। लोक संस्कृति की जितनी गहरी और व्यापक जानकारी उन्हें है वह आश्चर्य में डालने वाली है। लोक-परम्पराओं और व्यवहारों तथा लौकिक उत्सवों और संस्कारों का ज्ञान, लोक भाषा की भंगिमा, लोकगीतों के छन्द और अभिव्यंजना की पद्धति तक का जो प्रयोग कवि ने किया है वह तो है ही, निर्गुण-सगुण जैसे शास्त्रीय विषय में भी उन्होंने भक्ति की उत्कृष्टता को प्रमाणित करने के लिए लोक-ग्राह्यता को ही आधार बनाया है। सूरदास ने बड़े कौशल से इस तात्विक विषय को व्यावहारिक स्तर पर लोक-ग्राह्यता के प्रश्न से जोड़ दिया है। उनका मत है कि जो लोक में ग्राह्य हो वही सर्वोत्कृष्ट है। गोपियाँ कहती हैं कि प्रेम से पहले परिचय आवश्यक है। जिस 'निरगुन' को हम जानती ही नहीं उससे प्रेम कैसे करें :

रूप रहित निरगुन नीरस नित निगमहु परत न जानि ।
सूरजदास कौन विधि तासौं अब कीजै पहिचानि ।।[46]

उनके लिए तो निर्गुण-चर्चा पानी में से मक्खन निकालने, सोने के मृग देखने या बिना भित्ति के चित्र बनाने जैसी है :

कंचन को मृग कौने देख्यो किन बांध्यौ गहि डोरी ।
कहि धौं मधुप वारि तें माखन कौने भरी कमोरी ।[47]

वे उद्धव से कहती हैं कि यदि आप सचमुच कृष्ण के मित्र हैं और हमारे दुःखों को दूर करने की सद्भावना लेकर आए हैं तो वही कीजिए जिससे हमारा दुःख दूर हो :

"हमकौ हरि की कथा सुनाउ ।
ये आपनी ज्ञान गाथा अलि मथुरा ही लै जाउ ।
जो सुचि सखा स्याम सुन्दर कौ अरु जिय में सति भाउ ।
तौ बारक आतुर इन नैननि हरि मुख आनि दिखाउ ।
जो कोउ कोटि करै कैसेहुं विधि बल विद्या व्यवसाउ ।
तउ सुनि सूर मीन कौ जल बिनु नाहिन और उपाय ।।[48]

गोपियों का सबसे बड़ा तर्क यह है कि जो इन्द्रिय ग्राह्य है, अनुभवगम्य है, प्रत्यक्ष ही सुख का कोष लुटा देने वाला है, उसे छोड़कर कौन निर्गुण ग्रहण करे और जोग सीखे :

ए अलि कहा जोग में नीको ।
तजि रस रीति नन्दनन्दन की सिखवत निरगुन फीकौ ।[49]

वस्तुतः सूर काव्य के शाश्वत रस का अक्षय स्रोत उसमें लोक-जीवन की मटियाली गन्ध का टटकापन है, नैसर्गिक जीवन का थिरकता उल्लास है। पारस्परिक सम्बन्धों की सहज हार्दिकता का माधुर्य है। सूर द्वारा समर्थित जीवन-दृष्टि ही ऐसी है जिसे कभी छोड़ने को मन नहीं करता। राजसी सम्पन्नता के बीच पहुँचकर भी कृष्ण का मोह अपने गोकुल के प्रति ही है :

ऊधो मोहिं ब्रज बिसरत नाहीं ।
हंससुता की सुन्दर कगरी अरु कुंजन की छांहीं ।
वे सुरभी वे बच्छ दोहनी खरिक दुहावन जाहीं ।
ग्वालबाल सब करत कोलाहल नाचत गहि-गहि बांही ।
यह मथुरा कंचन की नगरी मनि मुक्ताहल जाहीं ।
जबहिं सुरति आवति वा सुख की जिय उमगत तन नाहीं ।

अनगन भांति करी बहु लीला, जसुदा नंद निबाहीं।
सूरदास प्रभु रहे मौन ह्वै यह कहि-कहि पछिताहीं ।।[50]

यद्यपि मथुरापुरी अत्यन्त मनोहर है फिर भी व्रज की सुधि 'नैकुहूँ' नहीं जाती :

व्रज सुधि नैकुहूं नहिं जाइ।
जदपि मथुरापुरि मनोहर, बिरद जादौराइ।
जौ कोऊ कहि कान्ह टेरत, चौंकि चितवत धाइ।
ग्वालिनी अवलोकि पाछैं रहति सीस नवाइ।
देखि सुरभी बच्छ हित जल रहत लोचन छाइ।
सृंग बेनु विषान सुनिकै, उठत हेरी गाइ।
देखि पत्र पलास के अलि, रहत उर लपटाइ।
आनि छबि वै वान कै प्रभु पिवत जल मुसुकाइ।
मोर के चंदवा धरनि तैं, स्याम लेत उठाइ।
छाक छवि कै कोस भोजन हंसत दधि परसाइ।
कुंज केलि समान नाहीं सुरपुरी सुखदाइ।
बीसर्यौ नहिं सूर कबहूं, नंद जसुदा माइ।[51]

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने सूर काव्य के इस वैशिष्ट्य को लक्ष्य करते हुए लिखा है—"असल में सूरसागर शास्त्रीय वैष्णव-भक्तिशास्त्र से प्रेरणा अवश्य लेता है पर शास्त्रीय की अपेक्षा लोक-धर्म के अधिक निकट है···लोक-जीवन को गोप-गोपाल-लीला के बहाने उन्होंने अत्यन्त जीवन्त रूप में उजागर किया।"[52]

सूर की जीवन-दृष्टि के सम्बन्ध में हम निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि सूर ने लोक को पहचाना है, अपनी संस्कृति को पहचाना है, जीवन के मूल स्रोत को पहचाना है। उनके काव्य के अभिनव सौन्दर्य का यही रहस्य है।

संदर्भ

1. मुगलकालीन भारत—आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव, पृ० 194।
2. सूरसागर, प्रथम स्कंध, पद-64।
3. वही।
4. वही।
5. वही, पद 143।
6. वही, पद 185।
7. मुगलकालीन भारत—आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव, पृ० 134।
8. मुगल एडमिनिस्ट्रेशन—जे० एन० सरकार, अनु० विजयनारायण चौबे।
9. मुगलकालीन भारत—आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव।
10. उद्धृत—मुगलकालीन भारत—आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव।
11. सूरसागर, दशमस्कन्ध, पद 4257।
12. 'सूरस्याम कैसे निबहैगी अन्धाधुन्ध सरकार।'
13. देखिए : सूरसागर, प्रथम स्कन्ध, पद 141।
14. वही, प्रथम स्कन्ध, पद-64।
15. वही, दशमस्कन्ध, पद 2875।
16. वही, प्रथमस्कन्द, पद १85।
17. देखिए : सूरसागर, प्रथमस्कन्ध, पद १85।
18. वही।
19. वही।
20. देखिए : सूरसागर, प्रथमस्कन्ध, पद 64।
21. वही।
22. वही, पद 143।
23. वही।
24. देखिए : सूरसागर, प्रथमस्कन्ध, पद 143।
25. साहित्य लहरी (सम्पा० डॉ० मनमोहन गौतम), पद 36।
26. सूरसागर, प्रथमस्कन्ध, पद-53।
27. सूरसागर, प्रथमस्कन्ध, पद 106।
28. वही, पद 19।
29. सूरसागर, दशमस्कन्ध, पद 3636।
30. सूरदास : कला एवं जीवन-दृष्टि—श्रीमती शांता सिंह, पृ० 100।
31. सूरसागर, दशमस्कन्ध, पद 420।
32. वही, पद 426।
33. सूरसागर, दशमस्कन्ध, पद 427।

34. सूरसागर, दशमस्कन्ध, पद 3764।
35. सूरसागर, दशमस्कन्ध, पद 697।
36. वही, पद 939।
37. वही, पद 940।
38. वही, पद 942।
39. वही, पद 949।
40. वही, पद 955।
41. वही, पद 964।
42. वही, पद 986।
43. वही, पद 2540।
44. वही, पद 2559।
45. सूरसागर, नवम्स्कन्ध, पद 488।
46. सूरसागर, दशमस्कन्ध, पद 4161।
47. वही, पद 171।
48. वही, पद 4238।
49. वही, पद 4317।
50. वही, पद 4777।
51. वही, पद 4778।
52. आलोचना, अंक 44, लेख—सूरकाव्य : प्रेरणा और स्रोत—डा० हजारी-प्रसाद द्विवेदी।

4

सूर की भक्तिभावना : एक प्रासंगिक सन्दर्भ

भक्ति आन्दोलन की पृष्ठभूमि

किसी भी महान् आन्दोलन को जन्म देने में तत्कालीन परिस्थितियों का बहुत बड़ा हाथ रहता है। युग की आवश्यकता की पूर्ति ही आंदोलन को व्यापक रूप देने में सहायक हो जाती है। ईसा की पन्द्रहवीं और सोलहवीं शताब्दियों में हिन्दी प्रदेश में जो व्यापक भक्ति आन्दोलन चला, उसके पीछे कई शताब्दियों की राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक परिस्थितियों के स्वाभाविक परिणाम का इतिहास है।

मध्ययुग में मुसलमान शासकों की कट्टर धार्मिक नीति, इस्लाम के प्रचार में उनके द्वारा किये गये अत्याचार, हिन्दू जनता की उदासी, समाज में वर्णव्यवस्था की कठोरता, उच्चवर्ग का भोग-विलासपूर्ण जीवन, शूद्रों की दयनीय स्थिति, धार्मिक क्षेत्र में पतित अवस्था आदि सभी बातों ने मिलकर एक व्यापक सुधार-वादी आन्दोलन की नींव डाली। इस युग में एक ऐसे समाज-सुधारवादी आंदोलन की आवश्यकता थी, जिसमें ऊंच-नीच के भेद-भाव से रहित, सबको समान रूप से समाज में आदर मिल सके और धर्म के क्षेत्र में भक्ति का सरल रूप प्रदान कर आत्मशांति प्राप्त करने का अवसर उपलब्ध हो सके।

डॉ० मलिक मोहम्मद के शब्दों में—"जब उत्तर भारत में धर्म की यह पतित अवस्था थी तब दक्षिण में आलवारों से प्रसारित वैष्णव भक्ति आंदोलन उत्तरोत्तर बल प्राप्त कर तेरहवीं, चौदहवीं शताब्दियों में एक व्यापक जन-आंदोलन बन चुका था। आलवारों के वैष्णवभक्ति आंदोलन में उत्तरभारत की धार्मिक

अवस्था में दृष्टिगोचर होने वाले सभी रोगों के लिए उचित औषधियाँ उपलब्ध थीं। जिन परिस्थितियों ने तमिल प्रदेश में वैष्णव भक्ति आंदोलन को (आलवारों के द्वारा) जन्म दिया, लगभग वे ही परिस्थितियाँ तेरहवीं, चौदहवीं शताब्दियों में हिन्दी प्रदेश में वर्तमान थीं।"[1] उत्तर भारत की इस पतित धार्मिक अवस्था को सुधारने के लिए दक्षिण का भक्ति आंदोलन पूर्णतः समर्थ था और उसने मध्यकाल की ऐसी परिस्थिति में उत्तरभारत को पूर्णरूपेण प्रभावित किया।

अब प्रश्न उठता है कि दक्षिण का भक्ति आंदोलन कहाँ से आया? इस विषय में विद्वानों के विभिन्न मत हैं। कुछ विद्वानों के अनुसार भक्ति आंदोलन का प्रवर्तन विदेशी धर्मों के सम्पर्क का परिणाम है। फ्रासेट, वार्थ और डॉ० ताराचंद आदि विद्वान भारतीय भक्ति का सम्बन्ध मोहम्मदी धर्म से जोड़ते हैं। इन लोगों का कथन है कि अरबों ने बहुत पहले ही दक्षिण के भारतीय समुद्रीतट से अपना सम्बन्ध स्थापित कर लिया था। इन्हीं स्थानों पर शंकराचार्य, रामानुज तथा आनन्दतीर्थ आदि के भक्ति आंदोलन का जन्म हुआ। डॉ० ताराचंद ने लिखा है—"भक्ति धर्म के स्वरूप घटक एकेश्वरवाद प्रपत्तिसिद्धांत, इस्लाम धर्म के विशिष्ट तत्व हैं। इस्लाम का अर्थ ही है—'प्रपन्न होना'। इस धर्म का प्रभाव मुसलमानी राज्य जमने के पूर्व ही भारत में फकीरों के माध्यम से परिव्याप्त हो चुका था।"[2]

इसका उत्तर देते हुए डॉ० रामनरेश वर्मा ने लिखा है—"यह सत्य है कि मोहम्मदी धर्म का प्रभाव उत्तरभारत के निर्गुनियाँ संतों और दक्षिण भारत के महानुभाव पंथ में मिलता है। यह भी ठीक है कि भक्ति आंदोलन के पूर्व ईसा की आठवीं शताब्दी से ही भारत में मुसलमानों के निवास का साक्षी इतिहास है। साथ ही इतिहास से इसका भी प्रमाण मिलता है कि भारतीय दर्शनों की ज्ञान-प्राप्ति के निमित्त इक्के-दुक्के मुसलमान फकीरों का आवागमन होता था। 'हल्लाज', 'जिली' और संभवतः 'अरबी' यहाँ आए थे। किन्तु वेदांत से प्रभावित होकर इन्होंने इस्लाम में नवीन प्रवृत्तियों का समावेश किया। सूफियों में 'इंसानुल कामिल' की प्रतिष्ठा मोहम्मदी धर्म के प्रतिकूल है। कदाचित् भारतीय 'पुरुषोत्तम' या 'पूर्ण-पुरुष' का यह इस्लामी रूपांतर हो। प्रपत्ति और सगुण ईश्वर के तत्व भारत की प्राचीन परम्परा में ही विद्यमान थे। इसलिए वैष्णव भक्ति के इन तत्वों को मोहम्मदी धर्म की देन नहीं कहा जा सकता। सबसे पहले तो कतिपय पर्यटकों के प्रभाव से इस महान् भक्ति आंदोलन का सूत्रपात ही असंभव है। दूसरे शंकराचार्य या रामानुजाचार्य पर साक्षात् या पारम्परिक किसी प्रकार के मोहम्मदी धर्म के प्रभाव का निश्चित प्रमाण नहीं मिलता।"[3]

भक्ति आंदोलन के अभ्युदय के बारे में डॉ० ग्रियर्सन का मत है कि यह

ईसाइयत की देन है। ईसवी सन् की दूसरी या तीसरी शताब्दी में नेस्टोरियन ईसाई मद्रास प्रेसीडेंसी के कुछ हिस्सों में आ बसे थे और रामानुजाचार्य को इन्हीं ईसाई भक्तों से भावावेश और प्रेमोल्लास के धर्म का संदेश मिला।[4] बेवर और तासेन नामक विद्वानों ने भी भक्ति को ईसाइयत की देन माना है। लेकिन अब ग्रियर्सन तथा उक्त विद्वानों की मान्यताओं का पूर्णतः खण्डन हो चुका है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने राजनीतिक अराजकता, सामाजिक दुर्व्यवस्था और धार्मिक अत्याचारों को ही भक्ति-आंदोलन का मूल माना है, और कहा है कि "अपने पौरुष से हताश जाति के लिए भगवान की शक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था ?"[5] लेकिन डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में—"यह बात अत्यन्त उपहासास्पद है···मुसलमानों के अत्याचार के कारण यदि भक्ति की भावधारा को उमड़ना था तो पहले उसे सिंध में और फिर उत्तरभारत में प्रकट होना चाहिए था, पर हुई वह दक्षिण में। असल बात यह है कि जिस बात को ग्रियर्सन ने अचानक बिजली की चमक के समान फैल जाना लिखा है, वह ऐसा नहीं है। उसके लिए सैकड़ों वर्ष से मेघ-खण्ड एकत्र हो रहे थे। फिर भी ऊपर से देखने पर लगता है कि उसका प्रादुर्भाव एकाएक हो गया। इसका कारण उस काल की लोक प्रवृत्ति का शास्त्रसिद्ध आचार्यों और पौराणिक ठोस कल्पनाओं से युक्त हो जाना है।[6]

ये शास्त्रसिद्ध आचार्य दक्षिण के वैष्णव थे। ईसवी सन् की सातवीं शताब्दी से और किसी-किसी के मत से तो और पूर्व से ही दक्षिण में वैष्णव भक्ति ने बड़ा जोर पकड़ा। इसके पुरस्कर्ता आलवार भक्त कहे जाते हैं। आलवारों की यह भक्ति उत्तरभारत की ही भक्ति थी। वैदिककाल से लेकर बौद्ध काल तक वैष्णव धर्म का उत्थान-पतन कई नामों से होता रहा। उस समय वह नारायणीय अथवा वासुदेव धर्म के नाम से प्रसिद्ध था। प्रारम्भ में इसका प्रचार उत्तरभारत में था लेकिन धीरे-धीरे वह मध्यदेश होता हुआ सम्पूर्ण दक्षिण तक पहुँच गया। लेकिन जब उत्तर भारत में बौद्ध और जैन धर्मों ने प्राचीन वैदिक धर्म के कर्म-काण्डों का विरोध करते हुए अपने ज्ञान मार्ग का प्रचार करना शुरू कर दिया तो वासुदेव धर्म उत्तर भारत में शिथिल होने लगा, किन्तु दक्षिण में वैष्णव धर्म के जो अंकुर जमे थे वे अन्य धर्मों के आघात-प्रत्याघात को सहते हुए भी क्रमशः वृद्धि प्राप्त करते रहे। दक्षिण का वातावरण वैष्णव धर्म के लिए अत्यन्त अनुकूल सिद्ध हुआ। इसके फलस्वरूप वहाँ पर वैष्णव धर्म काफी सुदृढ़ हो गया और कालांतर में जब उत्तरभारत में बौद्ध धर्म का प्रभाव कुछ कम हुआ तो दक्षिण के आचार्यों ने ही उत्तरभारत में वैष्णव धर्म की विभिन्न शाखाओं का विस्तार किया। श्री प्रभुदयाल मीतल के अनुसार—विक्रम की प्रमथ सहस्राब्दी के

पश्चात् दक्षिण के वैष्णव धर्म का प्रवाह उत्तराभिमुख हो गया। वहाँ के आचार्यों के प्रबल प्रचार के कारण वैष्णव धर्म की ऐसी बाढ़ आई कि उसके प्रबल-प्रवाह में उत्तर के शैव, शक्त, तांत्रिक, वाममार्गी आदि अवैष्णव मतों के साथ ही साथ शंकराचार्य का अद्वैतमत भी न टिक सका। इस प्रकार वैष्णव धर्म का जो अंकुर उत्तर से दक्षिण गया था वह वहाँ पल्लवित होकर पुनः उत्तर में आकर फलने-फूलने लगा।[7]

दक्षिण में वैष्णव भक्ति को सुरक्षित रखने एवं उसका प्रचार-प्रसार करने में आलवार सन्तों का प्रमुख स्थान है। इनकी संख्या बारह मानी जाती है। ये आलवार अपनी स्वाभाविक सरलता, मृदुलता और विनम्रता के लिए विख्यात थे। भगवान की भक्ति ही इनका सर्वस्व था। शरणागति या प्रपत्ति ही इनकी भक्ति की आधारशिला थी और भगवद्कृपा पर आश्रित रहकर भगवान का नाम-स्मरण तथा ध्यान करना ही इनके लिए भगवद्प्राप्ति का एकमात्र साधन था। इन्हें कभी किसी प्रकार की आवश्यकता प्रतीत नहीं हुई और न इन्होंने तदर्थ कोई चेष्टा ही की। इनकी स्वाभाविक भक्ति स्वभावतः उन्नतिशील होती गई और आलवारों का ऐतिहासिक महत्व बढ़ता गया। आलवारों के पदों का संग्रह 'प्रबन्धम्' है, जिसका संकलन एवं संपादन नवीं शताब्दी में नाथमुनि ने किया था।

आलवार भक्तों द्वारा प्रवाहित होने वाली इस भक्तिधारा को दक्षिण में उत्पन्न होने वाले आचार्यों ने आगे बढ़ाया। इन आचार्यों ने भक्ति आंदोलन की छुटपुट शक्ति को संगठित कर आचार्य शंकर के 'मायावाद' या मिथ्यावाद' का खण्डन किया। वैष्णव पुराणों की रचना ने सम्पूर्ण देश में भागवत धर्म का जो प्रचार कर दिया था उसकी स्थिति में शंकराचार्य के प्रचार ने कुछ अस्थिरता ला दी थी। यदि ठीक इसी अवसर पर इन आचार्यों का उदय नहीं हुआ होता तो इसमें भी सन्देह ही रहता कि भक्ति-आन्दोलन को मध्यकालीन समाज उसी रूप में अपनाता या नहीं, जिस रूप में उसने अपनाया है। इतना ही नहीं, सांस्कृतिक दृष्टि से बहुत दिनों तक देश के उत्तरी भाग से कुछ पृथकता रखने वाले दक्षिण भारत को भी उत्तर भारत के निकट सम्पर्क में लाने, दोनों की आध्यात्मिक मान्यताओं में सामंजस्य स्थापित करने तथा सम्पूर्ण भारत में भक्ति आन्दोलन का व्यापक प्रचार एवं भक्ति की शास्त्रीय स्थापना करने की दृष्टि से भी इन आचार्यों का विशेष महत्व है। भक्ति आन्दोलन के इतिहास के ये आलोक स्तम्भ हैं।

इन आचार्यों में पहला स्थान रंगनाथ मुनि का है। ये सम्प्रदाय के आदि आचार्य माने जाते हैं। भक्ति के प्रचार के लिए इन्होंने दो कार्य किये। एक तो आलवार भक्तों के साहित्य का संकलन और दूसरा नवीन संस्कृत ग्रन्थों की

रचना। इनके बाद यामुनाचार्य का नाम आता है। श्रीनाथ की गद्दी पर इनसे पूर्व पुण्डरीकाक्ष तथा राममिश्रा आरूढ़ हुए थे। इन दोनों आचार्यों ने वैष्णव भक्ति के प्रचार में पर्याप्त योग दिया था, किन्तु अपने प्रसिद्ध ग्रन्थों के कारण यामुनाचार्य का नाम ही विशेष उल्लेखनीय है। इन्होंने अपने ग्रन्थों में वैष्णव भक्ति तथा पांचरात्रों के सिद्धान्तों का गूढ़ प्रतिपादन करते हुए भागवत धर्म की स्थापना में बड़ा योग दिया। भागवत सिद्धान्तों को जन-जन तक पहुँचाने तथा शंकराचार्य के मत के खण्डन में यामुनाचार्य ने जो लगन दिखाई, वह अद्वितीय है।

दक्षिण भारत में भक्ति-भावना को सुसंगठित शास्त्र-सम्मत साधना-पद्धति का रूप देने का प्रयत्न रामानुजाचार्य ने किया। यामुनाचार्य की मृत्यु के उपरान्त इन्हें वैष्णव मत की श्रीरंगम् की गद्दी का उत्तराधिकारी बनाया गया। इनका व्यक्तित्व इतना प्रभावशाली था कि देखते-देखते दक्षिण भारत के कुछ भागों में प्राचीन आलवार भक्तों के युग का-सा वातावरण पुनः सृजित हो उठा। भक्ति के प्रचार के लिए आचार्य जी ने दो प्रमुख कार्य किए—एक, साहित्य सृजन तथा दूसरा धर्मयात्रा। इन्होंने अपने भक्ति-विषयक सिद्धान्तों पर अनेक ग्रन्थों का प्रणयन किया जिनमें 'वेदान्तसार', 'वेदान्तसंग्रह', 'वेदान्तदीप' तथा ब्रह्मसूत्र और भगवद्गीता के भाष्य प्रमुख हैं। इन्होंने आचार्य शंकर के मायावाद का खण्डन कर भक्ति की स्थापना की। इनका मत तत्वज्ञान की दृष्टि से विशिष्टाद्वैत कहलाता है। इन्होंने उत्तरी भारत के अनेक तीर्थों का भ्रमण किया।

भक्ति के प्रचारकों में निम्बार्काचार्य का भी प्रमुख स्थान है। लेकिन इनके समय का अभी तक कोई निश्चय नहीं हो सका है। अब तक के सभी आचार्यों का कार्य-क्षेत्र दक्षिण भारत ही रहा पर निम्बार्क स्वामी ने उत्तर भारत को अपना कार्यक्षेत्र बनाया और वृन्दावन में निवास करते हुए इन्होंने बारहवीं शताब्दी में, उत्तर भारत में भक्ति आन्दोलन को आगे बढ़ाने में महत्वपूर्ण योग प्रदान किया। इनके सम्प्रदाय को सनक सम्प्रदाय तथा दार्शनिक सिद्धान्त को द्वैताद्वैतवाद कहा जाता है। इनसे पूर्व के सम्प्रदाय जहाँ दक्षिण भारत तक ही प्रचारित थे वहाँ इस सम्प्रदाय ने सम्पूर्ण उत्तरी भारत में भक्ति का प्रचार किया। ब्रजमण्डल तथा बंगाल इस सम्प्रदाय के प्रमुख केन्द्र बन गए थे। निम्बार्काचार्य के बाद भक्ति के प्रचारकों में मध्वाचार्य का नाम महत्वपूर्ण है। शंकराचार्य के अद्वैतवाद के मूल पर कुठाराघात करने वाले आचार्यों में इनका स्थान सर्वप्रथम है। डा० रतिभानु सिंह नाहर के शब्दों में "रामानुजाचार्य ने जो भी प्रयत्न मायावाद के उन्मूलन के निमित्त किये थे वे सफल होते हुए भी अभी मध्व की अपेक्षा रखते थे। भक्ति की पूर्ण स्थापना में पूर्ववर्ती आचार्यों के प्रशंसनीय कार्यों को अभी भी एक ऐसे

उन्नायक की आवश्यकता थी जो इस आन्दोलन को अत्यधिक स्फूर्ति प्रदान करता और वह आवश्यकता मध्वाचार्य के आविर्भाव से ही पूर्ण हुई।"[8] इनका सम्प्रदाय द्वैत सम्प्रदाय कहलाता है। इन्होंने दक्षिण भारत के अनेक अद्वैती आचार्यों को पराजित किया जिससे शीघ्र ही इनका यश सारे दक्षिण भारत में फैल गया। इन्होंने उत्तर भारत के अनेक तीर्थ-स्थानों की यात्रा की। इन यात्राओं ने द्वैतवाद के प्रचार में बहुत योग दिया।

पूर्वोक्त दक्षिणात्य आचार्यों के भक्ति आन्दोलन के विकास में विष्णु स्वामी का नाम भी उल्लेखनीय है। इनके सम्प्रदाय का नाम शुद्धाद्वैत बताया जाता है, पर इस सम्प्रदाय का कोई ऐतिहासिक विवरण नहीं मिलता। स्वयं विष्णु स्वामी भी एक समस्या बने हुए हैं।

वल्लभ सम्प्रदाय के विष्णु स्वामी के सम्बन्ध में यह जनश्रुति है कि ये द्रविड़ देश के निवासी थे और इन्होंने वेदों, उपनिषदों तथा स्मृतियों आदि का गहन अध्ययन किया था। इन्होंने भक्ति मार्ग के प्रचार का कार्य बहुत ही उत्साह से किया और भक्ति को मुक्ति से भी ऊँचा ठहराया। ऐसी मान्यता है कि महाराष्ट्र के सन्त ज्ञानदेव, नामदेव तथा त्रिलोचन आदि इनके मतानुयायी थे।

पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण और सोलहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में वल्लभाचार्य का जन्म हुआ जिन्होंने भक्ति आन्दोलन को एक नई दिशा दी। इन्होंने निम्बार्क और मध्वाचार्य की कृष्णोपासना को महत्व देते हुए उसमें राधा-तत्व के समावेश के साथ अपनी कुछ नवीन उद्भावनाओं द्वारा इस तत्व को और भी शास्त्रोक्त बना दिया, साथ ही लोकरुचि में भी समरसता स्थापित करने की व्यवस्था कर दी। भक्ति साहित्य के विकास में वल्लभाचार्य का बहुत बड़ा महत्व है। वास्तव में उत्तरी भारत में राधाकृष्ण की भक्ति का प्रचार करने वाले दो ही आचार्य हुए—एक तो 'वल्लभाचार्य' और दूसरे 'चैतन्य महाप्रभु'। भक्ति आन्दोलन को इन्हीं दो आचार्यों से विशेष शक्ति प्राप्ति हुई। शंकराचार्य के अनुयायियों को शास्त्रार्थ में पराजित करके तथा भारत के सभी प्रमुख तीर्थ स्थानों का भ्रमण करके वल्लभाचार्य जी ने भक्ति आन्दोलन की गतिशील धारा को और भी तीव्रतर बना दिया। वैसे तो आचार्य जी ने सम्पूर्ण भारत को ही अपना प्रचार क्षेत्र बनाया, किन्तु काशी, वृन्दावन तथा मथुरा इनके प्रमुख केन्द्र रहे। इनका दार्शनिक सिद्धान्त शुद्धाद्वैत कहलाता है और सम्प्रदाय 'पुष्टि सम्प्रदाय'। महाकवि सूर इसी सम्प्रदाय में दीक्षित थे।

कृष्ण भक्ति के प्रचारकों में चैतन्य महाप्रभु भी थे जो वल्लभाचार्य के समकालीन थे। येउच्च कोटि के भावुक भक्त थे। भगवान के प्रेम-महोदधि में निमग्न रहने के कारण इन्होंने किसी ग्रन्थ की रचना नहीं की। कृष्ण की भक्ति और कीर्तन के महत्व कीर्तन का प्रतिपादन करने वाले इनके मात्र आठ श्लोक ही मिलते हैं।

भक्ति आन्दोलन के उन्नायकों में रामानुजाचार्य की परम्परा में आने वाले स्वामी रामानन्द का भी प्रमुख स्थान है। वास्तव में उत्तर भारत में भक्ति का सच्चा उन्नायक इन्हीं को मानना चाहिए। क्योंकि इनके पहले तेरहवीं-चौदहवीं शती में यद्यपि उत्तर भारत का दक्षिण से सम्बन्ध अवश्य था और दक्षिण में अनेक आचार्य अपने भक्ति-सिद्धान्तों का प्रचार करने उत्तर भारत भी आये थे लेकिन चूंकि इन आचार्यों की भाषा जन-भाषा न होकर संस्कृत थी और दूसरे उस समय उत्तर का धार्मिक वातावरण भी काफी पतित था। अत: इन आचार्यों को अपने उद्देश्य की पूर्ति में उतनी सफलता न मिल सकी। इनका प्रभाव केवल पण्डित वर्ग तक ही सीमित रहा, वह जनसाधारण के निकट न पहुँच सका। डॉ० मलिक मोहम्मद के शब्दों में—"उत्तर की पतित धार्मिक अवस्था को सुधारने के लिए बारहवीं-तेरहवीं शताब्दियों में दक्षिण का भक्ति आन्दोलन समर्थ था परन्तु सशक्त और उचित माध्यम के अभाव में यह सम्भव नहीं हो सका और उत्तर पर दक्षिण के भक्ति आन्दोलन का प्रभाव विशेष नहीं पढ़ सका। चौदहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में यह सशक्त और सफल माध्यम स्वामी रामानन्द के रूप में पहली बार मिला। स्वामी रामानन्द ने जनभाषा के माध्यम से दक्षिण की वैष्णव भक्ति का द्वार सबके लिए खोल दिया तब अनुकूल वातावरण पाकर एकदम वैष्णव भक्ति आन्दोलन जन-आन्दोलन के व्यापक रूप में परिणत हो गया।"[9]

भक्ति आन्दोलन को सर्वसाधारण तक पहुँचाने के लिए इन्होंने जनभाषा का प्रयोग किया। जनभाषा का माध्यम प्राप्त होने से यह आन्दोलन जन-आन्दोलन हो गया। इस प्रकार दक्षिण के वैष्णव भक्ति आन्दोलन को उत्तर में और व्यापक रूप देने का श्रेय रामानन्द को ही है। दक्षिण और उत्तर के वैष्णव भक्ति आन्दोलन के बीच इन्होंने सेतु का कार्य किया। इनके विषय में कहा भी गया है —'भक्ति द्राविड़ ऊपजी लाए रामानन्द'। हिन्दी प्रदेश में जो वैष्णव-भक्ति आन्दोलन प्रसारित हुआ उसके तीन सोपान थे, जिसमें प्रथम सोपान के प्रारम्भिक नेता स्वामी रामानन्द थे। इन्होंने जिस वैष्णव भक्ति आन्दोन को हिन्दी प्रदेश में प्रारम्भ किया, वह एक प्रकार से प्रतिकूल राजनीतिक और धार्मिक परि-स्थितियों से आहत हिन्दुत्व की रक्षा के लिए चलाया गया एक समाज सुधारवादी आन्दोलन था।

दूसरे सोपान में वैष्णव भक्ति के आकर्षक तत्वों का समावेश करके विकसित होने वाला संत मत है। इस सोपान की परिस्थितियों ने कबीर, नानक, नामदेव, रैदास जैसे संतों को जन्म दिया और भक्ति आन्दोलन को व्यापक रूप प्रदान किया। हिन्दी का सूफी प्रेमकाव्य भी इसी दूसरे सोपान की देन है। तीसरे सोपान में वैष्णव भक्ति का प्रचार करने वाले विविध सम्प्रदायों का स्थान आता है। इसमें प्रमुख हैं—वल्लभ सम्प्रदाय, चैतन्य सम्प्रदाय, राधावल्लभ सम्प्रदाय

तथा हरिदासी सम्प्रदाय। इन सम्प्रदायों ने भक्ति आन्दोलन के प्रचार-प्रसार में व्यापक योगदान दिया।

वास्तव में उत्तर भारत में भक्ति आन्दोलन उस समय आरम्भ हुआ जब हिन्दू और मुसलमान पुरोहितों और उनके द्वारा समर्थित और समृद्ध किये गये निहित स्वार्थों के खिलाफ संघर्ष एक ऐतिहासिक आवश्यकता बन गया था। इस समय सामान्य जनता को जागृत कर अपने हितों तथा आत्म सम्मान की रक्षा के लिए तैयार करना आवश्यक था।

के० दामोदरन के शब्दों में—"भक्ति आन्दोलन का मूल स्वर यद्यपि राम और कृष्ण की भक्ति अवश्य थी लेकिन यह विशुद्धतः धार्मिक आन्दोलन नहीं था। वैष्णवों के सिद्धान्त मूलतः उस समय व्याप्त सामाजिक, आर्थिक यथार्थ की आदर्शवादी अभिव्यक्ति।थे सांस्कृतिक क्षेत्र में, उन्होंने राष्ट्रीय नव-जागरण का रूप धारण किया, सामाजिक विषय-वस्तु में वे जाति-प्रथा के आधिपत्य और अन्यायों के विरुद्ध अत्यन्त महत्वपूर्ण विद्रोह के द्योतक थे। इस आन्दोलन ने भारत में विभिन्न राष्ट्रीय इकाइयों के उदय को नया बल प्रदान किया, साथ ही राष्ट्रीय भाषाओं और उनके साहित्य की अभिवृद्धि का मार्ग भी प्रशस्त किया। व्यापारी और दस्तकार, सामन्ती अवशोषण का मुकाबला करने के लिए इस आन्दोलन से प्रेरणा प्राप्त करते थे। यह सिद्धान्त कि ईश्वर के सामने सभी मनुष्य—फिर वे ऊँची जाति के हों या नीची जाति के—समान हैं, इस आन्दोलन का ऐसा केन्द्र बिन्दु बन गया, जिसने पुरोहित वर्ग और जाति-प्रथा के आतंक के विरुद्ध संघर्ष करने वाले आम जनता के व्यापक हिस्सों को अपने चारों ओर एकजुट किया। इस प्रकार मध्ययुग के इस महान् आन्दोलन ने न केवल विभिन्न भाषाओं और विभिन्न धर्मों वाले जन-समुदायों की एक सुसम्बद्ध भारतीय संस्कृति के विकास में मदद की, बल्कि सामन्ती दमन और उत्पीड़न के विरुद्ध संयुक्त संघर्षचलाने का मार्ग भी प्रशस्त किया।"[10]

विविध दिशाएँ

मध्यकालीन भक्ति आन्दोलन की दो धाराएँ थीं। एक धारा सगुण मार्गी थी और दूसरी निर्गुणमार्गी। दक्षिणी भक्ति की प्रमुख धारा सगुणमार्गी ही थी। इसका मूल उद्गम उपनिषद् तथा वेद था। दक्षिण के आलवार सन्तों तथा वैष्णव आचार्यों ने इसी सगुण भक्ति धारा का ही प्रचार किया। इसमें सगुण ब्रह्म की उपासना तथा भक्ति पर बल दिया गया और ब्रह्म के रामावतार तथा कृष्णावतार को प्रमुख रूप से अपनाया गया।

दूसरी विचारधारा ज्ञानमार्गी अथवा निर्गुण ब्रह्म की थी, जिसका प्रारम्भ शंकराचार्य से हुआ था। भारतवर्ष में इस्लाम के प्रवेश के समय दोनों ही धाराएँ चल रही थीं। इन दोनों धाराओं के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि वेदों से आती हुई मूल दार्शनिक तथा धार्मिक धारा ही इस समय दो विभिन्न साधना मार्गों में विभक्त हो गई थी। अतः अब भारतीय जनता के सम्मुख दो स्पष्ट मार्ग थे। प्रथम ज्ञान-मार्ग और द्वितीय भक्ति-मार्ग। ज्ञानमार्ग का मूल उद्गम उपनिषद् तथा दर्शन है। कालान्तर में शैव, शाक्त बौद्ध आदि मार्गों से प्रभावित होता हुआ ज्ञानमार्ग ही निर्गुण मार्ग कहलाया। अर्थात् ज्ञान और निर्गुण पर्याय बन गये। मध्यकाल में यह ज्ञानमार्ग निर्गुण ही अधिक रह ग्रया क्योंकि ज्ञान की अपेक्षा ब्रह्म का निर्गुण स्वरूप ही जनता के सम्मुख उभर कर आया। इस मार्ग में ज्ञान की अपेक्षा बाह्याचार साधना तथा वैराग्य पर ही अधिक बल दिया जाने लगा। इस प्रकार निर्गुण अथवा ज्ञान मार्ग साधनापरक, कष्टसाध्य और निवृत्तिमूलक हो गया। यह निर्गुण मार्ग पूर्ण निर्गुण मार्ग से जिसका दर्शन हमें शंकराचार्य के वेदान्त में मिलता है, बहुत कुछ भिन्न है। यह मार्ग अपने समय की समस्त प्रचलित विचारधाराओं से पुष्ट होता हुआ एक नवीन रूप में हमारे सामने आता है। नामदेव, कबीर, नानक तथा रैदास आदि उसी धारा के कवि हैं। इन सन्त कवियों के योगदान की चर्चा करते हुए डा० हरवंशलाल शर्मा ने लिखा है—"सन्त कवियों ने अपनी अन्तःसाधना के बल पर मानव मात्र की शाश्वत् वृत्तियों का सपरिष्कार उद्रेक कर ऐहिकता की भर्त्सना की और निर्जीव हृदय में ऐसी चेतना भरी, जिससे निराशा से मेघ हट गये और आशा की सुनहली रश्मियों का आलोक बिखर गया। इन कवियों का व्यक्तित्व ही समन्वयात्मकता की आधार भूमि पर खड़ा था। अक्खड़ता की परिधि को छूता हुआ आत्मगौरव, दीनता के अंक में क्रीड़ा करती हुई नम्रता, संसार के कठोरतम संघर्ष से जूझने की प्रस्तर तुल्य दृढ़ता के साथ अपनी निरीहता पर नवनीत सम पिघलने वाली कोमलता सबका समन्वय वास्तव में आश्चर्य उत्पन्न करने वाला है। जनता के हृदय का वास्तविक प्रतिनिधित्व करने वाले इन कवियों ने उनके मनोभावों को ऊँचा उठाने में निःसन्देह भगीरथ प्रयत्न किया।"[11]

उत्तर भारत में भक्ति का प्रचार करने वालों में निर्गुण भक्ति की एक और शाखा थी जिसे प्रेममार्गी शाखा कहते हैं। यह मुसलमानी सूफी सन्तों की शाखा थी। इस शाखा ने भारतीय भक्ति साधना को बहुत प्रभावित किया। इन लोगों में कट्टरता या धर्मान्धता न थी, आचरण की विशुद्धता, पारस्परिक सहानुभूति, ईश्वर में श्रद्धा, विश्व प्रेम आदि इनके सम्प्रदाय की विशेषताएँ थीं। इन्होंने हमारी भक्ति साधना में माधुर्यभाव को पूर्णतया भर दिया। इन सूफी सन्तों ने मध्यकालीन भक्ति आन्दोलन पर गहरा प्रभाव डाला। मध्यकालीन सन्तमत पर

सूफियों का स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है।

सगुण भक्ति का मार्ग अत्यन्त प्राचीन मार्ग था। इस मार्ग में ब्रह्म प्राप्ति का मूल मंत्र भक्ति है जो संसार में रहकर भी की जा सकती है। इसके लिए संसार त्याग की आवश्यकता नहीं है। यह प्रवृत्तिमूलक तथा रागात्मक वृत्ति पर आधारित है। साथ ही ब्रह्म-प्राप्ति का सरल और सरस साधन भी है। ईसा की चौदहवीं शताब्दी से लेकर सोलहवीं शताब्दी के अन्त तक उत्तर भारत में पनपने वाले विभिन्न वैष्णव सम्प्रदायों ने इसी मार्ग का अनुसरण किया। इसके लिए उन्होंने राम और कृष्ण को आधार बनाया। फलतः सगुण भक्ति की दो धाराएँ हुईं—एक रामभक्ति की और दूसरी कृष्ण भक्ति की। मध्यकाल में वैष्णव आचार्यों द्वारा इन दोनों धाराओं का व्यापक प्रचार हुआ। आराध्य देव के विविध रूपों को लेकर थोड़ी बहुत दार्शनिक भिन्नता से व्यापक क्षेत्र में प्रसारित इन सम्प्रदायों के योगदान के कारण ही मध्ययुगीन वैष्णव भक्ति आन्दोलन वास्तविक रूप में जन आन्दोलन बन सका। लेकिन अपनी मधुर भावनापूर्ण विश्वजनीन तत्व-राशि के कारण उस समय राम भक्ति की अपेक्षा कृष्ण भक्ति का स्वर अधिक ऊँचा हो उठा था। इसका श्रेय कृष्ण भक्ति के प्रचारक भावुक वैष्णव आचार्यों को है।

उत्तर भारत में राम भक्ति का प्रचार करने वालों में रामानन्द का प्रमुख स्थान है। पर उनके उपरान्त राम भक्ति का प्रचारक कोई उतना समर्थ वैष्णव आचार्य नहीं हो सका। राम भक्ति के अमर गायक महाकवि तुलसीदास रामानन्द की ही परम्परा में हुए थे।

कृष्ण भक्ति के प्रचार में स्वामी वल्लभाचार्य और चैतन्य महाप्रभु ने अभूतपूर्व योग दिया। मध्यकाल में उपास्यदेव कृष्ण के भिन्न-भिन्न रूपों को लेकर विकसित होने वाले कई सम्प्रदाय थे। जिनमें चार प्रमुख हैं—

(1) वल्लभ सम्प्रदाय
(2) चैतन्य सम्प्रदाय
(3) राधावल्लभ सम्प्रदाय
(4) हरिदासी या सखी सम्प्रदाय।

उपर्युक्त चारों सम्प्रदाय सूर के समय ब्रज में विद्यमान थे। इन सम्प्रदायों के पूर्व भी कृष्णोपासना का प्रचार श्रीमध्वाचार्य श्रीविष्णुस्वामी तथा श्री निम्बार्क आदि आचार्यों ने किया था किन्तु उनके उपास्यदेव कृष्ण के रूपों में अन्तर था। मध्वाचार्य के कृष्ण स्वयं भगवान विष्णु थे जो सर्वगुण सम्पन्न परमात्मा थे। विष्णु स्वामी ने कृष्ण के गोपाल रूप को स्वीकार किया था। निम्बार्क ने अपनी उपासना में राधातत्व का समावेश करके राधाकृष्ण के युगल रूप को अपनाया था। मध्वा-

चार्य की कृष्णोपासना और विष्णु स्वामी की गोपालोपासना में चूंकि मनोयोग की कोई गुंजाइश नहीं थी अतः मध्यकाल में इसी कृष्णोपासना को अपनाकर श्रीवल्लभाचार्य और चैतन्य महाप्रभु ने उत्तरी भारत के भक्ति आन्दोलन को एक नई दिशा में मोड़ दिया। डॉ० मलिक मोहम्मद के शब्दों में —"यद्यपि इन दोनों ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों का न्यूनाधिक रूप में अनुसरण किया था तो भी अपने-अपने मत विशेष के कारण अपनी पूजा पद्धति और भजन-कीर्तनों के द्वारा कृष्णोपासना को व्यापक रूप देते हुए वैष्णव धर्म को जन-समाज के अत्यन्त निकट पहुँचाने का प्रयत्न किया। इन दोनों ने अपने राधा वल्लभ अथवा गोपी-वल्लभ कृष्ण की उपासना द्वारा वैष्णव धर्म में नूतन शक्ति का संचार किया और समस्त उत्तरी भारत की जनता पर असाधारण व्यक्तित्व की छाप डाली।"[12]

चैतन्य और वल्लभाचार्य के समय में ही कृष्ण भक्ति के दो और सम्प्रदायों का अभ्युदय हुआ। जिनमें प्रथम राधावल्लभ सम्प्रदाय के नाम से जाना जाता है। इसमें राधा और कृष्ण की युगल उपासना का प्रचार है। दूसरे सम्प्रदाय को 'हरिदासी' या 'सखी सम्प्रदाय' कहते हैं। इसमें राधाकृष्ण की उपासना का सखी भाव से प्रचार था।

हिन्दी प्रदेश में संगठित इन वैष्णव सम्प्रदायों में सबसे अधिक योगदान वल्लभ सम्प्रदाय का माना जाता है।

रामकृष्ण की भक्ति से सम्बन्धित इन विभिन्न सम्प्रदायों के अतिरिक्त अन्य भी बहुत से सम्प्रदायों का प्रभाव भक्ति आन्दोलन पर पड़ा है। इन सम्प्रदायों में सबसे व्यापक रहा है नाथ-योगियों का सम्प्रदाय। जिस समय रामानन्द ने जनता-जनार्दन के बीच वैष्णव भक्ति का प्रचार शुरू किया था, उस समय उत्तर भारत में अनेक साधना पद्धतियाँ प्रचलित थीं। प्रमुखतया शैव धर्म की ज्ञान और योग-परक साधना, नाथ सम्प्रदाय की योग साधना में अन्तर्मुक्त होकर अपना विकास कर रही थी। नाथ सम्प्रदाय ने चौदहवीं शताब्दी तक साहित्य और धर्म का शासन किया था। यहाँ तक कि महाकवि सूर के समय तक भी इनका व्यापक प्रभाव था, इसकी पुष्टि उनके 'भ्रमरगीत-प्रसंग' से होती है। इस सम्प्रदाय के प्रसिद्ध आचार्य गोरखनाथ थे। इस सम्प्रदाय का मत है कि यदि शरीर के नौ द्वारों को बन्द करके वायु के आने-जाने का मार्ग रोक लिया जाए तो इसका व्यापार चौंसठ सन्धियों में होने लगेगा, जिससे कायाकल्प होगा। जब साधना के द्वारा ब्रह्म रन्ध्र को जगा दिया जाता है तो अनाहद्‌नाद सुनाई पड़ने लगता है। यही सबका सार है। इस सम्प्रदाय में योग साधना के द्वारा शरीर को कष्ट भी दिया जाता है। भक्ति आन्दोलन पर इसका व्यापक प्रभाव पड़ा है। गोरखनाथ द्वारा बताई हुई निर्गुण निराकार की उपासना सूफियों के प्रेम का आधार पाकर

लोकप्रिय हो गई थी और कबीर आदि ज्ञानाश्रयी शाखा के संत कवियों ने इसे सहज ही अपना लिया था। इसके अतिरिक्त भी अन्य कई छोटे-मोटे सम्प्रदाय थे जिनका भक्ति-आन्दोलन में योगदान माना जाता है। इन सम्प्रदायों में 'बारकरी', 'सहजिया' तथा 'बाउल' प्रमुख हैं। बारकरी सम्प्रदाय है तो बहुत पुराना किन्तु मध्यकालीन बारकरी सम्प्रदाय संत ज्ञानदेव का ऋणी है, क्योंकि संत ज्ञानदेव से ही इसका क्रमबद्ध इतिहास मिलता है। बारकरी संतों का मत भी उत्तर भारत के संतों से बहुत-कुछ मिलता-जुलता है जो इनके पारस्परिक आदान-प्रदान का प्रतिफल है। सहजिया सम्प्रदाय बंगाल में प्रचलित था। इसमें चण्डीदास का नाम उल्लेखनीय है। इस सम्प्रदाय में प्रेम-पक्ष—विशेषकर परकीया प्रेम को महत्व दिया गया है। यह सम्प्रदाय बौद्धों की सहजयान शाखा के समकक्ष रखा जा सकता है। राधाकृष्ण की लीला का स्वरूप वास्तव में इसी सम्प्रदाय में विशिष्ट रूप से मिलता है। बाउल सम्प्रदाय का जन्म सहजिया और सूफी सम्प्रदाय के योग से हुआ है, जिसमें मानव प्रेम को प्रधानता दी गयी है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि दूसरी शती से लेकर चौदहवीं शती तक भारतवर्ष में भक्ति ने अनेक रूप धारण किए और इसमें बहुत से सम्प्रदाय तथा मत-मतान्तर भी प्रचलित हुए लेकिन अन्त में इन सभी का समन्वय राम तथा कृष्ण की भक्ति में ही हुआ।

जनसामान्य का मानसिक धरातल

पीछे विवेचन किया जा चुका है कि उत्तर का भक्ति आन्दोलन विविध दिशाओं में विभक्त था। एक तरफ निर्गुणमार्गी नाथ-योगियों की साधना थी तो दूसरी तरफ सूफी पीर-फकीरों की। वहीं राम और कृष्ण की भक्ति का आधार लेकर चलने वाली सगुणमार्गी धारा भी थी। ऐसी दशा में जन-सामान्य की स्थिति बड़ी विचित्र हो उठी थी। वह यह नहीं तय कर पा रहा था कि किधर जाये। जिस समय दक्षिण का भक्ति आन्दोलन उत्तर की ओर उन्मुख हो रहा था, उस समय यहाँ नाथपंथी योगियों का बोलबाला था। इन लोगों की साधना बड़ी विचित्र थी। ये व्रत, तपश्चर्या तथा योग-साधना पर बल दे रहे थे जो जन-सामान्य के लिए संभव न थी। योगियों की साधना निवृत्तिमार्गी थी। ये आसन, ध्यान, आराधना आदि के द्वारा साधना करते थे तथा आसन बाँधकर आँख मूँदकर ध्यान किया करते थे और गोरखनाथ का नाम लेकर अलख जगाया करते थे। ये मुद्रा, भस्म, विषाण, मृगचर्म आदि धारण करते थे। इनका कहना था कि ईश्वर सहज शून्य में वास करता है लेकिन वह अलख और निरंजन है। पद्मासन लगाकर

आँख मूंदकर ध्यान देने पर उसकी अन्तर्ज्योति का साक्षात्कार होता है। और इस प्रकार जीवात्मा इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना नाड़ियों में होता हुआ ब्रह्म सायुज्य को प्राप्त करता है। मध्यकालीन कबीर आदि निर्गुण संत इसी साधना का प्रचार कर रहे थे। लेकिन सामान्य जनता इस ओर आकृष्ट नहीं हो रही थी। क्योंकि यह ऐसी साधना थी जो योग क्रियाओं पर बल देती थी अतः सामान्य जनता इसे बहुत ऊँची और साधारण जनों के लिए अगम्य समझती थी। उसके लिए तो ऐसी साधना चाहिए थी जो घर बैठे और आसानी के साथ की जा सके।

दूसरे इन निर्गुण साधकों का कहना था कि त्रिगुणात्मक वेश त्याग कर पूर्ण ब्रह्म का ध्यान करो। भगवान का न तो नाम है न रूप। उनका कुल भी नहीं है और न ही वर्ण ही। उनका न कोई माता है न पिता। न पुत्र है न स्त्री। वे त्रिगुणातीत हैं। यह सारा संसार मिथ्या है। ईश्वर को न तो सुख होता है और न दुःख। आत्मा ही ब्रह्म है जो घट-घट में व्याप्त है। भगवान तो अविगत है, अविनाशी है, पूर्ण है। इस निर्गुण ज्ञान के बिना जीव की मुक्ति संभव नहीं है।

योग साधना की ये सब बातें सामान्य जनता को बड़ी कष्टकर प्रतीत हो रही थीं। दूसरे उस समय तक सगुणमार्गी भक्ति का व्यापक प्रचार भी नहीं था। इसलिए मजबूर होकर सामान्य जनता इस ओर झुकने लगी थी। विदेशी शासन की परुशता और सामाजिक विभेद ने उसे जीवन के प्रति उदासीन बना दिया था इसलिए विशेषकर निम्न श्रेणी की जनता इस ओर आकृष्ट होने लगी।

इसी समय निर्गुण उपासना की ही एक और धारा विदेशी मुसलमानों की आई जो सूफी फकीर थे। ये प्रेममार्गी थे और लौकिक कथाओं के सहारे प्रेम भाव की साधना किया करते थे। इन लोगों ने लौकिक के स्थूल आधार पर खड़े होकर व्यंजना की सीढ़ी से ऊपर चढ़ने का प्रयत्न किया। इन्होंने ब्रह्म को प्रकृति में भी व्याप्त देखना चाहा। यद्यपि इनका आलम्बन सगुण तो हुआ लेकिन साकारता न प्राप्त कर सका। इसमें हिन्दू कहानियों का आधार अवश्य था किन्तु इसकी विदेशी गंध दूर न हो सकी और इनका अध्यात्म पक्ष व्यंग्य रहने के कारण वह प्रबल न हो सका। जनसामान्य का ध्यान इसके भौतिक पक्ष की ओर अधिक रहा अतः वह इसे भी न अपना सका।

लेकिन इन सूफी संतों की साधना के प्रचार का एक परिणाम यह अवश्य हुआ कि दो परस्पर विरोधी धर्मों ने एक-दूसरे को समझना आरम्भ कर दिया। ठीक इसी बीच हिन्दू और मुस्लिम दोनों धर्मों की सामंजस्य भावना को लेकर संत मत आगे आया। संतमत कोई नया मत लेकर नहीं आया। इसका उद्योग तो धर्म और समाज के क्षेत्र में क्रान्तिकारी सुधार करना मात्र था। इस मत के अनुयायी हिन्दू-मुसलमान दोनों थे। कबीर, रैदास, नानक इत्यादि इस धारा के

प्रमुख कवि हैं। इन लोगों ने हिन्दू-मुस्लिम एकता का भरसक प्रयत्न किया। साधना के क्षेत्र में इन संतों ने निर्गुण-निराकार का मार्ग अपनाया जो बहुत कुछ सिद्धों और नाथपंथी योगियों से प्रभावित था। ये सभी महात्मा अधिकांशतः अनपढ़ तथा निम्नवर्ग के रहे अतः इनकी साधना का प्रभाव भी अशिक्षित और निम्नवर्गों तक ही सीमित रहा। अभिजात तथा सुशिक्षित वर्ग की अपने को उच्च समझने वाली मानसिकता ने इसे हेय दृष्टि से देखा।

साथ ही निराकार ब्रह्म की दुरूह कल्पना तथा उसकी प्राप्ति के साधनों में हठयोग, सहज-समाधि, रहस्यात्मक-भक्ति जैसे व्यक्तिगत साधना पर आधारित विधानों के कारण सन्त-मत में भी अहंकार, गुरुडम तथा नए प्रकार के पाखंड और आडम्बर की वृद्धि हो गई। यद्यपि तांत्रिकों की व्यभिचार लीला का सन्त-मत पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा, फिर भी चमत्कारों और सिद्धियों का महत्व उसमें भी कम नहीं था। फलतः दम्भ और मिथ्यावाद को प्रश्रय मिलना स्वाभाविक था। सूर के अनेक पदों से भी इस बात की पुष्टि होती है। उन्होंने बताया है कि शैव, शाक्त, गोरखपंथी तथा अद्वैतवादी मायावादी पाखण्डी किस प्रकार अनाचार, ढोंग और दम्भ फैला रहे थे। दूसरे इन सन्तों की साधना निवृत्ति-मार्गी थी, जिसमें जीवन से पलायन करने की सीख थी। अतः इससे भी लोगों का झुकाव इस ओर कम हुआ। लेकिन मध्यकालीन भारत के सांस्कृतिक समन्वय में सन्तों के योगदान को नकारा नहीं जा सकता। यदि तत्कालीन भारतीय समाज में कबीर ने अपने तीखे स्वर द्वारा धार्मिक बाह्याडम्बरों और सामाजिक खोखलेपन की कटु आलोचना न की होती तो वैष्णव आचार्यों का कार्य अधिक कष्टसाध्य सिद्ध हुआ होता और भक्ति के मूल प्राण प्रेम का बीज अंकुरित कराने में उन्हें बहुत ही जटिल समस्याओं का सामना करना पड़ता। कबीर ने दोनों सम्प्रदाय वालों में जिन सामाजिक गुणों की अपेक्षा का नारा लगाया था और उससे जो पारस्परिक सामाजिक तनाव में लोच आती जा रही थी, वह भावी धर्म सुधारकों के लिए वांछित थी, आवश्यक भी थी।

बाबू गुलाबराय के शब्दों में—"फिर भी इतना तो मानना ही पड़ेगा कि कबीर आदि सन्तों की वाणी में शर्बत मिले हुए कुनीन मिक्सचर की-सी उभय पक्षी डाँट-फटकार की कटुता थी। कबीर ने निर्गुणवाद की दरिद्रता पर और नग्नता पर जो शृंगारिक आवरण डालना चाहा था वह उनकी झीनी-झीनी बनी चादर की भाँति इतना झीना था कि उसके द्वारा निर्गुणवाद की शुष्कता छिप न सकी। शून्य महल की सेज शून्य ही पड़ी रही।"[13] अतः जन-सामान्य की समस्या ज्यों-की-त्यों बनी रही। कभी वह इस तरफ झुकता था तो कभी उस तरफ। उसे कोई निश्चित मार्ग नहीं दिखाई दे रहा था जिसे वह अपनी अन्तरात्मा से स्वीकार सके।

ऐसी स्थिति में वैष्णव भक्ति आन्दोलन ने जन-सामान्य की मानसिकता को पहचानते हुए सगुण-साकार ब्रह्म की उपासना का प्रचार किया और मानसिक द्वन्द्वों की स्थिति में भटकते हुए जन-सामान्य को एक सही दिशा निर्देश दिया।

उत्पन्न सामाजिक एवं राजनैतिक परिस्थितियों के कारण व्याप्त दिशाहीनता

भक्ति आन्दोलन का उत्तर भारत में आगमन तुर्क-अफगान काल में हुआ। यह युग बारहवीं शताब्दी से लेकर पन्द्रहवीं शताब्दी तक चला और सोलहवीं शताब्दी के प्रथम चरण में इसका अन्त हो गया। तत्पश्चात् देश में मुगलों का शासन स्थापित हुआ। इन दो विदेशी जातियों के शासन-काल में ही उत्तर भारत में भक्ति की निर्झरिणी प्रवाहित हुई। इसका प्रारम्भ हुआ सैयद तथा लोदी वंश के शासन-काल में और विकास-सोपानों का क्रम चलता रहा अन्तिम मुगल शासकों तक। भक्ति आन्दोलन के प्रारम्भिक काल में देश की राजनैतिक स्थिति ठीक नहीं थी। राजनैतिक अशान्ति का वातावरण वर्षों से चल रहा था। यह राजनैतिक अशान्ति थी। देशी राज्यों में संघर्ष, मंगोलों के आक्रमण तथा आन्तरिक विद्रोह। इनके कारण लोकजीवन निरन्तर आघात पर आघात सहन करता चला जा रहा था। चाहे विदेशियों का आक्रमण हो या देशी राज्यों का संघर्ष, हिन्दुओं का कत्लेआम सामान्य बात हो गई थी। ऐसी परिस्थिति में जनसामान्य में भय और आतंक-विस्तार की स्थिति का व्याप्त हो जाना स्वाभाविक था। तुर्क-अफगान कालीन शासकों ने अनेक बार धार्मिक असहिष्णुता का परिचय दिया जिसकी चर्चा पीछे की जा चुकी है। लगभग चार शताब्दियों तक की इस कठोर राजनीतिक श्रृंखला ने जन-जीवन को अशान्त कर दिया। दिल्ली सल्तनत के आन्तरिक विद्रोहों, पारस्परिक संघर्षों, असंख्य युद्धों, षड्यन्त्रों, प्रान्तीय शासकों के अत्याचारों तथा सर्वोपरि आर्थिक शोषणों और 'जेहादों' ने हिन्दू जाति को दुर्बल बना दिया था और उसमें दिशाहीनता की स्थिति उत्पन्न कर दी थी। इसका प्रमाण हमें भक्त कवियों की रचनाओं में मिल जाता है। इन कवियों में जो विक्षोभ, जो उग्रता और राजसत्ता के प्रति अवहेलना की जो भावना कभी बहुत दबी और कभी उभरी हुई मिलती है, उसके मूल में राजनीतिक परिस्थितियाँ ही हैं।

राजवंशों का शीघ्र परिवर्तन इस युग की सबसे बड़ी विशेषता है। आन्तरिक विद्रोहों एवं घातक षड्यन्त्रों का क्रम चलता रहा। इस राजनीतिक उथल-पुथल

का जनता पर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता था। इसमें भी हिन्दू जनता अत्यधिक प्रभावित होती थी क्योंकि हर अशान्ति या विद्रोह अर्थाभाव का कारण बनकर आता था और साधारण मुसलमान सैनिक से लेकर सुल्तान तक हिन्दुओं को 'कारू का खजाना' समझकर उन्हें चूसना अपना परम कर्तव्य समझता था। जजिया की जंजीर हर बार कसती जाती थी और यहाँ तक कि ब्राह्मणों को भी—जो कभी इस कर से मुक्त थे—आगे चलकर जजिया देने के लिए बाध्य किया गया। डा० रतिभानु सिंह नाहर के शब्दों में—"अब तक असंख्य मन्दिर मस्जिदों में परिवर्तित हो चुके थे, वेदियाँ, 'जाए-ए-नमाज' बन चुकी थीं, पूजन अर्चन की ध्वनियाँ घर की चहारदीवारी में बन्द हो चुकी थीं।"[14]

राजनीतिक सत्ता हाथ से जाते ही हिन्दुओं को धार्मिक पराधीनता का भी आभास होने लगा था। अनेक तथाकथित निम्नवर्गीय हिन्दुओं ने दरिद्रता के भार से या प्राणों के मोह से मुस्लिम धर्म स्वीकार कर लिया। इससे भी अनेक सामाजिक समस्याओं का जन्म हुआ। शासक वर्ग विलासिता का प्रदर्शन कर रहा था और सामन्त या सरदार वर्ग उसका अनुकरण कर रहा था। सम्पूर्ण उत्तर भारत में उच्च मुस्लिम समाज में अनैतिकता और अनाचार अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच चुके थे। सुरा-सुन्दरियों में लीन सुल्तान और सरदार देश को खोखला बनाते जा रहे थे। महात्मा कबीर तथा गुरुनानक के पदों में इसके स्पष्ट संकेत हैं। कबीर ने समाज की कुरूपता तथा विलासिता का जो नग्न चित्र खींचा है वह तत्कालीन शासकीय मनोवृत्ति से पूर्णतया प्रभावित है। गुरु नानक ने भी मुस्लिम शासकों की दयालुता को अपनी मस्जिद, ईमानदारी को अपना नमाज पढ़ने का कालीन, न्याय को अपनी कुरान, नम्रता को अपना खतना, सौजन्य को अपना रोजा, सत्य को अपना पीर, सत्कर्म को अपना मजहब बनाने की जो सलाह दी है वह स्पष्ट ही तत्कालीन क्रूरता के प्रति एक अप्रत्यक्ष विरोध है।

लेकिन इतना ध्यान रखना चाहिए कि समाज की जो दयनीय अवस्था हो गई थी, उसमें केवल बाह्य परिस्थितियों का ही प्रभाव नहीं है। तत्कालीन भारतीय समाज को नैतिक और आध्यात्मिक दृष्टि से पीछे धकेलने में स्थानीय तत्वों का भी बहुत बड़ा हाथ रहा। विभिन्न धार्मिक गुरुओं की करतूतें इसका प्रमाण हैं कि वे किस प्रकार हमारे समाज और धर्म में आध्यात्मिकता के स्थान पर घृणित मांसलता भरते जा रहे थे। ब्राह्मणों का पतन हो चुका था, क्षत्रियों के हाथ से शासन-सत्ता छिन चुकी थी। प्रायः इन जातियों में ब्राह्मणत्व और क्षात्रधर्म का लोप हो गया था। शूद्रों की दशा अत्यन्त दयनीय थी। कबीर आदि सन्तों के पदों में 'शूद्रों' की दुर्दशा के अति कारुणिक चित्र मिलते हैं। कबीर ने छुआछूत के विरुद्ध जो नारा बुलन्द किया था उसके मूल में इन शूद्रों का धार्मिक दृष्टि से

अधिक हीन होना ही था। 'गुप्त प्रकट है एकै मुद्रा, काको कहिये ब्राह्मण सूद्रा' जैसी उक्ति उनके साहित्य में अनेक बार मिलती है। कबीर के समय तक समाज अपनी रूढ़िवादिता को नहीं छोड़ पाया था। वह प्राचीन परम्पराओं और अन्ध-विश्वासों के मोह से ग्रसित था। समाज में अलगाव और भेदोपभेद की प्रवृत्ति बहुत ही प्रबल थी। उच्चवर्ग में अहंकार और दम्भ की जो भावना घर कर गई थी उसने नाना प्रकार की असामाजिक स्थितियों को उत्पन्न कर दिया था। कबीर के शब्दों में:

> सबही मदभाते, को इन जाग, सांझहिं चोर घर मूसन लाग।
> जोगी भाते जोग धियान, पंडित भाते पढ़ी पुरान।
> तपसी भाते तपके भेव, संन्यासी भाते करि हमेव।
> मौलाना भाता पढ़ी मुसाफ, काजी भाते दे नीसाफ।
> संसारी भाते माया धार, राजा भाते करि हंकार।

इस विषाक्त वातावरण में जब रहना कठिन था तो फिर कोई उसका पथ प्रदर्शन कैसे करता :

> को सम करइ नगर कोतवलिया, मांसु फैलाव गीध रखवरिया।
> मुस मौनाव मंजार कंडिहरिया, सोवै दादुल सरप पसरिया।
> बैल बियाय गाय भै बंझा, बपुवहि पूहहिं तिन तिन संझा।
> नित हठि सिंघ सियार सो जूझै, कबीर का पद जन बिरला बूझै।

उक्त पद में बूझने के लिए चाहे जितना भी विरलापन की आवश्यकता हो, पर इसे तत्कालीन परिस्थिति के प्रामाणिक चित्र के रूप में लिया जा सकता है।

हिन्दू समाज का कर्णधार ब्राह्मण और मुस्लिम समाज के रहनुमा काजी-मुल्ला, इन दोनों की पतनोन्मुखी अवस्था तथा अविवेकी दृष्टि ने समाज को पतन के गर्त में ढकेल दिया। यहाँ तक कि सूफियों का दल भी मुस्लिम समाज की परम्परित हिंसा-भावना को कम करने में सफल न हो सका।

वास्तव में तुर्क-अफगानों का सामाजिक और धार्मिक आदर्श ही ऐसा था जो भारतीय आदर्शों से किसी प्रकार मेल खाने वाला नहीं था। उनका अपना पृथक् सुदृढ़ सामाजिक संगठन था, कठोर धार्मिक विश्वास थे और साथ ही अपना सशक्त राजनीतिक संगठन था। इसके साथ ही उनमें आत्मगौरव सम्बन्धी भावना घर कर गई थी, जिसके कारण वे अपने को हिन्दुओं से श्रेष्ठ मानने लगे थे। लेकिन यह सौभाग्य ही था कि इसी समय हिन्दुओं और मुसलमानों में कुछ ऐसे सुधारक पैदा हुए जिन्होंने अपने धर्म एवं समाज की संकीर्णता के मूल पर

कुठाराघात करना आरम्भ किया। इन विभूतियों में कबीर का नाम सर्वप्रथम आता है जिनकी चर्चा हम कर चुके हैं। इन्होंने जातिगत ऊँच-नीच की भावना को मिटाकर सामाजिक सौहार्द्र की भावना को प्रश्रय दिया। हिंसात्मक प्रवृत्ति और धार्मिक असहिष्णुता पर कुठाराघात करते हुए इन्होंने उदात्त मानवीय गुणों का विकास किया। साथ ही मानव जाति और मानवधर्म का जोरदार समर्थन करके अस्तव्यस्त भारतीय समाज को समन्वय की ओर अग्रसर किया। समन्वय का यही कार्य सूफी सन्तों ने भी किया। उन्होंने भारतीय लौकिक कहानियों को अपना काव्य-विषय बनाकर हिन्दू समाज में उसका गान किया। वस्तुतः ये सभी भक्त कवि धन्य हैं जिन्होंने धर्म और नैतिकता का उपदेश देकर गिरते हुए समाज को पतनोन्मुख होने से बचाया। मुगल शासकों के काल में यद्यपि स्थिति ऐसी नहीं थी फिर भी सामाजिक वैषम्य अत्यधिक था। जहाँ उच्चवर्ग अश्लील भोग-विलास, आमोद-प्रमोद, नाच-रंग, माँस-मदिरा, मैथुन, जुआ और विलासपूर्ण प्रीतिभोजों के मद में चूर था वहीं निम्नवर्ग इस वर्ग की भूख शांत करने में स्वयं भूखों मर रहा था। धनिक उत्तरोत्तर धनी होते जा रहे थे और गरीब उत्तरोत्तर गरीब। दूर से देखने पर मुगलों की चमक-दमक चकाचौंध में अवश्य डाल देती थी किन्तु राजधानी तथा राजनीतिक महत्व के प्रमुख नगरों को छोड़कर शेष भारत में दरिद्रता का ही साम्राज्य छाया हुआ था। समाज की इस दयनीय दशा का चित्रण प्रायः मध्यकालीन सभी कवियों ने किया है।

दरिद्रता के अभिशाप के साथ धार्मिक अन्ध-विश्वासों ने भी समाज को कुण्ठित कर दिया था। जादू-टोना, झाड़-फूंक, भूत-प्रेत का प्रभाव सर्वसाधारण पर बहुत अधिक था। पीर-फकीर, साधु-सन्त वेशधारी लोग समाज को बुरी तरह ठग रहे थे। ऐसे में जन-सामान्य की क्या मानसिक स्थिति हो सकती है इसका सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। इन सभी उत्पन्न सामाजिक तथा राजनीतिक परिस्थितियों ने समाज में दिशाहीनता की स्थिति उत्पन्न कर दी थी। सामान्य जनता शासकों की उपेक्षित नीति के कारण प्रायः जीवन से उदासीन होती चली जा रही थी। ऐसे ही समय में कृष्ण-भक्ति का आगमन हुआ जिसने जनसामान्य के हृदय से निराशा की भावना को पूरी तरह से मिटा दिया।

कृष्णभक्ति का औचित्य और उसकी प्रासंगिकता सामाजिक, राजनैतिक एवं सांस्कृतिक सन्दर्भ

मध्यकालीन सामाजिक तथा राजनैतिक परिस्थितियों की चर्चा पीछे की जा

चुकी है। सगुण भक्ति-चेतना के विकास में इन परिस्थितियों का प्रमुख हाथ है। इससे पूर्व नाथपंथी और वज्रयानी साधक वर्ण-व्यवस्था, बाह्याचार और धार्मिक रूढ़ियों का डटकर विरोध कर रहे थे। साथ ही माया में फँसे हुए गृहस्थ से अपने आपको श्रेष्ठ मानने का ढिंढोरा पीटकर गृहस्थों में हीन भावना भी जगा रहे थे। इनकी हठयोग की क्रियाएँ सामान्य जनता को आश्चर्य में अवश्य डाल रही थीं पर उसको न तो सामंजस्यपूर्ण दृष्टि दे पा रही थीं और न ही जीवन के प्रति आस्था ही जगा पा रही थीं।

इस्लाम धर्म के पास भी जनता को धार्मिक या सांस्कृतिक दृष्टि से देने के लिए कुछ ठोस न था। अपनी समता की भावना, धार्मिक कट्टरता तथा जातीय एवं सामूहिक चेतना के बल पर उन्होंने हिन्दू जीवन को चमत्कृत तथा आकृष्ट करने की कोशिश की। सूफियों ने अपने प्रेम के सन्देश के द्वारा कुछ सरसता और आशा प्रदान करने की चेष्टा अवश्य की, पर कुल मिलाकर ये हिन्दू जीवन में अपनी परम्परा के प्रति अनास्था जगाने का ही कार्य कर पाये थे। जीवन को पूर्ण स्वस्थ प्रेरणा देने, उसके निराश क्षणों में संबल देने तथा जीवन को समन्वय-कारी दृष्टि देने के लिए उनके पास कुछ भी नहीं था। जनता जीवन के लिए मार्ग चाहती थी, एक समन्वय का मार्ग और यह मार्ग उसे दिया राम और कृष्ण की सगुण भक्ति ने।

इससे पूर्व कबीर आदि सन्तों ने अपनी निर्गुण भक्ति द्वारा जनजीवन में आशा का संचार तो किया पर ज्ञान, वैराग्य और योग-साधना को अत्यधिक महत्व देने के कारण उनका मार्ग जीवन की छोटी-से-छोटी वासना और क्रिया-कलाप को भक्ति में परिणत नहीं कर सका। ऐसे व्यापक दृष्टिकोण का प्रकाश जनता को कृष्ण भक्ति ने दिया। वस्तुतः जनता के जीवन में पूरी आस्था कृष्ण भक्ति ने ही उत्पन्न की। इस दृष्टि से कृष्ण-भक्ति का सर्वोपरि महत्व है।

कृष्ण-भक्ति राजनैतिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक आदि दृष्टियों से प्रासं-गिक थी। इसमें वर्ण-व्यवस्था की मर्यादा को स्वीकार करते हुए भी उसके विष को दूर करने की शक्ति थी। इस भक्तिवाद ने वर्ण व्यवस्था के आवरण में ऊँच-नीच के अहंकार तथा पारस्परिक घृणा की जमी हुई काई को साफ किया। वस्तुतः कृष्ण भक्ति में ऐसी शक्ति थी जो धर्म, शास्त्र, वर्ण-व्यवस्था आदि के प्रति टूटती हुई आस्था को फिर से बद्धमूल कर सकती थी और उसकी जड़ें गह-राई तक जमा सकती थीं। राजनैतिक परिस्थितियों के कारण व्याप्त नैराश्य तथा वैराग्य-भावना को आशा में परिणत करने की क्षमता कृष्ण-भक्ति में थी। जीवन को सब प्रकार से समन्वयवादी दृष्टिकोण देना सगुण भक्ति आन्दोलन का प्रमुख उद्देश्य रहा है और कृष्ण भक्ति ने तो इस भावना को रामभक्ति से भी अधिक सुदृढ़ किया है। "राम भक्ति तो वैधी भक्ति है, उसमें मर्यादा है,

ऊँच-नीच का भाव थोड़ा सुरक्षित है। उसमें शास्त्र सम्मत विधि-निषेध का पालन भी आवश्यक है पर कृष्ण भक्ति तो प्रेमाभक्ति है, सखा भाव और माधुर्य भाव की भक्ति है। इन सम्बन्धों में ऊँच-नीच के भावों तथा मर्यादा के विधि-निषेधों के जटिल बन्धन प्रायः नहीं होते हैं। 'हरि को भजै सो हरि का होई' की पूर्ण अनुभूति तो इसी में जाग पाई है। सखाभाव और माधुर्य भाव की प्रमुखता के कारण कृष्णभक्ति जन-जीवन में पारस्परिक समता और सन्निकटता का भाव सबसे अधिक जगा पाई।"[15]

इस भक्ति में एक विशेषता यह भी थी कि इसमें शास्त्रीय मर्यादाओं के पालन, कर्मकाण्ड, योग तथा ज्ञान-वैराग्य आदि के अनुसरण का कोई निषेध नहीं था। इस भक्ति ने सबको महत्व देते हुए सबका अपना उपयोग साबित किया। पर इतना जरूर कहा कि ये सबके लिए अनिवार्य एवं अपरिहार्य रूप से ग्राह्य नहीं हैं। भगवान के ऊपर अनुग्रह ही इस भक्ति का मूल है। सिद्धान्ततः यह आस्था निर्गुण और सगुण दोनों प्रकार के भक्तों में है। राम भक्तों में भी यही आस्था है पर वे मर्यादा की ओर अधिक झुके रहे। परन्तु कृष्ण भक्तों ने जनता को इस अनुग्रह की आस्था का हृदय से साक्षात्कार कराया। लोगों के हृदय में उसकी सुदृढ़ निष्ठा जगा दी। मध्ययुग में इसी आस्था की ही सबसे बड़ी कमी थी, जिसे न तो बौद्ध धर्म जागृत कर सकता था और न तो नाथ-सिद्ध। इस्लाम के पास भी ऐसी कोई वस्तु नहीं थी। जीवन की इसी महान् आस्था और आशा की भावना को कृष्ण भक्ति ने जाग्रत किया। यह क्षमता केवल इस भक्ति में ही थी।

मध्यकाल में आचार्य वल्लभ कृष्ण-भक्ति के प्रमुख आचार्य रहे हैं। इन्होंने भक्ति में शुद्ध पुष्टि को महत्व दिया। इनकी भक्ति में प्रेम और अनुराग से ही भगवान के अनुग्रह को प्राप्त करने की क्षमता थी जिसमें न ज्ञान की आवश्यकता थी और न वैराग्य की। शास्त्र सम्मत धर्म का पालन भी जिसमें महत्वपूर्ण नहीं था। इसी कारण यह ज्यादा प्रचारित और प्रसारित हुई। निर्गुण भक्ति ज्ञान, वैराग्य और योग की उपेक्षा नहीं कर पाई और राम भक्ति शास्त्र सम्मत धर्म तथा उसके विधि-निषेध की। पर कृष्ण भक्ति शुद्ध अनुग्रह और अनुराग पर ही टिकी रही। केवल इसी में ही यह क्षमता थी और इसीलिए यह जनता में भगवान की कृपा का विश्वास अधिक जगा पाई और जीवन की निराशा के अन्धकार में आशा का दीप जला पाई।

इसके अतिरिक्त कृष्ण भक्ति में एक और प्रधान गुण था, जिसके कारण यह मध्यकालीन परिवेश में अधिक प्रासंगिक हो पाई। और यह गुण था ऐन्द्रिकता एवं आध्यात्मिकता के पारस्परिक अन्तर्विरोधों तथा संघर्षों के कारण उत्पन्न कुण्ठा की भावना को दूर करने का। मध्यकाल में उत्तरी भारत के जनजीवन में

जहाँ एक तरफ ऐन्द्रिक श्रृंगार की भावना का प्राबल्य था वहीं दूसरी तरफ योग, वैराग्य एवं तथाकथित आध्यात्मिकता की भावना का भी। इस प्रकार तत्कालीन जनजीवन में श्रृंगार, ऐन्द्रिकता और आध्यात्मिकता के पारस्परिक अन्तर्विरोध तथा संघर्ष से एक कुण्ठा जाग गई थी। इस कुण्ठा को दूर करके जनजीवन को स्वस्थ मार्ग प्रदान करने का कार्य कृष्ण भक्ति ने ही किया। इसमें ऐहिकता और आध्यात्मिकता का समन्वयवादी मार्ग था।

इस भक्ति का सिद्धांत था कि श्रृंगार, वात्सल्य, सख्य आदि सम्पूर्ण लौकिक वासनाओं को भगवान की ओर लगा दो। भगवान के आलम्बन से लौकिक वासनाएँ पवित्र हो जाती हैं। निर्गुण भक्ति में इस तरह की बात न थी। निर्गुण और निराकार भगवान को रति, वात्सल्य आदि भावों का आलम्बन मानकर इन भावों की पूर्ण अनुभूति जनसाधारण की शक्ति से बाहर की बात थी। निराकार पर तो पिता, पुत्र आदि का आरोप करना पड़ता है। इस आरोप से सामान्य जन में न भक्ति की पूर्ण निष्ठा जाग पाती है और न इन वासनाओं का पूरा भोग ही हो पाता है। सामान्य जन तो सगुण और साकार भगवान की मानवीय लीलाओं के माध्यम से ही अपनी वासनाओं का भोग करता हुआ भक्ति के सोपान पर चढ़ सकता है। वह तो ईश्वर का वह रूप देखना चाहता है जो चर्म चक्षुओं से प्रत्यक्ष तथा सबके समान लौकिक कार्य करने वाला है। अवतारवाद में निष्ठा रखने वाले सगुण भक्तों के लिए बाल-क्रीड़ा करते हुए राधा और कृष्ण एक ही साथ बालक और भगवान दोनों हैं। बालक कृष्ण की सभी बाल-क्रीड़ाएँ इसी अर्थ में सत्य हैं जिस अर्थ में सामान्य बालक की होती हैं। कृष्ण की बाल-क्रीड़ाओं का वर्णन करने वाला कवि सहृदय की वात्सल्य भावना का उतना ही भोग करा देता है जितना कोई कवि सामान्य बालक की बाल-क्रीड़ाओं के चित्रण से कर पाता है।

इसके अतिरिक्त कृष्ण भक्ति में एक और भी विशेषता थी। वह थी बाल-कृष्ण में भगवान की तथा उनकी क्रीड़ाओं में लीला की भावना जगाने की। इससे वात्सल्य रति तथा दाम्पत्य रति आदि सम्पूर्ण ऐहिक वासनाएँ भक्ति में परिणत हो जाती हैं। मध्यकाल में भारतीय समाज में एक तरफ इन्द्रिय-भोग की लिप्सा का तथा दूसरी तरफ संतों आदि के प्रभाव से वैराग्य-भावना का जोर था। कृष्ण भक्ति में इनके अन्तर्विरोधों को मिटाकर इनमें सुन्दर ढंग से समन्वय स्थापित करने की क्षमता थी। कृष्ण भक्ति में सम्पूर्ण ऐन्द्रिकता और भोग-वासना का आलम्बन कृष्ण को माना गया। इससे सम्पूर्ण वासनाएँ भगवान को समर्पित हो गईं और भक्त में इन ऐहिक भोगों के प्रति अनासक्ति उत्पन्न हो गई। मध्यकालीन जीवन को देने के लिए कृष्ण भक्ति में यह महान् एवं पवित्र सन्देश था।

मध्यकाल में कृष्ण भक्ति की कई धाराएँ प्रवाहित हो रही थीं जिन्हें दार्शनिक मतवादों का शास्त्रीय प्रश्रय भी मिल गया था। अन्यथा इससे पूर्व यह भक्ति शुद्ध प्रेम के स्तर पर ही टिकी हुई थी। इन सम्प्रदायों में प्रमुख हैं—वल्लभाचार्य का पुष्टिमार्ग, चैतन्य महाप्रभु का गौड़ीय सम्प्रदाय, गोस्वामी हितहरिवंश का राधावल्लभ सम्प्रदाय तथा स्वामी हरिदास का सखी सम्प्रदाय। इनमें से वल्लभाचार्य के पुष्टिमार्ग का हिन्दी के कृष्णभक्ति साहित्य के स्वरूप निर्धारण में सर्वाधिक महत्वपूर्ण सहयोग रहा। इसका दर्शन-पक्ष तथा साधना-पक्ष दोनों ही अत्यन्त सबल रहा जिसमें दर्शन के क्षेत्र में शंकराचार्य के अद्वैतवाद या मायावाद तथा साधना-पक्ष में ज्ञान-साधना से टक्कर लेने की पूरी क्षमता थी। इसका कवित्वमय रूप हमें सूरदास में मिलता है। महाकवि सूरदास ने इसी सम्प्रदाय में दीक्षित होकर भक्ति का प्रचार किया तथा निराश जन-जीवन में आशा का संचार किया।

सूर की भक्ति-भावना : कितनी साम्प्रदायिक और कितनी उदार

भक्त कवियों में महात्मा सूरदास का नाम अग्रगण्य है। इन्होंने महाप्रभु वल्लभाचार्य द्वारा प्रवर्तित पुष्टिमार्ग में विधिवत दीक्षा लेकर पुष्टिमार्गीय भक्ति का गान किया। मध्ययुगीन सांस्कृतिक भारत के निर्माण में आचार्य वल्लभ की इस भक्ति का विशेष महत्व रहा है। कृष्ण के बाल-रूप की उपासना तथा राधा-कृष्ण के सम्बन्धों की मधुर कल्पना ने मध्यकालीन पारिवारिक-सामाजिक जीवन के संगठन तथा निर्माण में अभूतपूर्व योग प्रदान किया है।

आचार्य वल्लभ के अनुसार भगवान के प्रति माहात्म्य ज्ञानपूर्वक परम सुदृढ़ स्नेह ही भक्ति है जो केवल प्रभु के अनुग्रह से ही साध्य है। यही पुष्टिमार्गीय भक्ति है। इसमें प्रीति और करुणा का महत्व सर्वोपरि है इसी से इसे रागानुगा भक्ति भी कहा जाता है। प्रभु-अनुग्रह की पात्रता आने पर भक्त सदैव के लिए निश्चिंत हो जाता है क्योंकि इसके अनन्तर परमाराध्य ही भक्त के समस्त कार्यों का नियामक रहता है। वल्लभाचार्य ने प्रभु का प्रेम और अनुग्रह पाने तथा अविद्या इत्यादि नाना प्रकार के दोषों का नाश करने के लिए, दृढ़ विश्वासपूर्वक श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पाद-सेवन, अर्चन, वंदन, दास्य, सख्य और आत्म-निवेदन अंगों वाली नवधा भक्ति करने का उपदेश दिया। ऐसा करने से प्रेम की वह पूर्णता आती है, जिससे भगवद् धर्म प्रादुर्भूत होते हैं।

भक्ति के उक्त नौ प्रकारों में से प्रथम छह कृत्य हैं और अन्तिम तीन भाव।

कृत्यों में प्रथम तीन का सम्बन्ध ईश्वर के नाम और लीलारूपों से, और अन्तिम तीन—पाद-सेवन, अर्चन तथा वंदन का सम्बन्ध उनके विग्रह-स्वरूपों से है। दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन भावों के साथ-साथ वात्सल्य और माधुर्य भावों से भी भगवान की उपासना का वल्लभ सम्प्रदाय में महत्व है, जिसको सम्मिलित रूप से प्रेमरूपा या प्रेमलक्षणा भक्ति कहा गया है।

सूर की दृष्टि में यह प्रेम लक्षणा भक्ति बिना हरि कृपा के नहीं होती।[16] यदि हरि कृपा हो जाए तो यह भक्ति सहज ही प्राप्त हो जाती है। सूर ने भगवान को प्रेममय ही माना है जो राव-रंक, नर-नारी सभी के प्रेम को स्वीकार करता है। वह तो प्रेम के कारण ही जन्म लेता है तथा अनेक लीलाएँ करता है।[17] उनकी सम्मति में प्रेम केवल प्रेम से ही उपजता है। सच्चे प्रेम से ही संसार बँधा है, उसी से परमार्थ और यहाँ तक कि गोपाल भी मिल जाते हैं।[18]

श्रवण, कीर्तन, स्मरण इत्यादि भक्ति के विविध सोपान इसी प्रेमलक्षणा भक्ति की ही प्राप्ति के साधन हैं। सूर ने इसका वर्णन किया है :

स्रवन, कीरतन, स्मरन, पादरत, अरचन, वंदन दास।
सख्य और आत्मनिवेदन प्रेमलच्छना जास॥[19]

परमाराध्य के गुण, नाम, चरित्र आदि का सुनना और सुनाना 'श्रवण भक्ति' है। सूर ने इस भक्ति की महिमा बताते हुए कहा है कि प्राणों के श्रवणों की सार्थकता ईश्वर की सरस कथा का सुधारस सदा सर्वदा पान करने में है—'स्रवननि की जु यहै अधिकाई, सुनि हरिकथा सुधा-रस पावै।'[20] इसी प्रकार सूर ने हरिलीला सुनने-सुनाने का फल हरिभक्ति की प्राप्ति और भवसागर से मुक्ति बताया है :

(1) जो यह लीला सुनै, सुनावै, सो हरि भक्ति पाइ सुख पावै।[21]
(2) जो पद स्तुति सुनै-सुनावै सूर सो ज्ञान भक्ति को पावै।[22]
(3) सूर कह्यौ श्रीमुख उच्चार कहै-सुनै सो तरै भवपार।[23]

अपने परम साध्य का गुण-श्रवण सूर को सदैव अत्यन्त प्रिय लगता है :

अंग-अंग-प्रति-छवि तरंग-गति सूरदास क्यों कहि आवै।[24]

यहाँ तक कि एक पद में उन्होंने हरिलीला सुनने-सुनाने की तुलना में अष्ट-सिद्धि और नवनिधि की प्राप्ति को भी तुच्छ बताया है।[25]

इष्टदेव के नाम, गुण, उनकी लीला आदि का उच्च-स्वर के ज्ञान करना 'कीर्तन भक्ति' है। सूरदास को हरिलीला गाने में बड़ा सुख मिलता है :

जो सुख होत गोपालहिं गाए।
सो सुख होत न जप-तप कीन्हें, कोटिक तीरथ न्हाऐ।[26]

भगवान के रूप, गुण, क्रीड़ा आदि का ध्यान और चिन्तन 'स्मरण-भक्ति' है। सूरदास स्थान-स्थान पर 'हरि हरि हरि हरि सुमिरन करा' की बात कहते हैं। क्योंकि हरि का सुमिरन करने से ही सारा सुख है, बिना इसके मुक्ति नहीं।

आराध्य की चरण सेवा या स्वामी के लिए श्रद्धाभाव से समर्पित किए गए सेवक के व्यवहार 'पाद-सेवन' के अन्तर्गत आते हैं। सूर नंदनंदन को घर का ठाकुर बनाने की बात कहते हैं :

इहिं विधि कहा घटैगौ तेरौ।
नंद नंदन करि घर कौ ठाकुर आपुन ह्वै रहु चेरौ।[27]

श्रद्धापूर्वक आराध्य की परिचर्या, सेवा, पूजा आदि 'अर्चना-भक्ति' है। देव-विग्रह को स्नानादि कराने के पश्चात् चंदन, पुष्प, धूप, दीप और नैवेद्य समर्पित करके परिक्रमा करना अर्चना-भक्ति के अंग हैं। सूर ने इस भक्ति के अन्तर्गत भगवान के विराट रूप की आरती प्रस्तुत की है :

हरि जू की आरती बनी।
अति विचित्र रचना रचि राखी, परति न गिरा गनी।
× × ×
सूरदास सब प्रगट ध्यान मैं अति विचित्र सजनी।[28]

आराध्य की सविनय स्तुति करके उसको प्रणाम करना 'वंदन-भक्ति' है। सूर ने सूरसागर के प्रारम्भ में ही हरि की वंदना की है :

'बंदौं चरन कमल हरिराइ'।[29]

दीनतापूर्वक स्वदोषों को स्पष्ट शब्दों में स्वीकार करके परमप्रभु के शरण और संरक्षण में ले लेने की सविनय याचना करना 'दास्य भक्ति' है। सूर ने अपने विनय के पदों में जहाँ अत्यन्त दैन्य प्रकट करते हुए अपने को पतितों का राजा तथा पतितों, का सरदार कहा है वहाँ उनकी दैन्य भक्ति ही प्रकट हुई है।

आराध्य के प्रति अन्तरंग सखा जैसा परम प्रेममय परन्तु निःस्वार्थ भाव रखना 'सख्य भक्ति' है। सम्प्रदाय की मान्यता के अनुसार सूर आदि अष्टछापी कवि कृष्ण के सखा माने जाते हैं। पुष्टि सम्प्रदाय में इस भक्ति का बड़ा महत्व है। सूरदास का सख्य वर्णन विश्व साहित्य में बेजोड़ है। सूर-सागर में बला-लीलाएँ, गोचारण-लीलाएँ और सुदामा-दारिद्र्य-निवारण ये तीनों स्थल सख्य भक्ति के हैं।

अनन्य भाव से परमाराध्य की प्रार्थना करना और उसकी शरण में जाना 'आत्मनिवेदन' भक्ति है। इसके लिए 'प्रपत्ति' शब्द भी प्रयुक्त होता है। सूरदास

के विनय के पदों में इस भक्ति का स्वरूप देखा जा सकता है :

(1) जब-जब दीनन कठिन परी।
जानत हौं, करुनामय जन कौं तब-तब सुगम करी।[30]

(2) जाकौं दीनानाथ निवाजैं।
भव-सागर मैं कबहुँ न झूकैं अभय निसाने बाजैं।।[31]

(3) कहा कमी जाके रामधनी।
मनसा नाथ मनोरथ पूरन सुख-विधान जाकी औज घनी।[32]

(4) अब कैं राखि लेहु भगवान।
हौं अनाथ बैठ्यौ द्रुम डरिया पारधि साधे बान।।[33]

सूर द्वारा वर्णित नवधा भक्ति पुष्टि सम्प्रदायानुयायी है। वल्लभाचार्य की पुष्टिमार्गीय भक्ति में सेवाभावना का विशेष महत्व है। आचार्य जी के अनुसार सेवा तन, वित्त और मन से करनी चाहिए। लेकिन इसमें सर्वोत्कृष्ट मानसी सेवा है।

सेवा के तीन रूप माने गये हैं—गुरुसेवा, सन्तसेवा और प्रभु-सेवा। 'गुरु सेवा' भगवद्भक्ति का प्रधान लक्षण है। गुरु का स्थान भक्ति-धर्म में अत्यन्त उच्च माना गया है। सूर ने गुरु की आवश्यकता को अनिवार्य बताते हुए उसकी सेवा करने का आदेश दिया है। संसार में मायारूपी भुजंगिनी बड़ा उत्पात मचाये हुए हैं। उसने मनुष्यों को डसकर अपने तीक्ष्ण विष का घातक प्रभाव डाला है। ऐसे में कोई मंत्र नहीं काम कर सकता, केवल गुरुरूपी गारुड़ि ही कृष्ण रूपी मंत्र के द्वारा विष को दूर कर सकता है :

अजहूं सावधान किन होई।
माया विषम भुजंगिनि कौ विष उतर्‌यौ नाहित तोहि।
कृष्न सुमन्त्र जियावन भूरी, जिन जिन भरत जिवायौ।
बारम्बार निकट स्रवननि ह्‌वै गुरु गारुड़ी सुनायौ।।"[34]

'सन्त-सेवा' या सत्संगति को सूर ने बड़ा महत्व दिया है। उनके अनुसार यह बड़े भाग्य से मिलते हैं :

सूरदास साधुनि की संगति बड़े भाग्य जो पाऊँ।[35]

जिस दिन संत पाहुने आ जाता है, उस दिन करोड़ों तीर्थों में स्नान करने का फल प्राप्त हो जाता है :

जा दिन संत पाहुने आवत।
तीरथ कोटि सनान करें फल जैसे दरसन पावत।
× × ×
संगति रहैं साधु की अनुदिन भव-दुख दूरि नसावत।[36]

'प्रभु-सेवा' में पुष्टिमार्ग में नित्य सेवा-विधि और वर्षोत्सव—विधि का विधान है। नित्य सेवा-विधि प्रातःकाल से लेकर शयनपर्यन्त होती है, जिसके आठ समय होते हैं—मंगला, शृंगार, ग्वाल, राजभोग, उत्थापन, भोग, संध्याआरती और शयन। वर्षोत्सव—सेवा विधि में श्रीकृष्ण के नित्य और अवतार-लीलाओं के उत्सव, छः ऋतुओं के उत्सव, लोक-व्यवहार और वैदिक पर्वों के उत्सव तथा अन्य अवतारों की जयन्तियाँ सम्मिलित हैं। सूर ने सम्प्रदायानुसार सभी का विधिवत् वर्णन किया है। नित्य और वर्षोत्सव दोनों प्रकार की सेवा-विधियों के तीन मुख्य अंग हैं—शृंगार, भोग और राग। साधारणतया मनुष्य इन्हीं तीनों सांसारिक विषयों में फँसा रहता है। इनसे मुक्ति पाने के लिए वल्लभाचार्य जी ने इन तीनों ही विषयों को भगवान में लगा देने का उपदेश दिया, जिससे ये भगवान स्वरूप हो जाएँ।

वल्लभाचार्य ने वैष्णव धर्म को दो और भक्ति पद्धतियाँ दीं। एक तो मधुरा भक्ति और दूसरी वात्सल्य भक्ति। यद्यपि वात्सल्य भक्ति का विधान श्रीमद्भागवत और पांचरात्र में भी मिलता है लेकिन सिद्धान्त रूप में ही। व्यवहार में वात्सल्य भक्ति की स्थापना करने का सम्पूर्ण श्रेय वल्लभाचार्य को ही है। लेकिन वल्लभाचार्य ने भी इस भक्ति का संकेतमात्र किया है वस्तुतः इसका विधिवत् वर्णन महाकवि सूरदास ने ही किया। डॉ० हरवंशलाल शर्मा के शब्दों में —"सख्य-भाव की भक्ति के समान ही सूर की वात्सल्य-भक्ति भी बड़ी महत्वपूर्ण है। यदि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखा जाए तो वात्सल्य-भक्ति अन्य सब प्रकार की भक्तियों से उच्च प्रतीत होगी, क्योंकि वात्सल्य भाव में किसी भी प्रकार के स्वार्थ की गन्ध तक नहीं होती; अतएव इसे हम निष्काम भक्ति का पोषक कह सकते हैं। यह एक व्यापक भाव है, क्योंकि इसकी स्थिति प्राणिमात्र में होती है। सूर का वात्सल्य-भाव भी विश्व-साहित्य में अपना विशेष स्थान रखता है।"[37] इस भक्ति की पूर्ण निष्पत्ति यशोदा में दिखाई देती है। इसके अतिरिक्त नन्द, वसुदेव-देवकी तथा ब्रज की वयस्क नारियों में भी इस भक्तिभाव के दर्शन होते हैं। लेकिन वात्सल्य की परिपक्वता केवल यशोदा में ही है जो हमें भक्ति-रस की कोटि तक पहुंचा देती है। वात्सल्य, भक्ति का सर्वशुद्ध भाव है, क्योंकि इसमें न तो विरक्ति की भावना है और न इन्द्रिय-सुख की कामना है। लोक-धर्म का भी इसमें उल्लंघन नहीं होता। वस्तुतः यह भक्ति मध्यकालीन परिवेश के अनुकूल थी इसीलिए सूर ने इसका वर्णन किया है। वात्सल्य भाव के आलम्बन बालकृष्ण हैं। उनकी लीलाएँ उद्दीपन का कार्य करती हैं। सूर ने वात्सल्य के दोनों पक्षों—संयोग और वियोग—में यशोदा को रखकर देखा है। ब्रज में कृष्ण के प्रकट होते ही आनन्द का अभूतपूर्व वातावरण उत्पन्न हो जाता है, जिसमें माँ यशोदा ही नहीं गोप-गोपियाँ भी अपने आपको भूलकर विचरण करने लगते हैं। कृष्ण के मथुरा

जाने तक यशोदा में संयोगात्मक भाव की दृढ़ता रहती है लेकिन मथुरागमन से ही वियोग की अनुभूति का आरम्भ हो जाता है। सूर के ऐसे वर्णनों में यशोदा का मातृत्व दर्शनीय है। सूर ने यशोदा के वात्सल्य में इतनी तन्मयता और मनोवैज्ञानिकता भर दी है कि कृष्ण के अतिप्राकृत कार्यों को देखते हुए भी उस भाव में विकार नहीं आने पाया है। उनके वात्सल्य भाव में हृदय का पूरा संवेग मिलता है।

मधुर भक्ति का वर्णन सूर के समकालीन रूप गोस्वामी ने किया है। यद्यपि इस भक्ति को वल्लभसम्प्रदाय में स्थान मिला है लेकिन इसका शास्त्रीय विवेचन उस समय तक नहीं हो पाया था। विट्ठलनाथ जी ने इसी भक्ति का प्रतिपादन किया। मधुरा भक्ति को हम प्रेम-शृंगार की भक्ति कह सकते हैं। लौकिक प्रेम के जितने स्वरूप हो सकते हैं वे सभी मधुर भक्ति में आ जाते हैं, अन्तर केवल इतना है कि लोक से हटाकर उन्हें ईश्वर से जोड़ दिया जाता है। मधुर भाव की भक्ति को दाम्पत्य-भाव की भक्ति भी कहते हैं। भागवतकार का उद्देश्य इसी भाव की भक्ति को प्रस्फुटित करना था। प्राचीन समय से संतों, सूफियों तथा शैव-वैष्णवों ने माधुर्य-भाव की भक्ति को अपनाया था। किन्तु सूरदास से पहले राधाकृष्ण और गोपियों के संयोग-वियोग की कथा से यह मधुर भाव इतना विस्तारपूर्वक कभी भी प्रकाशित नहीं किया गया था। सन्तों और सूफियों की मधुरभाव की उपासना को मधुर भाव की भक्ति का रूप देकर और उसे राधा-कृष्ण के लोक-विश्रुत प्रेम चरित्र पर आश्रित करके सूरदास ने सगुण-भक्ति की उपासना पद्धति में क्रान्ति कर दी। इस भक्ति के लिए आत्मसमर्पण और अनन्य भाव आवश्यक हैं जो सूरसागर की दानलीला, चीरहरण लीला और रास-लीला में पूर्णता को प्राप्त हुए हैं। सूरदास की दान लीला में इस भक्ति की चरम परिणति देखने को मिलती हैं। मधुर भक्ति का जैसा वर्णन सूर ने किया है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। उन्होंने गोपियों के पूर्वराग से प्रारम्भ करके इस भक्ति का क्रमिक विकास प्रस्तुत किया है। पूर्वराग की अवस्था में गोपियों ने कुल मर्यादा का अतिक्रमण किया है। इसके पश्चात् संयोग-रति की पूर्णावस्था मिलन में दिखाई पड़ती है।

वल्लभाचार्य ने मधुर भक्ति के आध्यात्मिक साधन में विरह की अवस्था को भी महत्व दिया है। सूर का वियोग वर्णन संयोग से भी अधिक उज्ज्वल है। मधुर भक्ति की आश्रय स्वरूपा गोपियाँ कृष्ण के प्रेम में इतनी लीन हैं कि उद्धव द्वारा प्रतिपादित ज्ञान-योग उन्हें निरर्थक प्रतीत होता है और वे इसका मजाक उड़ाती हैं। सूर ने ज्ञान, योग, यज्ञ, पूजा आदि की अपेक्षा माधुर्य भक्ति को श्रेष्ठ प्रतिपादित किया है। इस प्रकार माधुर्यभाव की भक्ति का पूर्णतया निरूपण कर सूर ने कृष्ण के संयोगवियोगात्मक शृंगार-रसरूप इष्टदेव की उपासना को ही

प्रमुखता दी है। सूर की प्रेमाभक्ति की चर्चा की जा चुकी है। इसके अतिरिक्त भी उनकी भक्ति का एक रूप बनता है, जिसे विनय-भक्ति या दास्य-भक्ति कह सकते हैं। यह उनके विनय के पदों में मिलती है। वल्लभाचार्य द्वारा पुष्टिमार्ग में दीक्षित होने से पूर्व जब सूरदास गऊघाट पर रहते थे तब वे विनय-भक्ति के पद बनाकर गाया करते थे। विनय-भक्ति की साधना में वैष्णव सम्प्रदाय के अनुसार सात भूमिकाएँ स्वीकार की गयी हैं—दीनता, मानमर्षता, भय, दर्शन, भर्त्सना, आश्वासन, मनोराज्य और विचारणा। सूरदास के विनय के पदों में वैष्णव सम्प्रदाय के इन विनय-सम्बन्धी सिद्धान्तों का पूरा-पूरा परिचय मिल जाता है। इन सातों भूमिकाओं को लक्ष्य करके सूर ने पदरचना की है और अपने भक्तिभाव की प्रथम स्थिति का अच्छा परिचय दिया है।

इस प्रकार सूरदास की भक्ति के विभिन्न पहलुओं पर दृष्टि डालने पर यही अर्थ निकलता है कि विनय भाव की भक्ति को छोड़कर उनकी भक्ति-पद्धति पुष्टि सम्प्रदायानुयायी ही है। उनकी भक्ति का प्रमुख आधार पुष्टिमार्गीय सिद्धान्त 'भगवदनुग्रह' ही था और इसी को केन्द्र बिन्दु मानकर वे वात्सल्य, प्रेम आदि की व्यंजना करने में लीन रहे।

सूरदास ने वल्लभाचार्य से दीक्षा ग्रहण करने के उपरान्त दार्शनिक दृष्टिकोण से अपने सिद्धान्तों का नवीन संस्कार किया था। शुद्धाद्वैत, ब्रह्मवाद या अविकृत-परिणामवाद के नाम से जो दार्शनिक सिद्धान्त वल्लभाचार्य जी ने स्थापित किया था सूर ने उसका प्रतिपादन अपने ग्रन्थों में प्रयोजन—सापेक्ष शैली से किया। तत्त्व चिन्तन का व्यवहार पक्ष सूर ने सदा अपने पास रखा और उसे संवेद्य बनाने में अपनी कला का प्रयोग किया। सूरदास के व्यक्तित्व का निर्माण इसी कारण केवल साम्प्रदायिक शैली से न होकर एक साधक संत-भक्त की सर्वतंत्र स्वतंत्र शैली से हुआ।

वल्लभ सम्प्रदाय का अनुसरण करते हुए भी सूर की भक्ति-भावना में साम्प्रदायिकता के तत्वों का अभाव है जो उनके समर्थ व्यक्तित्व का परिचायक है। भक्ति को भव्य एवं उदात्त रूप में चित्रित करते समय सूर ने शृंगार और माधुर्य की सार्वभौम सत्ता का जैसा जयघोष अपने काव्य द्वारा किया वैसा उनसे पूर्व किसी लोक गाथा में नहीं हुआ था।

जन मानस को विमुग्ध कर देने वाला उनका काव्य भक्ति का नवनीत है जो भवत्रस्त विपन्न जन को स्निग्ध शान्त करता हुआ मोहन में लीन करने की अद्भुत शक्ति रखता है। उनके द्वारा वर्णित मधुर और वात्सल्य भक्ति में सर्व साधारण को सहज आकृष्ट करने की क्षमता है। उसमें वात्सल्य हृदय, प्रौढ़ स्त्री-पुरुषों और प्रेम-संस्कारपूर्ण युवक-युवतियों आदि सभी के लिए स्थान है। यही कारण है कि सूर द्वारा प्रवर्तित राधाकृष्ण की यह भक्ति लगभग चार सौ वर्षों

तक सारे उत्तरी भारत में गूंजती रही और इसने उत्तरभारत की अन्य सभी भाषाओं के साहित्य को भी अपने में रंग लिया।

अप्रासंगिक धार्मिक दुराग्रहों पर प्रहार और प्रासंगिक संदर्भों की तलाश के क्रम में भ्रमरगीत-प्रसंग

सूरदास के आविर्भावकाल की स्थिति का पर्यवेक्षण करने से ज्ञात होता है कि उनसे पूर्व समाज में सिद्धों, नाथों और योगियों का बोलबाला था। ये सभी अपने विचार जनता के सम्मुख प्रकट कर रहे थे लेकिन सामान्य जनता इन विचारों को आत्मसात नहीं कर पा रही थी। इसका कारण था कि इन साधकों की साधना में किसी में कठिन शारीरिक यातना थी तो किसी में शून्य निराकार तथा निर्गुण का ध्यान। ये दोनों ही बातें जनता के लिए कष्टसाध्य थीं। उसके लिए कोई निश्चित मार्ग न था।

जन सामान्य की इस समस्या को महाकवि सूर ने अपने ढंग से सुलझाया। उन्होंने निर्गुण ज्ञान की अपेक्षा भक्ति का सीधा, सरल तथा सहज मार्ग प्रवर्तित किया। लेकिन इस क्रम में हमें यह न समझ लेना चाहिए कि सूर ने निर्गुण का खंडन करके सगुण की स्थापना की है तथा ज्ञान को भक्ति के सम्मुख निरर्थक घोषित किया है, वरन् उन्होंने तो भक्ति के द्वारा सगुण ईश्वर की उपासना को सहज तथा सुलभ बताकर उसे अधिक श्रेयशाली साबित किया है। यह उचित भी था। ज्ञान-विज्ञान, वैराग्य और योग को पुरुष संज्ञा प्रदान की गई है और इस कारण इसे परुष तथा प्रवल बताया गया है जबकि भक्ति नारी रूपा है। नारी रूपा होने से यह करुणामयी है अतएव सरलता से प्राप्त की जा सकती है। निर्गुण की ओर जाने से व्यक्ति में रुक्षता अधिक आ जाती है। वह शुष्क ज्ञान की बातों से जन-साधारण को मंगलकारी मार्ग का निर्देश नहीं कर पाता। जबकि भक्ति के द्वारा परमानंद रूपी फल की प्राप्ति सहज ही हो जाती है।

सूर के भ्रमरगीत का उद्धव-गोपी संवाद इसी निर्गुण-सगुण तथा भक्ति और ज्ञान के विवाद को प्रकट करता है। लेकिन सूर ने इस विवाद के अन्त में सगुण ईश्वर की भक्ति को अधिक प्रभावशाली सिद्ध किया है। यहाँ उन्होंने निर्गुण ईश्वर और ज्ञान तथा योग मार्गों का खंडन नहीं किया है अपितु उनकी काल और पात्र के अनुसार अपने युग में अनुपयुक्तता दिखाई है।

भक्ति के पक्ष में जो सबसे बड़ी बात सूरदास जी ने दिखाई है वह यह है कि इसमें संन्यास लेने या घरबार छोड़ने की आवश्यकता नहीं है। यह भक्ति घर में रहकर भी की जा सकती है। इसमें छोटे-बड़े, अमीर-गरीब का कोई भेद-भाव नहीं

है। छोटे से छोटा और बड़े से बड़ा सभी भगवान की भक्ति कर सकते हैं और अनुग्रह से पुष्ट हो सकते हैं।

भक्ति को ज्ञान से श्रेष्ठ इसलिए भी कहा गया है कि ज्ञानी तो निज-सामर्थ्य पर निर्भर रहता है जबकि भक्त भगवान पर ही आधारित होता है। सूर ने सूरसागर के आरम्भ में ही निर्गुणोपासना या ज्ञानमार्ग की कठिनाइयों का उल्लेख कर दिया है। वे कहते हैं कि निर्गुण ईश्वर की गति न तो कहने में आती है और न उस अव्यक्त पर मेरे मन की भावमयी वृत्ति ही ठहरती है। इसलिए सब प्रकार से अव्यक्त ब्रह्म तक पहुँचने में अपने को असमर्थ पाकर मैं सगुण भक्ति करता हूँ और उसकी लीला के पद गाता हूँ :

अविगत गति कछु कहत न आवै।
ज्यौं गूंगे मीठे फल कौ रस अंतरगत ही भावै।
परम स्वाद सबही सु निरन्तर अमित तोष उपजावै।
मन-बानी कौं अगम-अगोचर, सो जानै जो पावै।
रूप-रेख-गुन-जाति-जुगति-बिनु निरालंब कित धावै।
सब विधि अगम विचारहिं तातै सूर सगुन-पद गावै।।[38]

एक अन्य पद में भी सूर ने स्वयं कृष्ण के मुख से कहलवाया है कि योग, ज्ञान और कर्म के मार्ग से लोग मुझे नहीं पा सकते। जो गद्गद् कंठ से मग्न होकर मेरा गान करते हैं उन्हीं के हृदय में मेरा निवास होता है।[39]

उद्धव-गोपी संवाद में सूर की गोपियाँ भी यही कहती हैं कि हे उद्धव, जरा सही बुद्धि से विचारो, तुम हम अबलाओं को ज्ञान और योग तथा निर्गुण ईश्वर का वाद सिखाने आए हो। तुम्हारा निर्गुण ईश्वर तो बहुत भारी है जो हमसे सँभल ही नहीं सकता। हमको तो सगुण की भक्ति में ही चारों प्रकार की मुक्तियों का लाभ मिल गया है। हम योगाभ्यास करने योग्य नहीं हैं और न ज्ञान के सार को जानने की हममें बुद्धि ही है :

ऊधौ सूधे नेंकु निहारौ।
हम अबलनि कौ सिखवन आए, सुन्यौ सयान तिहारौ।
निरगुन कहौ कहा कहियत है, तुम निरगुन अति भारी।
सवेत सुलभ स्याम सुंदर कौं मुक्ति लही हम चारी।[40]

सूरसारावली में एक स्थान पर सूर ने स्वीकार किया है कि मैं बहुत दिनों तक कर्म, योग तथा ज्ञान, उपासना के मार्गों पर भटकता रहा परन्तु मेरा भ्रम नहीं छूटा। लेकिन श्री वल्लभाचार्य जी ने जब से सगुण लीला का भेद बता दिया तभी से मैंने हरि लीला का गुणगान करना शुरू कर दिया :

कर्मयोग पुनि ज्ञान-उपासन सबही भ्रम भरमायो ।
श्रीवल्लभगुरु तत्व सुनायौ लीला भेद बतायो ।
ता दिन तैं हरि लीला गाई एक लक्ष पद बन्द ।[41]

इससे स्पष्ट है कि सूरदास ने निर्गुण ब्रह्म की ज्ञानसापेक्ष साधना की अपेक्षा प्रेमपरक साकार उपासना को अधिक महत्ता दी है। उन्होंने विभिन्न सम्प्रदायों के कारण बढ़ती हुई धार्मिक उच्छृंखलता को रोकने के लिए एक नवीन मार्ग का अवलम्बन किया। उन्होंने ज्ञानवाद, अद्वैतवाद आदि के प्रचारकों का खंडनात्मक विरोध न करके जनता को स्वयं अपने लिए मार्ग निर्धारित करने का अवसर दिया।

सूर के उद्धव मध्यकालीन युगधारा के प्रतीक हैं। वे ऐसे व्यक्ति हैं जिनकी प्रवृत्ति अहंकारमयी है। अद्वैतसाधना और निर्गुण ब्रह्म के प्रति उनका अडिग विश्वास है। दार्शनिक दृष्टिकोण से वे अद्वैतवादी तथा मायावादी हैं साथ ही नाथ हठयोग तथा वैराग्य के प्रबल समर्थक भी हैं। इसीलिए सूर ने भागवत के विपरीत उन्हें ब्रज में प्रेमाभक्ति का उपदेश ग्रहण करने के लिए भेजा है। भागवत में ऊधो गोपियों को ज्ञान का उपदेश देने के लिए भेजे जाते हैं, पर सूर के कृष्ण उन्हें प्रेमाभक्ति का उपदेश ग्रहण करने के लिए भेजते हैं :

सूर प्रभु मन यहै आनी ब्रजहिं देउं पठाइ ।[42]

उद्धव, ब्रज पहुँचकर गोपियों से हरि का संदेश कहना प्रारम्भ कर देते हैं :

गोपी सुनहु हरि संदेश ।
× × ×
कह्यौ तुमकौं ब्रह्म ध्यावन, छांड़ि विषय विकार ।
सूर पाती दई लिखि मोहिं, पढ़ौ गोप कुमारि ।[43]

और भी :

सुनौ गोपी हरि कौ संदेस ।
करि समाधि अंतरगति ध्यावहु, यह उनकौ उपदेश ।।
वै अविगत अविनासी पूरन, सब घट रहे समाइ ।
तत्त्व ज्ञान बिन मुक्ति नहीं है, वेद पुराननि गाइ ।।
सगुन रूप तजि निरगुन ध्यावहु, इक चित इक मनलाइ ।
वह उपाइ करि विरह तरौं तुम, मिलै ब्रह्म सब आइ ।।[44]

लेकिन गोपियाँ तो कहती हैं कि हम 'गँवारि' ग्वालिनें हैं। आपका यह योग-समाधि का मार्ग मेरी समझ में ही नहीं आ रहा है :

जोग समाधि वेद-मुनि मारग, क्यौं समुझें जु गँवारि ।[45]

मालूम होता है आप कृष्ण के सच्चे मित्र नहीं हैं, बीच में ही कुछ स्वांग बना लिया है। जिस तरह से हमें आते ही अपना पति तजकर और को बताने लगे वैसा अगर दूसरी जगह कहते तो कुछ आपकी मेहमानदारी भी होती :

जैसी कही हमहिं आवत ही औरनि कहि पछिताते ।
अपनौ पति तजि और बतावत, मेहमानी कछु खाते ।[46]

लेकिन ऊधो भी हार मानने वाले नहीं हैं। वे कहते हैं कि तुम लोग जान-बूझकर बावली मत बनो। तत्व भजने से तुम वैसी हो जाओगी जैसे पारस छूने से लोहा हो जाता है। मेरा बचन सत्य मानो और सबका मोह छोड़ दो। पर गोपियाँ उन्हें फटकार देती हैं :

अरे मधुप ! बातें ये कैसी, क्यों कहि आवति तोह।
सूर सुबस्ती छांड़ि परम सुख, हमैं बतावत खोह ।।[47]

पर तुरन्त ही नारी सुलभ कोमलता के कारण नम्र हो जाती है और कहने लगती है कि ऊधो ! मैं तुम्हारे पाँव पड़ती हूँ, कृपया अपना यह जोग अपने पास ही सम्हाल कर रखिये :

सौंति धरौ यह जोग आपनौ, ऊधो पाहूं परौं ।
कहं रसरीति, कहां तन सोधन, सुनि-सुनि लाज मरौं ।।
चंदन छांड़ि विभूति बतावत, यह दुख कौन जरौं ।
सगुन रूप जु रहत उर अन्तर, निरगुन कहा करौं ।
निसिदिन रसना रटत स्याम गुन का करि जोग भरौं ।
नासा कर गहि ध्यान सिखावत, वेसरि कहां धरौं ।।
मुद्रा न्यास अंग आभूषण पतिव्रत तें न टरौं ।
सूरजदास यहै व्रत मेरें, हरि पल नहिं बिसरौं ।[48]

ऊधो भी हार मानने वाले नहीं हैं। वे कहते हैं कि ज्ञान के बिना जीवन में कोई सुख नहीं है। निर्गुण ब्रह्म तो घट-घट व्यापी है, वह सबके हृदय में निवास करता है। लेकिन तुम लोग तो सगुण के पीछे भागती फिर रही हो, अतः वह कैसे मिलेगा ? इसलिए उस तत्व का भजन करो जो निकट है और तन की पर-छाइं की तरह कभी छूटने वाला नहीं है। लेकिन गोपियाँ उनकी इस बात का मजाक उड़ाते हुए कहती हैं कि ऊधो तुम्हारा निर्गुण किस देश का वासी है ? तुम्हें मेरी कसम, जरा समझाकर बताइये, मैं हँसी नहीं कर रही हूँ :

निरगुन कौन देस को बासी ?
मधुकर कहि समुझाइ सौंह दै, बूझति सांच न हांसी ।

को है जनक, कौन है जननी, कौन नारि, को दासी।
कैसो बरन, भेष है कैसो, किहि रस मैं अभिलाषी ?
पावैगौ पुनि कियौ आपनौ, जो रे करैगौ गाँसी।
सुनत मौन ह्वै रह्यौ बावरो सूर सबै मति नासी।।[49]

अंत में गोपियों का सच्चा प्रेम देखकर उद्धव की आँखें खुल जाती हैं। उनका सारा ज्ञान-योग ढह जाता है और वे सगुन के चेरे हो जाते हैं :

अब अति चकितवंत मन मेरौ।
आयौ हौ निरगुन उपदेसन, भयौ सगुन कौ चेरौ।
जो मैं ज्ञान कह्यौ गीता कौ, तुमहिं न परस्यौ नेरौ।
अति अज्ञान कछु कहत न आवै, दूत भयौ हरि केरौ।
निज जन जानि मानि जतननि तुम कीन्हौ नेह घनेरौ।
सूर मधुप उठि चले मधुपुरी, बोरि जोग कौ बैरौ।[50]

ऊधो के इस विचार-परिवर्तन द्वारा सूर ने यह संकेत किया है कि साधारण जनता निर्गुण और निराकार ब्रह्म की उपासना नहीं कर सकती। अपने तोष के लिए उसे ऐसा ब्रह्म चाहिए जो साकार हो, सर्वगुण सम्पन्न हो और जिसके पास ऐसा प्रेमी हृदय हो जो प्रेम के प्रत्युत्तर में प्रेम भी कर सके। कृष्ण उनकी दृष्टि में शील और सौन्दर्य के ऐसे ही निधान थे। वे प्रेम के प्रतीक हैं और मनुष्य ही नहीं पशु-पक्षियों तक से प्रेम करने वाले हैं। भक्ति की इससे बड़ी महत्ता क्या होगी कि स्वयं भगवान भी उनकी तन्मयाशक्ति की दशा का वर्णन सुनकर प्रेम के आँसू बहाने लगते हैं। वस्तुतः सूर का मूल सिद्धान्त गोपियों की तरह तन, मन, धन से कृष्ण की भक्ति करना ही है। ऐसे कृष्ण के प्रेम में लीन हो जाने पर मनुष्य को गोपियों की तरह केवल उन्हीं का ध्यान रह जाता है। उसे सर्वत्र कृष्ण ही कृष्ण दिखाई देने लगते हैं। ज्यों-ज्यों मनुष्य उस स्थिति की ओर अग्रसर होता जाता है त्यों-त्यों कृष्ण के प्रति उसकी प्रीति और लगन तीव्रतर होती जाती है। वह संसार के बन्धनों से मुक्त होता जाता है। संसार की वासना और भौतिक सुख कामना से उसका चित्त हटता जाता है। डा० प्रेमनारायण टण्डन के शब्दों में—"योग, भक्ति, ज्ञान और कर्मकाण्ड, तीनों का उद्देश्य स्थूल रूप से अपने मन को इसी स्थिति तक पहुँचाना है, केवल इनके मार्ग भिन्न हैं। भक्ति और प्रेम द्वारा जब सरलता से मनुष्य इस स्थिति तक पहुँच सकता है, सर्वत्र सर्वदा ब्रह्म की अनन्यता का अनुभव कर सकता है, तब योग की कष्टसाध्य साधना और कर्म का अप्रिय झंझट क्यों सहा जाए। साधारण जनता के लिए इन्हें असाध्य समझकर ही निर्गुण और निराकार ब्रह्म की उपासना को स्वीकार करते हुए भी सूरदास ने उसे नीरस और अग्राह्य प्रमाणित किया है।"[51]

उनकी सम्मति में निर्गुणोपासना सरल नहीं है। जिस ईश्वर का कोई रूप, कोई रंग, कोई गुण नहीं है; जो अज्ञेय होने के साथ-साथ शून्य भी है, उसकी उपासना कैसे की जा सकती है। स्वयं निर्गुण, निराकारोपासना के प्रचारकों ने भी इस कठिनाई का अनुभव किया है। फलस्वरूप अपने निर्गुण ब्रह्म में उन्हें सगुण के गुणों तक का आरोप करना पड़ा।

सूर की दृष्टि में निर्गुण ब्रह्म अज्ञेय है। उसके विषय में मनुष्य वैसे ही कुछ नहीं कह पाता जैसे गूंगा मीठे फल का आनन्द केवल अनुभव करता है, प्रकट नहीं कर पाता। जो निर्गुण ब्रह्म असीम आनन्द देता है, जो मन के लिए अगम्य है तथा जिसके विषय में वाणी भी कुछ कह नहीं पाती, उसको इस संसार में केवल वे ही जानते हैं जिन्होंने उसे पा लिया है या सान्निध्य प्राप्त कर लिया है। साधारण मनुष्य तो इस ब्रह्म के रूप, गुण, सम्बन्ध, स्वभाव आदि के विषय में कुछ भी नहीं जान पाता। अत: वह घबरा उठता है और उसे अलग मान बैठता है। इसी से सूरदास जी कहते हैं कि मैंने हर तरह से विचार कर ही सगुण ब्रह्म की लीलाओं का गान किया है।[52] सूर का निर्गुण ब्रह्म पर अविश्वास तो नहीं था लेकिन वे उसे जन-साधारण के लिए अगम्य अवश्य समझते थे। इसी से उन्होंने निर्गुण और निराकारोपासना का उपदेश देने वाले उद्धव को सगुण रूप की भक्ति करने वाली गोपियों द्वारा पराजित कराया है। उनकी सम्मति में सगुण भक्ति ही जन-साधारण के लिए अपेक्षाकृत अधिक हृदयग्राही है। इसीलिए महाकवि सूर ने तत्कालीन अप्रासंगिक धार्मिक दुराग्रहों पर प्रहार करते हुए प्रासंगिक सन्दर्भों की तलाश के क्रम में सगुणलीला का मधुरगान किया।

संदर्भ

1. वैष्णव भक्ति आंदोलन का अध्ययन—डॉ० मलिक मोहम्मद, पृ० 339-340।
2. इन्फ्लुएन्स ऑफ इस्लाम आन इंडियन कल्चर—डॉ० ताराचंद, पृ० 107।
   उद्धृत—हिन्दी सगुण काव्य की सांस्कृतिक भूमिका—डॉ० रामनरेश वर्मा।
3. हिन्दी सगुण काव्य की सांस्कृतिक भूमिका—डॉ० रामनरेश वर्मा, पृ० 40-41।
4. Modern Hinduism and its debt to the Nestorians, Journal

of the Royal Asiatic Society (J. R. A. S.), p. 313, 1907. उद्धृत—सूर साहित्य—हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० 80।

5. हिन्दी साहित्य का इतिहास—रामचंद्र शुक्ल, पृ० 60।
6. हिन्दी साहित्य—डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० 55-56।
7. अष्टछाप परिचय—प्रभुदयाल मीतल, पृ० 45।
8. भक्ति आन्दोलन का अध्ययन—डा० रतिभानु सिंह नाहर, पृ० 171।
9. वैष्णव भक्ति आन्दोलन का अध्ययन—डा० मलिक मोहम्मद, पृ० 341, 342।
10. भारतीय चिन्तन परम्परा—के० दामोदरन, पृ० 327।
11. सूर और उनका साहित्य—डॉ० हरवंशलाल शर्मा, पृ० 62।
12. वैष्णव भक्ति आन्दोलन का अध्ययन—डॉ० मलिक मोहम्मद, पृ० 367।
13. ब्रज-लोक-संस्कृति, सं० डॉ० सत्येन्द्र, (लेख—'ब्रजभाषा साहित्य का प्रवृत्तिगत विकास', बाबू गुलाबराय), पृ० 214।
14. भक्ति आन्दोलन का अध्ययन—डा० रतिभानु सिंह नाहर, पृ० 255।
15. सूर की साहित्य साधना—भगवत स्वरूप मिश्र एवं विश्वम्भर अरुण, पृ० 387।
16. देखिए : सूरसागर, दशम स्कन्ध, पद 4299।
17. वही, पद 2017, 2018।
18. वही, पद 4096।
19. सारावली, पद 116।
20. सूरसागर, द्वितीय स्कन्ध, पद 7।
21. सूरसागर, वेंकटेश्वर प्रेस, पृ० 69।
22. वही, पृ० 595।
23. वही।
24. सूरसागर, प्रथमस्कन्ध, पद 69।
25. वही, दशमस्कन्ध, पद 1178।
26. वही, द्वितीयस्कन्ध, पद 6।
27. वही, प्रथमस्कन्ध, पद 266।
28. वही, द्वितीयस्कन्ध, पद 28।
29. वही, प्रथम स्कन्ध, पद 1।
30. वही, पद 16।
31. वही, पद 36।
32. वही, पद 39।
32. वही, पद 97।

34. सूरसागर, द्वितीय स्कन्ध, पद 32।
35. वही, प्रथम स्कन्ध, पद 340।
36. वही, द्वितीय स्कन्ध, पद 17।
37. सूर और उनका साहित्य—डा० हरवंशलाल शर्मा, पृ० 243।
38. देखिए : सूरसागर, प्रथमस्कन्ध, पद 2।
39. देखिए : सूरसागर, वेंकटेश्वर प्रेस, पृ० 547।
40. सूरसागर, दशमस्कन्ध, पद 4519।
41. सूरसारावली, पद 1102, 1103।
42. सूरसागर दशमस्कन्ध, पद 4032।
43. वही, पद 4104।
44. वही, दशमस्कन्ध, पद 4121।
45. वही, पद 4128।
46. वही, पद 4136।
47. वही, पद 4158।
48. वही, पद 4170।
49. वही, पद 4250।
50. वही, पद 4698।
51. हिन्दी साहित्य : कुछ विचार—डॉ० प्रेमनारायण टंडन, पृ० 133-34।
52. 'सब विधि अगम बिचरहिं तातें सूर सगुन पद गावै।'
—सूरसागर, प्रथम स्कन्ध—पद-2

5

सूर की साहित्यिक दृष्टि

सूरकालीन काव्य-प्रवृत्तियाँ—विषयचयन, भाषा एवं छंद

सूरकालीन काव्य-प्रवृत्तियों को अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से निम्नलिखित वर्गों में विभाजित किया जा सकता है :

1. सिद्धों-नाथों की पदरचना की प्रवृत्ति
2. वीरगाथा काव्य की प्रवृत्ति
3. जैन काव्य की प्रवृत्ति
4. संत काव्य की प्रवृत्ति
5. प्रेमाख्यान काव्य की प्रवृत्ति
6. रामकाव्य की प्रवृत्ति
7. कृष्ण काव्य की प्रवृत्ति
8. प्रकीर्णक काव्य की प्रवृत्ति

महाकवि सूरदास के जन्म से पूर्व सिद्धों-नाथों की समृद्ध काव्य-परम्परा थी जो नीतिपरक पद रचना कर रही थी। इनकी इस पद रचना में एक ओर ज्ञान और उपदेशों की भरमार थी तो दूसरी ओर धार्मिक रूढ़ियों, अन्धविश्वासों, अवतारवाद तथा वेदशास्त्र के नाम पर प्रचारित कर्मकाण्डों का घोर विरोध था। निर्गुण ब्रह्म की साधना का प्रचार करते हुए इन साधकों ने योग-वैराग्य की आवश्यकता पर बल दिया। इन्होंने अपनी साधना में गुरु महिमा पर भी बल दिया। इन सिद्धों-नाथों की भाषा को संध्या-भाषा कहा गया है जो अपभ्रंश के समाप्ति काल की विकासोन्मुख नवभाषा का मिश्रित रूप जान पड़ती है। सिद्धों-

नाथों का सम्पूर्ण काव्य गीति-शैली में है, जिसमें दोहा-चौपाई, सोरठा तथा छप्पय आदि छन्दों का प्रयोग किया गया है। आगे चलकर सिद्धों की यह गीति-शैली काफी लोकप्रिय हुई। सूर ने जिस पद साहित्य की रचना की है, उसकी परम्परा सिद्धों और नाथपंथी साधुओं की रचनाओं में मिलती है। पर, इन सिद्ध और नाथ कवियों का दृष्टिकोण उपदेशात्मक था अतः इनके पदों में प्रायः सरसता और उक्ति-वैलक्षण्य का अभाव है; जबकि सरसता और उक्ति-वैलक्षण्य ही सूर के पदों की मुख्य सम्पत्ति है।

सूरदास से पूर्व वीरगाथाओं या चरित काव्यों की भी एक परम्परा थी जिसमें वीरों के शौर्य और यश का शृंगारपूर्ण वर्णन होता था। आश्रयदाता राजाओं और सामंतों का प्रशस्तिगान ही इन वीरगाथाओं का प्रमुख विषय था। ये वीरगाथाएँ बहुधा दोहे, कवित्त और छप्पय आदि गेय छन्दों में लिखी गई हैं जिनकी भाषा डिंगल है। इस डिंगल भाषा में हमें ब्रजभाषा के प्रारम्भिक रूप के दर्शन होते हैं जो आगे चलकर पिंगल नाम से एक स्वतन्त्र साहित्यिक भाषा बनी।

महाकवि सूरदास इन वीरगाथाओं से परिचित थे, लेकिन वे भक्त कवि थे अतः राजाओं या आश्रयदाताओं की प्रशस्ति करना उन्हें अच्छा नहीं लगा। रासो काव्यों की वीर शैली का भी उनके काव्य पर कोई प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं पड़ा है। हाँ, वे परमाल रासो आदि की गेय परम्परा से अवश्य प्रभावित हुए हैं।

जैन काव्य की परम्परा बहुत प्राचीन है। इसका विकास तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी तक बराबर मिलता है। जैन कवियों ने मुख्यतः धार्मिक सिद्धान्तों के प्रचार के लिए ही काव्य-रचना की है। उनकी रचनाओं में प्रमुख रूप से चौबीस तीर्थंकरों क चरित्र का वर्णन तथा जैन धर्म के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है। रामायण और महाभारत की प्रचलित कथाओं में भी जैन कवियों ने अपने धर्म की महत्ता दिखाने के लिए अनेक नई बातें जोड़कर उनको सर्वथा नवीन रूप दे दिया है। कुछ जैन कवियों ने प्रेम-कथाओं का भी वर्णन किया है, परन्तु उनका विकास और पर्यवसान उन्होंने जैन विचारधारा के अनुसार ही किया है। लौकिक सौन्दर्य एवं ऐश्वर्य का वर्णन होते हुए भी इन प्रेम-कथाओं में कवियों की दृष्टि तप, त्याग, अहिंसा-व्रत और मोक्ष पर ही अधिक रही है। प्रायः सभी जैन कवियों के चरतिकाव्य शान्तरस से एवं प्रेमकाव्य शान्तोन्मुख शृंगाररस से ओत-प्रोत हैं। उनके मुक्तक काव्य में भी शान्त रस की प्रधानता है। कुछ ऐतिहासिक पुरुषों से सम्बन्धित काव्य भी जैन कवियों ने लिखे, जिनका ऐतिहासिक दृष्टि से विशेष महत्व है, क्योंकि इनमें घटनाओं को यथातथ्य रूप में प्रस्तुत किया गया है।

जैन धर्म की दो शाखाएँ हुईं—दिगम्बर और श्वेताम्बर। श्वेताम्बर जैनी

अधिकांशत: गुजरात में बस गए थे इसलिए उन्होंने पुरानी गुजराती में ही अपनी रचनाएँ प्रस्तुत कीं। जबकि दिगम्बर जैनियों ने ग्रन्थ रचना के लिए प्रमुख रूप से पुरानी हिन्दी को अपनाया। जैन-काव्य में दोहा छंद का प्रयोग सर्वाधिक है। चतुष्पदी, चौढालिया, सिज्झाय, कवित्त आदि अनेक छंद भी उसमें मिलते हैं। सूरदास पर जैन काव्य में प्रयुक्त छन्दों का प्रभाव स्वीकार किया जा सकता है।

सूरदास के समय में संत कवियों की समृद्ध काव्य-परम्परा थी। यह परम्परा सिद्धों-नाथों तथा सूफियों आदि की विचारधाराओं से जीवन के उपयोगी सार-तत्त्वों को लेकर विकसित हुई थी। इनके काव्य का विषय था—वैराग्य, संसार की असारता, गुरु-महिमा, नाम-महिमा, सदाचार, मन के प्रति प्रबोध तथा ज्ञान और योग की व्यक्तिगत अनुभूतियाँ आदि। संत कवि इन व्यक्तिगत रहस्यात्मक अनुभूतियों को रतिभाव की अन्योक्तियों में प्रकट करते थे। इनकी रचनाओं में शांत रस की प्रधानता थी। पर निराकार ब्रह्म के प्रति आत्मा के विरह वर्णन में श्रृंगार और अद्भुत रस की भी झलक मिल जाती थी। इन संतों की भाषा 'पंचमेल खिचड़ी' थी जिसमें पूर्वी अवधी, भोजपुरी, खड़ी बोली, ब्रजभाषा तथा पंजाबी का मिश्रण मिलता है। इस काल के प्रमुख संत कवि हैं—कबीर, नानक, त्रिलोचन, नामदेव, रैदास आदि। इन संतों का काव्य मुक्तक शैली में लिखा गया है।

संतकाव्य की साखी और पद शैली का सूर काव्य पर स्पष्ट प्रभाव है। प्रेम की संयोग-वियोगात्मक अनुभूति की मधुर भक्तिपूर्ण उक्तियाँ सूर को संभवत: संतकाव्य से ही मिलीं।

महाकवि सूर के समय में मुसलमान आक्रमणकारियों के साथ आये प्रेममार्गी सूफी संत भी अपने काव्य का प्रचार कर रहे थे। ये भारतीय प्रेम-कथाओं को अपने साम्प्रदायिक मतानुसार फारसी की मसनवी शैली में ढालकर लोगों के समक्ष प्रस्तुत कर रहे थे। सूफी रचनाओं की भाषा अवधी थी तथा वे दोहे-चौपाई की प्रवन्ध शैली में लिखी जाती थीं।

यद्यपि सूरदास ने दोहा-चौपाई छंद बहुत लिखा है लेकिन यह नहीं कहा जा सकता कि सूर ने यह परम्परा सूफियों से ग्रहण की; क्योंकि जैनकाव्य का वर्णन करते हुए यह संकेत हो चुका है कि दोहा, चतुष्पदी की परम्परा सूफियों के पहले जैन साहित्य में भी है। हाँ! इतना अवश्य कहा जा सकता है कि इन प्रेम-गाथाओं की दोहा-चौपाई की छंद शैली का नमूना महाकवि सूर के समक्ष अवश्य था।

महाकवि सूर से पूर्व रामकाव्य की कोई निश्चित परम्परा नहीं मिलती। इस विषय के मात्र स्फुट उल्लेख ही हैं। पृथ्वीराजरासो के द्वितीय प्रस्ताव में रामावतार का वर्णन है, जिसमें वीररस की ही प्रधानता है। यद्यपि रामकथा के

प्रेरणात्मक आचार्य के रूप में स्वामी रामानन्द का नाम आता है लेकिन इस विषय की उनकी कोई महत्वपूर्ण रचना नहीं मिलती। रामकथा के गायकों में विष्णुदास का भी नाम आता है जिन्होंने वाल्मीकीय रामायण का हिन्दी अनुवाद किया। कवि ईश्वरदास की रचनाएँ 'भरतमिलाप' और 'अँगदपैंज' भी रामचरित से सम्बन्धित हैं। इसके अतिरिक्त रामकाव्य परंपरा से सम्बन्धित कुछ जैन रचनाएँ भी मिलती हैं। लेकिन सूरसागर के नवम्स्कन्ध में सूरदास द्वारा वर्णित राम-चरित्र भागवत के नवम्स्कन्ध का अनुकरण है। उस पर रामभक्ति-परम्परा के किसी कवि का प्रभाव नहीं है।

सूर पूर्व कृष्ण भक्तिकाव्य की सुदीर्घ परम्परा मिलती है। लेकिन महाकवि सूर पर जिन तीन प्रमुख कृष्णभक्त कवियों का प्रभाव पड़ा है, वे हैं—जयदेव, विद्यापति तथा चण्डीदास। जयदेव वस्तुत: संस्कृत भाषा के कवि हैं। उन्होंने राधाकृष्ण की विलास-लीलाओं का वर्णन संस्कृत भाषा की सरस और संगीतमयी पदावली में किया है। उनके 'गीत गोविन्द' का प्रभाव सूर पर विशेष पड़ा है। सूर के समय में गीत-गोविन्द का ब्रज में प्रचार भी बहुत था। सूर की मधुर पदावली को देखने से पता चलता है कि उस पर गीत-गोविन्द की भावमयी भाषा तथा संगीतमयी शब्दावली का प्रभाव अवश्य है।

काव्य की दृष्टि से विद्यापति के पदों का महत्व बहुत ऊँचा है। उनके पद सूर के समय में बहुत लोकप्रिय थे। महात्मा चैतन्य और उनके अनुयायियों ने भी विद्यापति के गीतों को अपनाया था। चैतन्य महाप्रभु के ब्रज में रहने वाले अनुयायी भी इनको बड़ी तल्लीनता के साथ गाते थे। चैतन्य के शिष्यों के कारण विद्यापति का मान ब्रज में खूब बढ़ा। विद्यापति की काव्य शैली ने सूर को काफी दूर तक प्रभावित किया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में—'सूर के शृंगारिक पदों की रचना बहुत कुछ विद्यापति की पद्धति पर हुई है। यही नहीं, कुछ पदों के तो भाव भी बिल्कुल मिलते हैं। सूरसागर में जगह-जगह दृष्टिकूट मिलते हैं। यह भी विद्यापति का अनुकरण है।[1] सूर पर जयदेव और विद्यापति की ही तरह चण्डीदास की भी सरस पद-शैली का प्रभाव पड़ा है।

हिन्दी में कृष्ण काव्य की परम्परा सूर आदि अष्टछापी कवियों से लगभग दो सौ वर्ष पूर्व प्रचलित हो चुकी थी। पुरानी ब्रजभाषा या पिंगल भाषा में कृष्ण भक्ति परक फुटकर छंदों की रचना चौदहवीं शताब्दी या उससे पहले से होना शुरू हो गई थी। इसका प्रमाण प्राकृत पैंगलम में प्राप्त कुछ दोहे हैं। प्रबन्ध काव्यों की परम्परा भी लगभग इसी समय उपलब्ध होती है। सर्वप्रथम उपलब्ध रचना सधार अग्रवाल कृत 'प्रद्युम्नचरित' है जो 1354 ई० की रचना है। यद्यपि जैन कवि होने के कारण इसमें कृष्ण भक्ति का भाव नहीं है तथापि इसमें रुक्मिणी-विवाह, सत्यभामा-रुक्मिणी-विवाद, कृष्ण-प्रद्युम्न द्वन्द्व आदि कई प्रसंग

कृष्ण से सम्बन्धित हैं। सूरदास से लगभग सौ वर्ष पूर्व विष्णुदास ने 'रुक्मिणी-मंगल', 'स्नेहलीला' तथा 'महाभारतकथा' नामक काव्यों की रचना की जिनमें कृष्ण-भक्ति का पूर्ण प्रकाशन हुआ है। भक्ति के साथ शृंगार का जो समन्वय विष्णुदास के 'रुक्मिणी मंगल' और स्नेहलीला में विद्यमान है, वही सूरदास में पाया जाता है। हिन्दी में भ्रमरगीत की परम्परा की शुरुआत भी विष्णुदास ने ही की।

सूर से पूर्व होने वाले गोपाल नायक और बैजूबावरा ने भी सुन्दर पद रचना की है। इन संगीतज्ञ कृष्णभक्त कवियों से भी सूर अवश्य प्रभावित हुए होंगे।

प्रकीर्णक काव्य रचना करने वालों में अमीर खुसरो ही केवल एक प्रमुख कवि हैं। इन्होंने विविध प्रकार के लौकिक ज्ञान, अनुभव तथा मनोवृत्तियों से सम्बन्ध रखने वाले काव्य की रचना की। खुसरो की महत्ता संगीत समाज में भी है। हो सकता है सूर पर खुसरो के संगीत पक्ष का प्रभाव पड़ा हो। डॉ० दीन-दयालु गुप्त के अनुसार—"सूर के दृष्टिकूट पदों में अर्थ को मानसिक दृष्टि से छिपाने का जो भाव है, उसकी समता में खुसरो की पहेली, अन्तर्लापिका आदि कही जा सकती है। जिस प्रकार खुसरो ने श्लेष के वल पर दुहरे अर्थ भरे हैं, उसी प्रकार सूर ने अनेक दृष्टिकूटों में यमक और श्लेष के सहारे दो अर्थ दिये हैं। मानसिक एकाग्रता का अभ्यास तथा अभिमानी पंडितों को बुद्धि परीक्षा की चुनौती देने वाले दृष्टिकूटों की क्लिष्ट कल्पना की प्रेरणा, सूर ने संभव है, खुसरो के 'पहेली' आदि साहित्य से ली हो।"[2]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि महाकवि सूर के समक्ष प्रायः पूर्ववर्ती सभी काव्य प्रवृत्तियाँ थीं। आवश्यकतानुसार उन्होंने उनमें से विषय, भाव, भाषा और छन्द ग्रहण किये।

ब्रजभाषा एवं सूरदास

महाकवि सूरदास के काव्य की भाषा ब्रजभाषा है। इन्होंने ही सर्वप्रथम ब्रजभाषा को एक सुव्यवस्थित, साहित्यिक भाषा के रूप में अपनी रचनाओं में स्थान दिया है। उनसे पूर्व इस भाषा को काव्य के क्षेत्र में समुचित स्थान नहीं मिल पाया था। आदिकालीन रासो-ग्रंथों में इस भाषा का अव्यवस्थित रूप देखने को मिलता है। संतों का रचनाओं में भी इस भाषा का स्वरूप अधिक स्पष्ट दिखायी नहीं देता। डा० प्रेमनारायण टंडन के अनुसार—"फिर भी उनकी रचनाओं में एक बड़े महत्व की बात यह मालूम होती है कि सूरदास के पूर्व ही ब्रजभाषा

केवल अपने प्रदेश की ही भाषा नहीं थी, प्रत्युत् पंजाब, राजपूताना, महाराष्ट्र और पश्चिमी बिहार के कवि भी उससे परिचित थे और अपनी प्रतीक भाषा के साथ-साथ मिश्रित ब्रजभाषा में भी रचना किया करते थे, यद्यपि उनकी भाषा स्वभावत: स्थानीय प्रभावों से युक्त थी और ऐसा होना तत्कालीन परिस्थिति में सर्वथा स्वाभाविक भी था।"[3]

वस्तुत: ब्रजभाषा को सर्वप्रथम साहित्य के क्षेत्र में ले आने का श्रेय सूरदास जी को ही है। ये ब्रज प्रदेशीय थे और साथ ही अन्धे भी। सम्भव है, अन्धता के कारण इन्हें किसी अन्य भाषा का समुचित ज्ञान न रहा हो इसलिए भी इन्होंने ब्रजभाषा को अपनाया हो। ब्रजप्रदेशीय होने के कारण इस भाषा की ओर इनका झुकाव तो स्वाभाविक ही था। साहित्य में ब्रजभाषा का प्रयोग कैसे प्रारम्भ हुआ, इस सन्दर्भ में डा० धीरेन्द्र वर्मा का मत है—"ब्रजभाषा का साहित्य में प्रयोग वास्तव में वल्लभ सम्प्रदाय के प्रभाव के कारण प्रारम्भ हुआ। इलाहाबाद के निकट मुख्य केन्द्र अरैल (अड़ैल) के अतिरिक्त जिस समय श्री महाप्रभु वल्लभाचार्य को ब्रज जाकर गोकुल तथा गोवर्धन को अपना द्वितीय केन्द्र बनाने की प्रेरणा हुई, उसी तिथि से ब्रज की प्रादेशिक बोली के भाग्य पलटे।[4]

इसके अतिरिक्त ब्रजभाषा की अपनी कुछ खास विशेषताएँ थीं, जिनके कारण सूरदास ने इसे अपनी काव्यभाषा बनाया। सर्वप्रथम जो लालित्य, जो मनमोहकता ब्रजभाषा में है, वह किसी अन्य भाषा में नहीं। साथ ही इसमें काव्योपयोगी रमणीय शब्दों की भरमार भी है। कर्णकटुता तो इसमें लेशमात्र भी नहीं है। इसके साथ ही इसमें शब्दों को स्वेच्छानुकूल बनाने की क्षमता भी है। ब्रजभाषा में वीर रस के अनुकूल ओज की भी कमी नहीं है। यद्यपि कुछ विद्वान ब्रजभाषा को ज़नानी भाषा मानते हैं और उनके अनुसार इस भाषा में वीर रस की कविता हो ही नहीं सकती; लेकिन यह मात्र उनका भ्रम है। ब्रजभाषा में वीर रस की उत्कृष्ट कविताएँ लिखी गई हैं।

श्रृंगार रस के लिए तो ब्रजभाषा के समकक्ष कोई भाषा नहीं जान पड़ती। हिन्दी साहित्य श्रृंगारमय ब्रजभाषा से भरा पड़ा है। सब प्रकार के भावों को प्रकट करने के लिए ब्रजभाषा में समृद्ध शब्दावली है और साथ ही आवश्यकतानुसार शब्दों को बढ़ाने की क्षमता भी। लचीलापन तो ब्रजभाषा का एक ऐसा गुण है जो और भाषाओं में इस परिमाण में देखने को नहीं मिलता। इसके इस लचीलेपन के कारण ही हम शब्दों को मनोवांछित रूप दे सकते हैं। ब्रजभाषा में उपर्युक्त सभी गुणों का अक्षय भंडार है। यही कारण है कि महाकवि सूर ने ब्रजभाषा को ही कविता के लिए सबसे उपयोगी समझकर इसमें रचना की। इसी भाषा में उन्होंने अपने उपदेश दिये और भगवद्भजन के लिए सुन्दर कोमल-

कान्त पदावली से युक्त ललित पदों को बनाकर परमात्मा का गुणगान करके लोगों के निराश मन में शान्ति और स्फूर्ति भर दी। इसका परिणाम वही हुआ जो होना चाहिए था, अर्थात् भारत के अनेक प्रान्तों में ब्रजभाषा का प्रचार प्रचुरता से हो गया। डा० मुंशीराम शर्मा के शब्दों में "सूर ने ब्रजभाषा को उत्तराखंड की ही नहीं समस्त भारतवर्ष की भाषा बना दिया। वैष्णवधर्म की संदेशवाहिनी बनकर वह एक ओर तो वंग, गुजरात एवं महाराष्ट्र में समादृत हुई और दूसरी ओर अपनी कोमलता के कारण वह अवध, बिहार, पजाब तथा दक्षिणापथ के कवियों का कंठहार बनी। इस देश में लगभग चार सौ वर्षों तक उसने कवियों की जिह्वा पर शासन किया है।"[5]

अब प्रश्न यह उठता है कि सूरदास ने ब्रजभाषा पर इतना अधिकार किस प्रकार प्राप्त कर लिया। कवि की भाषा-विषयक सफलता में प्रतिभा के साथ-साथ अभ्यास का भी महत्वपूर्ण स्थान है। प्रतिभा तो सूरदास में थी ही, साथ ही उन्होंने ब्रजभाषा का अभ्यास भी किया था। उनका जन्म ब्रजभाषा प्रदेश में हुआ और यहाँ तक कि सम्पूर्ण जीवन ब्रज-भाषा क्षेत्र में ही बीता। ब्रजभाषा उनकी मातृभाषा थी। आजीवन वे उसी को बोलते रहे। वल्लभ सम्प्रदाय में दीक्षित होने से पूर्व की उनकी आयु के तीस-बत्तीस वर्ष प्राय: ऐसे व्यक्तियों के सम्पर्क में बीते जो ब्रज प्रदेश के निवासी होने के कारण ठेठ ब्रजभाषा-भाषी थे। कुछ अन्य भाषा-भाषी साधुओं से भी उनका सम्पर्क हुआ। तदनन्तर उनका सम्बन्ध ऐसे व्यक्तियों से बढ़ा जो संस्कृत भाषा के विद्वान थे, उसके ग्रन्थों का नियमित रूप से परायण करते थे और भक्तों, उपासकों के लिए कथावार्ता, टीका-व्याख्या आदि में पर्याप्त समय दिया करते थे। कुछ समय के बाद सूर अष्टछाप के उन कवियों से घिरे रहने लगे जो उन्हीं की तरह श्रीकृष्ण की लीलाओं का गान किया करते थे और चर्मचक्षुओं से युक्त रहने के कारण शिक्षा-दीक्षा, पठन-पाठन, अध्ययन-पारायण आदि से लाभ उठाने का भी जिनको सूरदास की अपेक्षा कहीं अधिक अवसर था। इन सब परिस्थितियों का उनके ऊपर प्रभाव पड़ा और इससे उनकी भाषा में समृद्धि आयी।

'सूर' के विनय के पदों में हमें ब्रजभाषा का प्रारंभिक रूप मिलता है। लेकिन महाप्रभु वल्लभाचार्य की कृपा के पश्चात् उनकी भाषा में निखार आया। अभ्यास बढ़ जाने पर क्रमश: भाषा में परिष्कार होता गया। लेकिन सूरसागर में हमें भाषा का यह विकास-क्रम नहीं मिलता। कारण यह है कि सूरसागर का सम्पादन बाद में हुआ है, जिसमें पूर्वरचित सभी स्फुट पद विषयक्रम से रखे गये हैं।

श्रीकृष्ण के रूपवर्णन तथा संयोग-वियोग श्रृंगार सम्बन्धी पदों में हमें उनकी भाषा के प्रौढ़ रूप के दर्शन होते हैं। इन पदों में कविप्रदत्त प्रौढ़ रूप के

आधार पर सुगमता से अनुमान लगाया जा सकता है कि ब्रजभाषा के विकास में 'सूर' का क्या योगदान रहा तथा उसको सजाने-सँवारने और उसकी व्यंजना शक्ति को बढ़ाने में उन्होंने कितना महत्वपूर्ण कार्य किया। ब्रजभाषा का संस्कार सूर ने सदैव कवि जनोचित उदारता से ही किया। विषय के क्षेत्र में रामकथा के साथ-साथ अन्य अवतारों की कथा को अपनाकर उन्होंने अपने स्वभाव की जिस असंकीर्णताजनित सहिष्णुता का परिचय दिया था, भाषा के क्षेत्र में भी उन्होंने उसको बराबर बनाये रखा। उनके पदों की भाषा ब्रज जनपदीय होते हुए भी साहित्यिक है और साहित्यिक होते हुए भी ब्रज जनपदीय। किसी एक रूप को दृढ़ता से पकड़े रहने का अनुदार दुराग्रह उनकी भाषा में कहीं नहीं दिखाई देता।

सूर ने जिस ब्रजभाषा का प्रयोग किया है, वह कोमलकान्त पदावली से युक्त है। उसमें स्वाभाविक तथा प्रचलित शब्दों का ही प्रयोग मिलता है। भाषा का प्रवाह और सजीवता उसके प्रत्येक पद से झलकती है। सूर की ब्रजभाषा साफ-सुथरी और मँजी हुई है। वह कहीं पर भी ऊबड़-खाबड़ तरीके से नहीं चलती और उसकी गति में कहीं अन्तर नहीं आता। दृष्टान्तों को छोड़कर शेष सभी रचनाओं में प्रसाद और माधुर्य गुणों से युक्त भाषा का प्रयोग हुआ है। सूर की ब्रजभाषा कहीं लड़खड़ाती नहीं है, इसका प्रधान कारण है कि वह अपने में आडम्बरों को समेट कर नहीं चलती। वह बनावट और कृत्रिमता से दूर अपने रास्ते पर सीधी-सादी चलती है।

सूर ने ब्रज की चलती भाषा का प्रयोग किया है। उसमें उन्होंने कहीं-कहीं संस्कृत के तत्सम शब्दों का भी प्रयोग कर दिया है। इसके फलस्वरूप वह समस्त उत्तर प्रदेश में समझी जाने वाली भाषा बन गई है। और इस प्रकार उसने अपना व्यापक रूप ग्रहण कर लिया है। सत्य तो यह है कि इस काल में ब्रज को हिन्दी की भाषा बना देने का श्रेय सूर को ही पहुँचता है। सूर के पश्चात् फिर रीति-काल में जो इस भाषा को अपनाया गया उसका महत्व ही आँकना कठिन है। ब्रजभाषा को एकरूपता प्रदान करने में सूर ने जो स्वाभाविक परिश्रम किया है, हिन्दी साहित्य उसके लिए सूर का ऋणी है। 'सूर' ने ब्रजभाषा को जनभाषा, धार्मिक भाषा तथा साहित्यिक भाषा का गौरव प्रदान किया है। इस दृष्टि से हिन्दी जगत् में उनकी उपलब्धि अत्यन्त महान है।

सूरकाव्य में ब्रजभाषा का औचित्य

पीछे कहा जा चुका है कि महाकवि सूर ने ही सर्वप्रथम ब्रजभाषा का साहित्यिक एवं व्यवस्थित प्रयोग किया। उनके काव्य में जिस ब्रजभाषा का प्रयोग हुआ है, उसमें समस्त साहित्यिक गुण विद्यमान हैं। यह ठीक है कि उनकी ब्रजभाषा का रूप वैसा शुद्ध और परिमार्जित नहीं है जैसा उनके परवर्ती रसखान, मतिराम, बिहारी, घनानन्द और देव आदि कवियों की भाषा का है। किन्तु अपनी काव्य प्रतिभा द्वारा उन्होंने आरम्भिक अवस्था में ही इसको इतना समृद्ध एवं वैभवपूर्ण बना दिया, यह क्या कम आश्चर्य की बात है। सूर ने ब्रज की इस साधारण बोली में वह चमत्कार भर दिया कि शीघ्र ही यह उत्तरभारत की सामान्य काव्यभाषा के रूप में समस्त कवि-समुदाय के आकर्षण का केन्द्र बन गई।

सूर की भाषा में एक श्रेष्ठ काव्य भाषा के सभी गुण विद्यमान हैं। उनकी ब्रजभाषा में भावमयता का गुण बड़ी मात्रा में है। उन्होंने भाव के अनुकूल ही शब्दों का चयन किया है। उनके सम्पूर्ण काव्य की भाषा सरस और भाववाहिनी है। वात्सल्य और रति भावों की व्यंजना में भाषा की मधुरावृत्ति ही प्रधान है। वात्सल्य भाव के विनोदमय और सुकुमार चित्रों में कवि की भाषा सरल और पदविन्यास विनोदकारी हैं। संयोग शृंगार के रास और होली के वर्णनों में भाषा का रूप भी उन्मत्त और उमंग भरा प्रतीत होता है। नख-शिख रूप वर्णन में भाषा में कुछ अधिक आलंकारिकता है। विरह के पदों में शब्दावली सरस, मधुर तथा दीनता और बेबसी से भरी गम्भीरता की द्योतक है। भाषा में भावात्मकता लाने के लिए सूर ने मानव-जीवन से इतर सम्पूर्ण सृष्टि के पदार्थों में मानवीय भावों का आरोप भी किया है और उनको मनुष्यवत् सम्बोधन करके भाव के उत्कर्ष को बढ़ाया है।

सूर की भाषा में चित्रमयता का गुण भी प्रचुर मात्रा में है। उन्होंने उपर्युक्त शब्दों में प्रयोग द्वारा भिन्न-भिन्न भावों के सजीव चित्र अंकित किये हैं। उनके पदों में शब्दों और वाक्यों की सजावट तथा उनका उतार-चढ़ाव पूरे भाव का संकेत करते हुए अभीष्ट अर्थ अंकित करता है। उनकी भावानुकूल शब्दावली केवल भाव का ही संक्रमण नहीं करती, बल्कि हमारी कल्पना के सामने एक दृश्य भी उपस्थित कर देती है।

सूर की भाषा में स्वाभाविक आलंकारिकता का भी गुण है। उन्होंने अपनी भाषा को स्वाभाविक तथा श्रुति-मधुर अनुप्रास के प्रयोग से प्रवाहमयी बनाया है। परन्तु अनुप्रास का नाद सौन्दर्य ध्वनि के अभिव्यक्त भाव को दबाने नहीं देता। सूर ने अपने दृष्टिकूट पदों में श्लेष और यमक के प्रयोग से शब्दों का खेल किया है परन्तु इस प्रकार की रचना का उद्देश्य मात्र चमत्कार प्रदर्शन ही था। उनकी भाषा में अकृत्रिम सरलता है, जिसमें स्वाभाविक आलंकारिक सौंदर्य के साथ

प्रसाद गुण की सुबोधता भी है। अनेक स्थलों पर शब्दों में अर्थ का संकेत और लाक्षणिक ध्वनि का चमत्कार भी सूर काव्य में मिलता है। परन्तु उन स्थानों पर क्लिष्ट कल्पना नहीं है और न व्यंग्य ध्वनि लाने के लिए श्लेष आदि अलंकारों का सप्रयास सहयोग ही लिया गया है। स्वाभाविक अलंकार और सरल सुपरिचित शब्दों के सतर्क प्रयोग ने ही कवि के भाव को ध्वनित कर दिया है।

भाषा की सजीवता सूरकाव्य का सबसे बड़ा गुण है। सूर की व्रजभाषा और उसके आधुनिक रूप में बहुत अधिक अन्तर नहीं हुआ है। अतएव उनकी भाषा में वर्तमान व्रजभाषा का बहुत सुन्दर रूप मिलता है और कहा जा सकता है कि उनकी व्रजभाषा साहित्यिक होते हुए भी अपने समय की प्रचलित सजीव भाषा है। सूर के दृष्टिकूट पदों की भाषा कवि के समय की प्रचलित सजीव भाषा नहीं है, प्रत्युत् भाषा का जो रूप सूर के बाल-वर्णन और विरह वर्णन में मिलता है, वही उस समय की सजीव और प्रचलित साहित्यिक भाषा है।

सूरदास की अधिकांश शब्दावली ऐसी है जो अब भी व्रजप्रदेश में प्रचलित है। उन्होंने अपनी भाषा में व्रज के ठेठ शब्दों के साथ ही संस्कृत के तत्सम और तद्भव शब्दों का भी प्रचुर प्रयोग किया है। उन्होंने भाषा के मूलरूप अथवा व्रजभाषा के रंग में रँगे हुए संस्कृत शब्द ही अपनाये हैं। मटुकिया, लकुटिया, गागरि, अँचरा आदि अनेक शब्द ऐसे हैं जो वर्तमान व्रजभाषा की ठेठ माधुरी से पूर्ण हैं। सूर के काव्य का वास्तविक सौंदर्य बहुत कुछ तद्भव शब्दों में निहित है। व्रजभाषा के स्वाभाविक माधुर्य ने सूर की भाषा को अत्यन्त मधुर बना दिया है। उनके काव्य का ढांचा तद्भव शब्दों से ही बना हुआ है। विशेषकर भ्रमरगीत में गोपियों की सहज व्यंग्यात्मक उक्तियों में भाषा की सरलता और सरसता पराकाष्ठा पर पहुँच गई है। अति प्रचलित ग्रामीण शब्दों का प्रयोग भी सूर ने बहुलता के साथ किया है। कुछ ग्रामीण शब्द ऐसे भी हैं, जिनका प्रयोग अब या तो होता ही नहीं या विरल रूप में होता है। सूर ने तुक मिलाने के लिए और छंद के अनुरोध के कारण शब्दों को तोड़ा-मरोड़ा भी है। लेकिन इस क्रिया में उन्हें बहुत ज्यादा कष्ट नहीं उठाना पड़ता। उनके गढ़े हुए शब्दों का मूल रूप इतना विकृत नहीं हो जाता कि मूल रूप सर्वथा भिन्न जान पड़े। बल्कि वह अपने असली रूप से मिलता-जुलता ही रहता है। इस प्रकार के शब्द हैं—हकठैंन, गनै, जसोवै, तेय, मेय आदि।

व्रजभाषा के स्वरूप की रक्षा करते हुए सूरदास ने हिन्दी की अन्य प्रांतीय बोलियों और अरबी-फारसी के शब्दों का भी प्रयोग किया है। फारसी उन दिनों राजभाषा थी, इसलिए व्रजभाषा पर उसका प्रभाव पड़ना तो स्वाभाविक ही था, अवधी जैसी प्रदेशीय उपभाषाओं के कुछ शब्द भी उसमें मिलते हैं। इन सबको व्रजभाषा की प्रकृति के अनुरूप ही सूर ने अपनाया है। यही इस सम्बन्ध में सूर

की विशेषता है। सूर द्वारा प्रयुक्त अरबी-फारसी के कुछ शब्द जैसे—गरीब-निवाज, लायक, बेसरम, नमकहरामी इत्यादि अब ब्रजभाषा के अंग बन गये हैं।

भाषा को प्रौढ़ता प्रदान करने में मुहावरे और लोकोक्तियों का बहुत बड़ा हाथ होता है। लाक्षणिक प्रयोग और मुहावरे भाषा की जीवनी-शक्ति को बढ़ाने वाले उपकरण होते हैं। इनके प्रयोग से भाषा में एक प्रकार की निकटता, अपनत्व और घरेलूपन-सा आ जाता है। सूरदास की भाषा में मुहावरों के समुचित प्रयोग के साथ लाक्षणिकता की सजीवता भी है। सूर द्वारा प्रयुक्त मुहावरे और लोकोक्तियों के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं—अँगुरी गहत गह्यौ जिहिं पहुँचौ, अपने ही सिर लादना, अपनी-सी करना, एक डाल के तोरे, एक दुख दूजै हाँसी, अपने स्वारथ के सब कोइ, जाके हाथ पेड़ फल ताकौ, जो छोटी तेई है खोटी, काकी भूख गई मन लाड़ू इत्यादि। लोक-प्रचलित उपमाओं, मुहावरों और लोकोक्तियों का आश्रय लेकर सूर ने अपनी भाषा को अभीष्ट भावों की अभिव्यक्ति के लिए कितनी उपर्युक्त बना दिया है यह निम्नलिखित पद से स्पष्ट हो जायेगा :

आए जोग सिखावन पाँड़े।
परमारथी पुराननि लादे ज्यों बनजारे टाँड़े।
हमरे गति पति कमल नयन की जोग सिखैं ते राँड़े।
कहौ मधुप कैसे समाहिंगे एक म्यान दो खाँड़े।
कहु षट्पद कैसे खैयतु है हाथिनी के सँग गाँड़े।
काकी भूख गई बयारि भखि बिना दूध, घृत माँड़े।
काहै कौं झाला लै मिलवत कौन चोर तुम डाँड़े।
सूरदास तीनौ नहिं उपजत धनिया, धान, कुम्हाड़े।[6]

भाषा में संगीतमयता का गुण भी होना आवश्यक है। संगीतमयता के गुण की वृद्धि शब्दमैत्री तथा भावानुकूल ध्वनि वाले शब्दों की योजना से होती है। सूर की भाषा में संगीतमयता का गुण प्रधान है। उनके सभी पद गेय हैं और लय, प्रवाह, संगीतात्मकता आदि अपेक्षित गुण भी उनकी भाषा में विद्यमान हैं।

सारांश यह है कि सूरदास की ब्रजभाषा में काव्यभाषा के उपर्युक्त सभी गुण हैं। देशी-विदेशी शब्दों के अपनाए जाने से उनकी भाषा बहुरूपिनी हो गई है। मुख्य रूप से ब्रजभाषा का प्रयोग होते हुए भी सूर की भाषा में अरबी-फारसी शब्दों के रूप में बाहरी शब्दों का मेल अष्टछाप के अन्य कवियों की अपेक्षा अधिक है। बाललीला, गोचारण तथा विरह के पदों में सरस संगीत की मधुरता है। उनकी भाषा में जहाँ संस्कृत शब्दावली का प्रयोग है, वहाँ भी कोमलकान्त

श्रुति मधुरता है। रोला, चौपाई आदि छन्दों में उन्होंने जो भाषा अपनायी है, उसमें कहीं-कहीं एक ओर शिथिलता है तो दूसरी ओर भावात्मकता, प्रवाह और काल्पनिक चित्रमयता के गुण भी हैं। उनकी भाषा का मधुर और प्रौढ़ रूप पदों में सर्वाधिक है लेकिन यह बात भी ध्यान देने की है कि भाषा का जितना समृद्ध भण्डार सूर के पास है, उतना अन्य किसी ब्रजभाषा-कवि के पास नहीं।

भक्ति-भावना और राष्ट्रीय एकता में सहायक सूर के गेय छन्द

महाकवि सूर ने अपने भावों की अभिव्यक्ति गेय छन्दों के माध्यम से की है। गेय छन्दों में ही आत्माभिव्यंजन, आत्मनिवेदन तथा हार्दिक उद्‌गारों का प्रकटीकरण अधिक उत्कृष्ट रूप में होता है। मुक्तक काव्य रचना गेय छन्दों में ही ज्यादा सफल होती है। जिसे भाव की एक-एक शृंखला को सुसज्जित गुलदस्ते के रूप में सजाना है, भावधारा की एक-एक लहर का सजीव चित्र उपस्थित करना है, अपनी अनुभूति का अंग-अंग आकर्षक रूप में प्रकट करना है, उसके लिए गेय छन्द ही सर्वश्रेष्ठ हैं। महाकवि सूर ने इसीलिए गीतों का प्रयोग किया है। उन्होंने गेय छन्दों का प्रयोग अपने काव्य की प्रभविष्णुता बढ़ाने के लिए किया है। इससे उनकी भक्ति-भावना की वृद्धि हुई है।

वस्तुत: गेय मुक्तकों का जैसा निर्माण सूर ने किया है वैसा अन्य किसी कवि ने नहीं। इसका मूल कारण उस काल की सामाजिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों के भीतर निहित है। मुसलमानी आक्रमण से क्षुब्ध जनमानस, भक्ति का नवोन्मेष, रूढ़ि-विरोधी विचारों की क्रान्तिकारी मान्यताएँ तथा सामन्तवादी संस्कृति के विघटन से उत्पन्न नई वैयक्तिक चेतना इन गीतों के निर्माण में पूर्णत: सहायक हुई हैं।

गेय छन्दों की यह परम्परा महाकवि सूर को जयदेव, गोवर्धनाचार्य, जगद्धर भट्ट, लीलाशुक, विद्यापति तथा कबीर आदि से रिक्थ के रूप में प्राप्त हुई। लेकिन इस प्राप्त रिक्थ को उन्होंने ज्यों का त्यों स्वीकार नहीं कर लिया बल्कि इसमें अपनी प्रतिभा के अनुसार मौलिक उद्‌भावनाएं भी कीं। यह माना जा सकता है कि उनकी गेय पदावली की कोमलता, जयदेव-सरस्वती की सुकुमारता से बहुत कुछ साम्य रखती है। उनकी शृंगारी भावना भी जयदेव और विद्यापति से काफी मेल खाती है। इस समानता के होते हुए भी सूर अपनी मौलिक प्रतिभा के बल पर सबसे पृथक् खड़े हैं। उनके मानृहृदय का चित्रण, संयोग एवं विप्रलम्भ

श्रृंगार के नाना मनोरम रूपों और बाललीला के हृदयहारी स्वाभाविक रूपों के चित्रण हमें अन्यत्र नहीं दृष्टिगोचर होते। वल्लभाचार्य से भेंट होने के उपरान्त सूर की गीतिधारा में एक नया मोड़ आया जो विशेषत: उनके लीलागायन से सम्बद्ध है। उनके गीत लीला का वस्तुगत आधार लिये हुए हैं। लीला के उपादानों से ही कवि ने स्वानुभूति को प्रत्यक्ष रूप में प्रस्तुत किया है।

चूँकि सूरदास जी उत्कृष्ट गायनाचार्य भी थे इस कारण उन्होंने जितने पद लिखे, उसमें संगीत की ध्वनि बड़े ही सुमधुर रीति से सँजो दी। वे पद संगीत के जीते-जागते अवतार से हो गये हैं। उन्होंने अपने इन पदों को संगीत के इतने रागों में बाँधा है कि शास्त्रीय संगीत के सिद्ध गायक भी इतने अधिक रागों की कल्पना नहीं कर सकते। आचार्य मुंशीराम शर्मा इस विषय में लिखते हैं—"इस गायन में ऐसी कौन-सी रागिनी है, जो सूरसागर में न आयी हो? कहा जाता है कि सूर के गान ऐसे राग और रागिनियों में हैं, जिनमें से कुछ के तो लक्षण भी अब प्राप्त नहीं हैं। ऐसी राग-रागिनियाँ या तो सूर की अपनी सृष्टि हैं या अब उनका प्रचार नहीं है।[7] आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का मत भी इस विषय में उल्लेखनीय है—सूरसागर में कोई राग या रागिनी छूटी न होगी। इससे वह संगीत प्रेमियों के लिए भी बड़ा भारी खजाना है।[8]

सूरदास जी काव्य और संगीत दोनों में पारंगत थे इसलिए एक ओर जहाँ भावानुकूल छन्दों का चयन कर उन्होंने अपने पदों को काव्य सौन्दर्य से मंडित किया है, वहीं दूसरी ओर भाव और वातावरण के अनुकूल रागों में गाकर उन्हें सांगीतिक मनोहारिता भी प्रदान की है। लेकिन राग-रागिनियों में पद-रचना करते हुए भी सूर ने छन्दों के मोह को नहीं छोड़ा है। वे संगीत के रहस्यों को जानते थे अत: अपनी गेय पद रचनाओं में उन्होंने अपने से पूर्व प्रचलित छन्द प्रणालियों को पचा लिया। सूरदास से पूर्व चार प्रकार की छन्द प्रणालियाँ प्रचलित थीं—दोहा-पद्धति, वीरगाथाकाल की छप्पय पद्धति, भाषों की दण्डक पद्धति तथा पुष्पदन्त आदि कवियों की पद्धरियाबन्ध या चौपाई पद्धति। पद्धरिया-बन्ध या चौपाई पद्धति वर्णनात्मक आख्यान-काव्यों, पौराणिक कृतियों के अनुवादों अथवा चरित-काव्यों के लिए प्रयुक्त होती थी। अपभ्रंश के जैन-काव्यों में इसका व्यापक रूप से उपयोग हुआ था। सूरदास ने इस पद्धति का उपयोग सूरसागर के प्रथम, नवम् तथा दशम स्कन्धों के अतिरिक्त अन्य स्कन्धों में बड़े विस्तार से किया है। अत्यन्त क्षिप्रगति से केवल कथा मात्र कह देने भर की जहाँ प्रवृत्ति रही है वहाँ चौपई-चौपाई छन्द ही प्रयुक्त हुए हैं। लेकिन ये छन्द सूर को प्रिय नहीं थे। इसके द्वारा उन्होंने भागवत के छूटे हुए प्रसंगों की पूर्ति मात्र की है। इसी से उसमें न तो सूर की आत्माभिव्यक्ति ही हो सकी है और न उनकी काव्यकला का ही कोई सुन्दर रूप प्रस्तुत हो सका है।

सूरदास जी ने सिद्धों, नाथों, सूफियों तथा सन्तों के साहित्य में प्रयुक्त चौबोला, पादाकुलक आदि सोलह मात्राओं के छन्दों का भी प्रयोग किया है। सूर ने चौपाइयाँ चौदह, पन्द्रह और सत्रह मात्राओं की भी लिखी हैं, लेकिन संगीत के प्रवाह को ध्यान में रखकर इनमें अनेक परिवर्तन भी कर लिया है। कहीं-कहीं हरिगीतिका, गीतिका, दोहा तथा सोरठा आदि छंदों के साथ भी चौपाई छन्द का प्रयोग किया है।

छप्पय छन्द का प्रयोग सूरसागर में मात्र एक स्थान पर ही हुआ है।[9] सूर की रुचि इस छन्द में नहीं रही है क्योंकि यह वीररसात्मक छन्द है और सूर की कोमल प्रकृति से इसका मेल नहीं बैठता।

कवित्त पद्धति में घनाक्षरी, झूलना और चंचरी का प्रचुर प्रयोग सूर साहित्य में मिलता है। लेकिन सूर ने इन छन्दों का प्रयोग अपने ढंग से किया है। इन छन्दों में कहीं टेक है, कहीं नहीं है। मात्राओं, विरामों और गतियों में भी सुविधानुसार हेर-फेर कर लिया गया है। ये छन्द पर्याप्त लम्बे हैं और इनमें संगीत की अपेक्षा उच्चारण-पद्धति का ही विशेष महत्व है। श्रीकृष्ण के रूप-वर्णन, स्तुति तथा बाल और संयोग लीला के प्रसंगों में इन छन्दों का प्रयोग हुआ है। गेय पदों में सोलह मात्राओं से निर्मित विष्णुपद, सरसी, हरिपद, सार, लखनी, वीर, समान सवैया तथा मत सवैया आदि छन्द सूर के प्रिय छन्द हैं जिन्हें संगीत की लय-ध्वनियों की सुगमता के अनुसार उन्होंने स्थान-स्थान पर प्रयुक्त किया है। इन छन्दों के अतिरिक्त कुण्डल, उपमान, हीर, तोमर, शोभन तथा रूपमाला छन्दों में भी सूर ने गीत लिखे हैं।

दोहा, अपभ्रंश का प्रिय छन्द रहा है। हिन्दी काव्य में स्वतन्त्र रूप में अथवा चौपाई के साथ इसका व्यापक प्रयोग हुआ है। सूरदास जी ने सूरसागर में दोहे का भी प्रयोग किया है। लेकिन उनका यह प्रयोग बड़े ही चमत्कारिक और मौलिक ढंग से हुआ है। उन्होंने कहीं टेक के साथ, कहीं बिना टेक के, कही रे ये जैसे दो मात्रा के शब्दों को दोहे के दो चरणों के बीच में रखकर उसकी गति को शिथिलता देकर, कहीं प्रत्येक पद में एक अर्द्धाली जोड़कर दोहे के छन्दात्मक रूप को छिपा दिया है। सूर ने कुछ टेक युक्त अथवा स्वतन्त्र पदों में दोहे के साथ रोले का भी प्रयोग किया है। वास्तव में दोहे का ऐसा विचित्र और रसमय प्रयोग सूर की अपनी मौलिकता है। डा० रामरतन भटनागर के अनुसार—"सूर की संगीत प्रतिभा ने दोहे को नये योगायोग देकर उसे गीति-कला की नयी इकाई बना दिया है।[10]

यही नहीं सूर के इन दोहों में हमें तेरह और ग्यारह मात्राओं के अनेक योग भी मिलते हैं। तेरह मात्राओं में आठ, दस, ग्यारह और ग्यारह मात्राओं में दस मात्राओं की अर्द्धाली जोड़कर कवि ने नये आकर्षक छन्दों का भी निर्माण किया

है। दो या दो से अधिक छन्दों को मिलाकर प्रयुक्त करना सूर की अपनी अलग विशेषता है। इस तरह के छन्दों की संख्या सूरकाव्य में तिरसठ तक पहुँच गई है। उन्होंने भावानुसार मनमाने ढंग के पदों में अनेक छन्दों की पंक्तियों को सजा दिया है। इस प्रकार सूर ने अपभ्रंशकालीन मिश्रण परम्परा को एक नये ढंग से इन पदों में आगे बढ़ाया है।

छन्दों के विषय में सूर की यह विशेषता है कि उन्होंने हिन्दी की संगीत-पद्धति को पहचाना और मात्रिक छन्दों के प्रयोग को आगे बढ़ाते हुए उनमें श्रेष्ठतम साहित्य, कला और अनुभूति का अमृत भर दिया। उन्होंने अपने पदों में विविध छन्दों का विधान बड़े कौशल से रखा है। उनके छन्द दोहा, रोला, गीतिका, विष्णु-पद, सरसी, सावनी, घनाक्षरी और दण्डक आदि भी रागों की स्वर सम्पत्ति को पाकर विशेष रूप से गेय हो गये हैं।

सूर के इन छन्दों की गेयता ने ही उनकी भक्ति-भावना के प्रचार तथा राष्ट्रीय एकता के विकास में सहायता प्रदान की। अपने इन गेय छन्दों के माध्यम से ही उन्होंने अपने देश बन्धुओं के समक्ष अपने राष्ट्रीय उत्थान के लिए परमात्मा के चरणों में स्नेह करना, उनकी पूजा करना तथा उनका यक्ष:कीर्तन करना आवश्यक बतलाया। और उन्हें उसी परमात्मा का भक्त बनने का उपदेश दिया जिसकी कृपा से लँगड़े भी पहाड़ लांघ जाते हैं; अन्धे सब कुछ देख सकते हैं; बधिर सब कुछ सुन सकते हैं; गूंगे बोल सकते हैं तथा रंक भी सिर पर छत्र धारण करके चलने लगता है।

सूर की अलंकार योजना—कितनी पुरानी और कितनी नवीन

अलंकार काव्य के शोभाकारक धर्म हैं। इनका प्रयोग किसी भाव, गुण, विचार या क्रिया को उत्कर्ष देने के लिए होता है। काव्य का सौन्दर्यवर्धन ही अलंकारों का अभिप्रेत होता है। किसी वस्तु के साक्षात्कार से जब कवि की सौन्दर्यानुभूति सजग हो उठती है, हृदय तल्लीन हो जाता है तो उसकी कल्पना उस वस्तु के सौन्दर्य को अधिक हृदयग्राही और प्रभावोत्पादक बनाने के लिए अप्रस्तुत व्यवहार योजना का सन्निवेश करने लगती है, उस समय कवि की रचना में अलंकारों का प्रयोग स्वत: हो जाता है। सूरकाव्य में हमें यही बात मिलती है।

महाकवि सूर ने प्रयत्नपूर्वक अलंकारों की योजना अपने काव्य में नहीं की है, बल्कि अधिकांश अलंकारों का प्रयोग उन्होंने स्वाभाविक रूप में ही किया है। यही उनकी सबसे बड़ी विशेषता है। उनकी अलंकार योजना में हमें न तो केशव--

दास के समान काव्य-शास्त्र-ज्ञान-प्रदर्शन की प्रवृत्ति मिलती है और न ही जायसी के समान एक-एक पंक्ति में कई-कई अलंकार ठूँसकर संकर और संसृष्टि करने का आग्रह ही। उनके काव्य में अलंकारों के घटाटोप के दर्शन नहीं होते। उनके भाव सहज अलंकृत होकर मूर्त हो उठे हैं। सहज अलंकारों के समावेश से सूर के काव्य में 'अद्‌भुदता' का गुण आ गया है, जो कलात्मक होकर रस का उपकारी बन जाता है।

डा० दीनदयालु गुप्त के शब्दों में "सूर ने अधिकांशतः अलंकारों का प्रयोग स्वाभाविक रूप में ही किया है। उन्होंने कुछ स्थलों को छोड़कर वर्णन को अलंकारों और अद्‌भुत कल्पना की उक्तियों के भार से अनावश्यक रूप में लादने का प्रयास नहीं किया है।…'सूरसागर' के साधारण पदों में स्वाभाविक, सरल और सुबोध रूप से अलंकारों का प्रयोग है, केवल दृष्टिकूट पदों में क्लिष्ट कल्पना और पांडित्यपूर्ण चमत्कार हैं जो कला-कौशल और बुद्धि-चमत्कार की दृष्टि से उत्कृष्ट हैं, यह अवश्य है कि रसात्मक काव्य की यह उत्कृष्ट लक्षण नहीं माना जाता। भक्तों में जिस प्रकार वाह्याडम्बर अनावश्यक समझा जाता है, भगवान भाव की सरलता और निश्छलता से सन्तुष्ट होते हैं, उसी प्रकार सूरदास ने काव्य में भावों की सुकुमारता को प्रधानता दी है और भावाभिव्यक्ति में स्वाभाविक उक्तियों तथा अलंकारों को छोड़कर वैचित्र्यपूर्ण अलंकारों की सजावट का पीछा नहीं किया है।[11]

सूर के काव्य में शब्द और अर्थ के अलंकार वास्तव में उसके शोभादायक होकर ही आये हैं, भार बनकर नहीं। लेकिन सूर ने शब्दालंकारों की अपेक्षा अर्थालंकारों का ही अधिक प्रयोग किया है। इसका कारण है शब्दालंकार वर्ण-सौन्दर्य को ही विशेष रूप से प्रस्फुटित करते हैं, रूप-सौन्दर्य के लिए उनका इतना महत्व नहीं है। जबकि सूर का उद्देश्य रूप-सौन्दर्य-चित्रण और उसके द्वारा भाव-सौन्दर्य का ही पोषण करना था।

शब्दालंकार विशेष रूप से साहित्यलहरी में मिलते हैं। शब्दालंकारों में सूर ने अनुप्रास, यमक, श्लेष, वीप्सा और वक्रोक्ति का विशेष प्रयोग किया है।

सूर ने अनुप्रास का प्रयोग स्वाभाविक रूप से किया है। अनुप्रास का प्रयोग सूरकाव्य में हमें दो रूपों में मिलतां है—एक तो ध्वन्यात्मक सौन्दर्य उत्पन्न करने के लिए और दूसरा वातावरण की सृष्टि करने के लिए।

सौन्दर्य उत्पन्न करने के लिए :

"अरबराइ कर पानि गहावत, उगमगाई धरनी धरै पैया।"

वातावरण की सृष्टि के लिए :

बरत बन बाँस थरहरत कुस काँस जरि उड़त है भाँस अति प्रबल धायौ।
झपटि झपटत लपट फूल-फल चट-चटकि, फटत, लट लटकि द्रुम-द्रुम नवायौ॥

अति अगिनि-झार, भंभार धुंधार करि, उचटि अंगार झंझार छायौ।
बरत बन पात भहरात झहरात अररात तरु महा, धरनी गिरायौ ।।

श्लेष और यमक का प्रयोग उनके दृष्टिकूट पदों में मिलता है। इसके प्रयोग से सूर राधा और कृष्ण के सौन्दर्य की रहस्यात्मक व्यंजना कर सके हैं।

यमक का उदाहरण :

"सारंग सम कर नीक, नीक सम सारंग सरस बखानै।
सारंग बस भय, भय वस सारंग, सारंग बिसमै मानै।"

वीप्सा अलंकार कवि के हृदय की भक्ति भावना का परिचायक कहा जा सकता है। इसका प्रयोग सूर ने राधा और कृष्ण के अंग-प्रत्यंग के सौन्दर्य-वर्णन में किया है।

उदाहरण—'राजिवदल, इन्दीवर सतदल कमल कुसेंसय जाति।'

वक्रोक्ति का प्रयोग उनकी व्यंग्योक्तियों में अधिक है। उनके वात्सल्य में भी हमें व्यंग्य के दर्शन होते हैं। विरहिणी गोपियों की उक्तियाँ तो उनके भावों के साथ व्यंग्य को भी लेकर निकलती हैं, इसलिए उनमें वक्रोक्ति के सुन्दर उदाहरण भरे पड़े हैं।

उदाहरण—

ऊधौ जाहु तुम्हैं हम जाने।
स्याम तुमहिं ह्याँ नाँहि पठाये, तुम हौ बीच भुलाने ।।
× ×
साँच कहौ तुमकौ अपनी सौं, बूझति बात निदाने।
सूर स्याम जब तुमहिं पठायौ, तब नैकहुँ मुसुकाने ?

अर्थालंकारों में साम्यमूलक अलंकारों का ही विशेष प्रयोग सूर ने किया है। इनका क्षेत्र भी सबसे विशाल है। साम्यमूलक अलंकारों में उपमा सर्वोपरि है। यही मूलतः अनेक अलंकारों की जननी है। उत्प्रेक्षा, रूपक, अन्वय, सन्देह, भ्रान्तिमान, उल्लेख, अपह्नुति, दृष्टांत आदि असंख्य अलंकार अपने भेदों सहित उपमा में ही अन्तर्भूत होते हैं। महाकवि सूर ने उक्त सभी अलंकारों का बहुत ही सफल प्रयोग किया है। वैसे इनके प्रिय अलंकार उपमा, रूपक और उत्प्रेक्षा हैं, जिनके सुन्दर और अतिशय कलात्मक प्रयोग में सम्भवतः कोई हिन्दी कवि उनके समक्ष नहीं ठहर सकता। सांगरूपक पर तो सूर का असाधारण अधिकार है। सूर के सांगरूपक उनकी सूक्ष्म निरीक्षण-शक्ति, तत्तत् शास्त्रों के ज्ञान और अनुभूति के अतल गाम्भीर्य से उद्भूत हैं। उनके 'अब हौं नाच्यौ बहुत गुपाल', 'हरि हौं सब पतितन को राजा', 'देखो भाई सुन्दरता को सागर' तथा 'माधौ जू

यह मेरी इक गाई' जैसे पद सांगरूपक के श्रेष्ठ उदाहरण हैं।

सूर की चित्रप्रधान कल्पना के कारण उनके काव्य में उपमा अलंकार का सफल प्रयोग हुआ है। समस्त सूरसागर उपमा के उदाहरणों से भरा पड़ा है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है :

> हरि दरसन की साध मुई।
> उड़ियै उड़ी फिरति नैननि संग कर फूटे ज्यों आक रुई।
> ×　　　　×　　　　×
> सूखति सूर धान अंकुर सी बिनु बरसा ज्यों मुक तुई।

सूर ने उपमा के बाद उत्प्रेक्षा का सर्वाधिक प्रयोग किया है। उत्प्रेक्षा उपमा से कुछ अधिक कठिन साध्य है क्योंकि इसमें उपमान और उपमेय में बलपूर्वक सम्बन्ध स्थापित करना पड़ता है। परन्तु सूर के लिए यह साधारण बात है। उन्होंने राधाकृष्ण के नेत्रों के सम्बन्ध में अनेक उत्प्रेक्षाएँ की हैं और उनमें से कोई भी ऐसी नहीं है, जिसमें नवीनता न हो। उदाहरण के लिए :

(1) मुख आँसू माखन के कनिका निरखि नैन सुख देत।
मनु ससि स्रवत सुधानिधि मोती उड़गनि अवलि समेत॥

(2) नीर निरंजन लोचन राता। सिन्दुर मण्डित (जनु) पंकज पाता॥

(3) लोचन जनु थिर शृंग अकार। मधुमालत किये उड़इ न पार॥

इसके अतिरिक्त सूर ने कृष्ण के अन्य अंगों पर भी सुन्दर उत्प्रेक्षाएँ की हैं :

(1) सुन्दर कर आनन समीप अतिराजत इहिं आकार।
मनु सरोज विधु बैर बेंचि करि लिए मिलत उपहार।

(2) कटि पट पीत बसन सुदेस।
मनहु नवघन दामिनी तजि रही सहज सुभेस॥

सूर ने साम्यमूलक अलंकारों के अतिरिक्त अतिशयमूलक और विरोधमूलक अलंकारों का भी काफी प्रयोग किया है। रूप-सौन्दर्य के वर्णन में और विशेषकर राधा के नखशिख सौन्दर्य-वर्णन में उन्होंने रूपकातिशयोक्ति से बहुत काम लिया है। राधा के सौन्दर्य और सुरत-वर्णन वाला 'अद्भुत एक अनुपम बाग' पद तो रूपकातिशयोक्ति का अत्यन्त प्रसिद्ध उदाहरण है।

विरोधमूलक अलंकारों का प्रयोग सूर ने उक्तिवैचित्र्य और वाग्वैदग्ध्य की सिद्धि के लिए किया है। इनमें भ्रमरगीत प्रसंग में व्याजनिन्दा, असंगति, विभावना, विरोधाभास, विषम आदि वैषम्यमूलक अलंकारों का कवि ने बड़ा सुष्ठु एवं प्रभविष्णु विनियोग किया है। अर्थान्तरन्यास और उदाहरण भी जहाँ-तहाँ पाये जाते

हैं। चकई, भृंगी, सूआ आदि के प्रति कहे हुए उनके पदों में अन्योक्ति अलंकार है। गोपिकाओं द्वारा मुरली के प्रति कहे गये वचनों में विभावना अलंकार है।

सूर ने प्रेमगोपन के लिए सन्देह तथा विस्मयोत्पत्ति के लिए असंगति, असंभव और विषम आदि अलंकारों का आश्रय लिया है। शिव और कृष्ण के रूप वर्णन में सांगरूपक और श्लेष के साथ-साथ अपह्नुति का भी प्रयोग हुआ है। राधा और कृष्ण के सौन्दर्य वर्णन में व्यतिरेक का प्राचुर्य है।

इन सभी अलंकारों के अतिरिक्त महाकवि सूर ने अनेक नवीन और प्राचीन अलंकारों का भी प्रयोग किया है, जिनकी गणना करना कठिन है। सूर साहित्य में प्रयुक्त अलंकारों का विधिवत् अध्ययन करने पर यही निष्कर्ष निकलता है कि सूर ने ऐसे अलंकारों का प्रयोग अधिक किया है जो अपेक्षाकृत सरल हैं। प्राचीन महाकाव्यों में उपमा, उत्प्रेक्षा एवं रूपक आदि सरल और सामान्य अलंकारों का ही प्रयोग हुआ है। महाकवि सूर ने भी इन्हीं अलंकारों का अधिक प्रयोग किया। सरल अलंकारों का प्रयोग सूर के काव्य को जन साधारण के निकट पहुँचा देता है। उसका विशेष आनन्द लेने के लिए रीति का पाठ पढ़ने की आवश्यकता नहीं है। यही कारण है कि सूर के अलंकार आज भी हमें प्रभावित करते हैं।

स्वीकृत काव्य-शैली : सूर की युगीन विवशता

भारतीय काव्य-शास्त्र के अनुसार शैली का सम्बन्ध कवि के व्यक्तित्व से होता है। जिस प्रकार शक्तिवान व्यक्ति और उसकी शक्ति में भेद नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार व्यक्ति और शैली का भी भेद नहीं किया जा सकता।

प्रत्येक कवि का कविता करने का एक अलग मार्ग और एक विशेष ढंग होता है। इसी ढंग या प्रकार को शैली कहते हैं। किसी कवि का वास्तविक स्वरूप उसकी कविता-शैली में ही लक्षित होता है। शैली कवि के व्यक्तित्व की विशेष छाप तथा मन की प्रतिकृति है। वह कवि की आन्तरिक भावनाओं को प्रकट करने के लिए मंजुमुकुर है। कवि की कविता का अर्थ समझने के लिए उसकी शैली का ज्ञान आवश्यक है। कवि की शैली का ज्ञान हुए बिना उसकी कविता रूखी और चमत्कारहीन जान पड़ती है। उसका अर्थ ही समझ में नहीं आता।

प्रत्येक महाकवि की एक निजी शैली होती है। वह छोटे कवियों की भाँति किसी अन्य की शैली का अनुकरण नहीं करता। किसी महाकवि की शैली का अध्ययन करने के उपरान्त इस बात की पहचान करने में कोई कठिनाई नहीं होती कि अमुक कविता उस कवि की है या नहीं। जब कवि हृदय से कविता नहीं करता तब उसकी कविता में कवित्व ही नहीं आता, और तब उसका स्वरूप

पहचानने में कठिनाई होती है।

महाकवि सूर की काव्य शैली पर विचार करते समय हम देखते हैं कि उनकी पर्याप्त लम्बी अवधि की काव्य साधना में शैली के विभिन्न स्तर मिलते हैं। दीर्घकालीन काव्य-साधना और भावना की तीव्रता तथा तन्मयता के अनेक स्तर होने के कारण सूरदास के काव्य में यदि हमें अनेक शैलियाँ मिलती हैं तो यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है, क्योंकि शैली ही कवि का व्यक्तित्व है और व्यक्तित्व के विकास अथवा ह्रास के साथ शैली में भी परिवर्तन होता है।

शैली की दृष्टि से सूर-काव्य को कई भागों में बाँटा जा सकता है। जैसे—विनय के पद, स्तुतियाँ, बाललीला के पद, रूपवर्णन, संयोगचित्रण, मुरली और नेत्रों के प्रति उपालम्भ, भ्रमरगीत, गोपियों का विप्रलम्भ, पर्वों और ऋतुओं का चित्रण तथा पुराणशैली की प्रवन्धात्मक सामग्री। इन सब में विषय, अनुभूति और लक्ष्य के अनुसार शैली का स्वरूप स्वतः ही वदल गया है। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि काव्य-शैली उत्तरोत्तर प्रौढ़ होती गई है। लेकिन सूर की शैली का वास्तविक स्वरूप उनके 'विनय', 'बाल-कृष्ण' तथा 'भ्रमरगीत' के पदों में सुरक्षित है। लाला भगवानदीन 'दीन' के अनुसार—"सूर ने और भी बहुत कुछ कहा है और इतना अच्छा कहा है जितना वे ही कह सकते थे, पर इन तीनों प्रसंगों में तो उन्होंने अपना हृदय ही खोलकर रख दिया है। पद-पद पर सूर अन्तर्हित जान पड़ते हैं। 'विनय' में हम सूर को अनन्य भगवद्भक्त के स्वरूप में पाते हैं। 'बालकृष्ण' में हम उन्हें नन्द यशोदा के स्वरूप में श्रीकृष्ण को लाड़-लड़ाते हुए देखते हैं और वही सूर 'भ्रमरगीत' में साक्षात् 'गोपी' वेश में 'उद्यो' से तर्क-वितर्क करते और बनाते दृष्टिगत होते हैं। सूर का 'सूरत्व' इन्हीं तीन प्रसंगों में विशेष रूप से दिखाई देता है।"[12]

सूर ने अपने काव्य में तीन प्रकार की शैलियों का प्रयोग किया है। गेयपद शैली, दृष्टिकूट शैली तथा वर्णनात्मक शैली। लेकिन इन तीनों में सबसे सफल प्रयोग गेय-पद शैली का है। सूर के दृष्टिकूट भी गेय-पद शैली में ही हैं। उनके इस शैली के पदों में स्वाभाविकता की अपेक्षा चमत्कारिकता और सरलता की अपेक्षा दुरूहता अधिक है। सूर को यह दृष्टिकूट पद शैली संतों से मिली। संत कवि जिस प्रकार भक्ति-भाव की अभिव्यक्ति के लिए साधारण गेय-पद शैली को अपनाते थे, उसी प्रकार रहस्यात्मक भावों को प्रकट करने के लिए वे दृष्टिकूट पद शैली का अनुसरण करते थे। सिद्धों तथा नाथपंथी हठयोगियों की रचनाओं में इसी रहस्यात्मक प्रवृत्ति को अपनाया गया है। वीरगाथाकालीन कवियों चन्दबरदाई आदि की रचनाओं में भी इस प्रकार की पद शैली मिलती है। भक्ति काल में इस शैली का सर्वप्रथम प्रयोग विद्यापति की रचनाओं में मिलता है। सूर ने इस शैली को ज्यों-का-त्यों ग्रहण नहीं किया वरन् इसे परिमार्जित कर

साहित्यिक रूप प्रदान किया। उनके दृष्टिकूट पदों में हमें इस शैली का परिमार्जित साहित्यिक रूप मिलता है। साहित्य-लहरी इस शैली की प्रौढ़ रचना है। इसके पदों में एक ओर चमत्कार की सृष्टि हुई है, तो दूसरी ओर रहस्यात्मक सौन्दर्य का निरूपण। डा० हरवंशलाल शर्मा के शब्दों में—"सूर ने इस शैली को विद्यापति की भाँति केवल विरह के प्रसंगों में ही नहीं अपनाया है, अपितु अन्य प्रसंगों का वर्णन भी उन्होंने इस शैली में किया है। सूरदास जी ने इस शैली में राधा-कृष्ण की अनेक भंगिमाओं, मुद्राओं और रति-क्रीड़ाओं का वर्णन किया है।"[13]

वर्णनात्मक शैली का प्रयोग कवि ने उन स्थलों पर किया है जहाँ आख्यान और पौराणिक प्रसंगों की ओर संकेत होता है। सूरसागर के नवम् तथा दशम् स्कन्धों के अतिरिक्त अन्य स्कन्धों में प्रायः इसी शैली का प्रयोग हुआ है। इन स्कन्धों में विशेषकर भागवत के वर्णनात्मक प्रसंग तो इसी शैली के हैं। इसके अतिरिक्त उत्सवों और दृश्यों का वर्णन भी इसी शैली में है। कवि ने जहाँ वस्तुओं की सूची प्रस्तुत करना शुरू कर दिया है, वहाँ शैली वर्णनात्मक हो गयी है। इस शैली में न तो संश्लिष्ट चित्र मिलते हैं और न तो वर्णन का विस्तार ही पाया जाता है। कवि की वृत्ति ऐसे प्रसंगों में नहीं रमी है। अतः इनमें काव्य-सौन्दर्य का अभाव मिलता है।

महाकवि सूर की वास्तविक शैली गेय-पद शैली है। हृदय के कोमलतम भावों की अभिव्यंजना के लिए सूर ने इसी शैली का आश्रय लिया है।

गेय पद-शैली वास्तव में कोई नई शैली नहीं थी। यह अत्यन्त प्राचीन शैली थी, जिसमें कवियों ने परिवर्तन, परिवर्द्धन और संशोधन किया। गीतिकाव्य की यह शैली सर्वप्रथम हमें प्राचीन संस्कृत साहित्य में मिलती है। बाद में यह वहाँ से अलग होकर स्वतंत्र रूप से विकसित होती हुई प्रान्तीय भाषाओं में भी आई। अपभ्रंश तथा वीरगाथाकालीन साहित्य में राजनीतिक परिस्थितियों के कारण गेय पदों की इस धारा में कुछ अवरोध-सा दिखाई देता है। लेकिन भक्तिकाल में आकर इस गीति-शैली का पुनः संस्कार हुआ। भक्तिकालीन कवियों ने भक्ति, शृंगार तथा वात्सल्य की त्रिवेणी गेय-पद-शैली के माध्यम से ही बहायी। डॉ० हरवंशलाल शर्मा के शब्दों में—"जयदेव का गीत गोविन्द इस सम्बन्ध में विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उनके गीत आज भी उत्तर-प्रदेश के पूर्वी सीमांत तथा बिहार में साधारण गायक और भजनीकों द्वारा गाये जाते हुए सुने जाते हैं। इधर मैथिल कोकिल विद्यापति ने भी अपने राधा-कृष्ण विषयक शृंगारिक गीतों की ऐसी तान छेड़ी, जिसकी कूक विविध-कवि-विहगवृन्द की कल-कल ध्वनि को पराभूत कर मिथिला के आम्र कुंज-पुंजों को गुंजित करती हुई दक्षिण की ओर से प्रवृत्त भक्ति-समीर का आधार ले उत्तर की ओर बढ़कर ब्रज में कालिन्दी

कूलस्थ कदम्बों को आन्दोलित करती हुई वृन्दावन के 'कोटिनहू कलधौत के धाम' से भी सुन्दर करीर कुंज-वृन्दों में गूँजने लगी। 'नाथ' और 'सिद्ध' सम्प्रदायों के बानियों ने भी अपनी बानियाँ लोक-भाषा के पदों में ही जनता को सुनाई और उनके उत्तराधिकारी संत कवियों ने राम की 'बहुरिया' बनकर इस गीत-शैली के माध्यम से अपनी प्रेम-भावना को प्रकट किया।[14]

इस प्रकार अपनी भक्ति-भावना को व्यक्त करने के लिए सूर को यह परम्परागत विकसित काव्य-शैली प्राप्त हुई। इस शैली को स्वीकार करना सूर की युगीन विवशता भी थी। सूर को तो कृष्ण की मधुर लीलाओं का ही गान करना था और इस गान के माध्यम से जीवन के प्रति उदास तथा असहाय जनता को आशा का संदेश देना था।

सूरदास जी पुष्टि सम्प्रदाय में दीक्षित थे। इस सम्प्रदाय में संगीत का महत्व-पूर्ण स्थान है। कृष्ण की पूजा-आराधना तथा उनके विग्रह की प्रत्येक दिनचर्या में संगीत का योग रहता है। महाकवि सूरदास जी वल्लभाचार्य द्वारा नियुक्त श्रीनाथ जी के कीर्तनिया थे अतः उनका गीति पद लिखना स्वाभाविक ही था। सूर ने गीतों की इस परम्परागत शैली का अन्धानुकरण नहीं किया। उनकी इस शैली पर न तो वीरगाथाकालीन चारण और भाटों का प्रभाव लक्षित होता है और न ही नाथ और सिद्ध-सम्प्रदायों के प्रचारकों का। हाँ ! निर्गुणिया संतों की शैली का प्रभाव उन पर अवश्य पड़ा है। सूर के विनय आदि के पदों में हमें गीति शैली के ही दर्शन होते हैं। परन्तु पुष्टि सम्प्रदाय में दीक्षित होने के बाद उनकी इस गीति-शैली में नया मोड़ आया और वह जयदेव और विद्यापति की श्रृंगार-भावना और कोमल-कांत पदावली को आत्मसात करती हुई विकसित हुई। यद्यपि सूर द्वारा विकसित इस शैली को बाद के तुलसी आदि कवियों ने भी अपनाया परन्तु इस शैली का जैसा स्वरूप सूर ने प्रस्तुत किया है वैसा अन्य किसी कवि ने नहीं।

सूर के हाथों में पड़कर यह शैली मँज-सी गई। हमें उनकी इस शैली में विविधता और विचित्रता दोनों के दर्शन होते हैं। जैसा कि पीछे कहा जा चुका है कि गेय-पद शैली का अनुकरण नाथ योगी तथा संत कवियों ने भी किया है लेकिन जैसा निखार सूर ने इस शैली में किया है वैसा अन्य किसी ने नहीं। उनके वात्सल्य, संयोग तथा वियोगादि के पदों में गेय-शैली का यह रूप मुखर हो उठा है।

सूर की मौलिकता

विषय, भाषा, छंद तथा शैली इत्यादि को परम्परा से ग्रहण करते हुए भी महाकवि सूर ने उनमें अनेक मौलिक उद्भावनाएँ की हैं। उनका काव्य विषय कृष्ण चरित्र

का गान है और इस गान का आधार उन्होंने श्रीमद्भागवत को बनाया है। सूरसागर में अनेक स्थलों पर इसका संकेत है। श्रीमद्भागवत को आधार बनाते हुए भी महाकवि सूर ने कृष्ण कथा में अनेक मौलिक तथा सर्वथा नवीन प्रसंगों की उद्भावना की है। महाकवि सूर के सूरसागर प्रथमस्कन्ध के भक्ति या विनय-विषयक पद कवि की मौलिक अनुभूति के परिचायक हैं।

सूर ने भागवत की दशमस्कन्ध की कथा का ही विशेष रूप से गान किया है। पुष्टिसम्प्रदाय में दशमस्कन्ध की कथा का विशेष महत्त्व है। महाप्रभु वल्लभाचार्य जी ने सूर को इसी दशमस्कन्ध की भगवल्लीला वर्णन करने का आदेश दिया था। लेकिन सूरसागर का दशमस्कन्ध भागवत का अनुवाद होते हुए भी उससे अलग है। इस भाग में सूर ने कृष्ण का जो चित्रण किया है, वह भागवत के चित्रण से भिन्न है। भागवत में कृष्ण शक्तिशाली हैं, उनका वहाँ असुर संहारी रूप प्रस्तुत किया गया है। लेकिन सूरसागार में ऐसा नहीं है। सूर ने सूरसागर में कृष्ण का बाललीला और यौवन लीला का स्वरूप प्रस्तुत किया है। कृष्ण की बाल-लीला के अन्तर्गत छठी-व्यवहार वर्णन, अन्नप्राशन लीला, वर्षगाँठ लीला, कनछेदन लीला, घुटुरुवनि चलना, पायनि चलना, बालवेश, चन्द्रप्रस्ताव, कलेवा—भोजन, खेलन, माखनचोरी तथा चकई भौंरा खेलना-प्रसंग सूर की मौलिक उद्भावना है। इसके अतिरिक्त माटी-भक्षण, दाँवरी-बन्धन आदि जो प्रसंग भागवत में उपस्थित हैं उन्हें भी सूरदास जी ने अधिक विस्तार के साथ लिया है। भागवत में केवल गोपियों और कृष्ण के ही प्रेम का वर्णन है जबकि सूरसागर में गोपियों के साथ ही राधा का भी उल्लेख है। उसमें हमें प्रथम बार राधा का परिचय मिलता है। सूरसागर में राधाकृष्ण की युगल-जोड़ी के प्रेम सम्बन्ध को बहुत विस्तारपूर्वक लिया गया है। उनका यह राधा-कृष्ण के प्रेम का आरम्भ, विकास तथा परिणाम हिन्दी साहित्य की अद्वितीय वस्तु है। सूर द्वारा वर्णित गोपी-विरह या भ्रमरगीत प्रसंग भी उनकी मौलिक उद्भावना है। इसके अतिरिक्त अन्य स्कन्धों में बिखरे भक्ति, गुरु-महिमा तथा विनय आदि सम्बन्धी पद भी कवि की मौलिक प्रतिभा के परिचायक हैं, जो मौलिकता, रागात्मकता और भक्ति-भावना के विकास की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं।

विषय के अतिरिक्त कवि ने भाषा, छन्द, अलंकार इत्यादि के क्षेत्र में भी मौलिक उद्भावना की है। यद्यपि सूर से पहले भी पदों का व्यवहार होता था लेकिन उत्तर-पश्चिम भारत में सगुणोपासना के लिए पदों का प्रयोग सर्वप्रथम सूरदास जी ने ही किया है। डॉ० रामरतन भटनागर के शब्दों में—"पश्चिम भारत में इससे पहले के जो पद मिलते हैं वे निर्गुण संतों के उपासना भाव को व्यक्त करते हैं। संभव है कि लोकगीतों के रूप में इस तनह के गीत सगुणोपासना के लिए भी प्रचलित हों। ब्रज-भूमि में श्रीकृष्ण के लीला के पदों का लोकगीतों के

रूप में प्रचलित होना असंभव नहीं, परन्तु साहित्य और रस से पूर्ण कृष्णलीला के पद लिखने वालों में सूरदास का स्थान ही सर्वप्रथम है। जो साहित्य और कला के आन्तरिक रस को पहचानते हैं वे जानते होंगे कि इतनी मौलिकता भी बहुत अधिक है। सूरदास ने अपने प्रान्त के प्रचलित पदों को ही अपनाकर उन्हें साहित्य, काव्य, रस और कला से इतना परिपूर्ण कर दिया, यह कुछ कम प्रतिभा की बात नहीं।"[15] इतना ही नहीं उन्होंने साहित्यिक दृष्टि से अविकसित ब्रजभाषा को अपनी काव्य-भाषा बनाकर उसे प्रतिष्ठित भी किया। उन्होंने ब्रजभाषा को माधुर्य और ध्वनि से पुष्ट करने के साथ ही उसके शब्दकोश को भी बढ़ाया। देशी और विदेशी शब्दों के प्रयोग के साथ ही सूर ने नवीन शब्दों को भी अपनी भाषा के साँचे में ढालकर ग्रहण किया है। कुछ विदेशी शब्दों को तो उन्होंने नामधातु बनाकर प्रयुक्त किया है। उनकी यह भाषा-विषयक उदारता ब्रजभाषा को समृद्धिशालिनी और प्रभावशालिनी बनाने में बड़ी सहायक सिद्ध हुई है। भाषा की ही तरह छन्दों के क्षेत्र में भी कवि ने मौलिक उद्भावना की है। उन्होंने भावों के अनुसार एक पद में अनेक छंदों की पंक्तियों को सजा दिया है। इस प्रकार उन्होंने अपभ्रंशकालीन मिश्रण परम्परा को एक नये ढंग से इन पदों में आगे बढ़ाया। दो या दो से अधिक छन्दों को मिलाकर बनाये गए पदों की संख्या सूरसागर में तिरसठ तक है।

सूरदास काव्य और संगीत दोनों में पारंगत थे। इसलिए एक ओर जहाँ भावानुकूल छंदों का चयन कर उन्होंने अपने पदों को काव्य-सौन्दर्य से मंडित किया है, वहीं दूसरी ओर भाव और वातावरण के अनुकूल रागों में गाकर उन्हें सांगीतिक मनोहारिता भी प्रदान की है। शास्त्रीय संगीत के पूर्ण ज्ञाता होने के कारण उन्होंने राग-सिद्धान्त का पूर्णतः पालन किया है। उनके काव्य में काव्य और संगीत का योग विलक्षण है।

रसों की दृष्टि से भी सूर को मौलिक कहा जा सकता है। इस क्षेत्र में उनकी मौलिकता यह है कि उन्होंने तीन ऐसे रसों की सृष्टि की है, जिनका प्रयोग साहित्य में पहले नहीं हुआ था अथवा जिनका कोई रूप उस समय तक स्थिर न हो सका था। ये तीन रस हैं—वात्सल्य, मधुर और भक्ति।

वात्सल्य रस की सृष्टि सूरदास ने ही सबसे पहले की। उनसे पहले यह प्रसंग काव्य का विषय नहीं बनाया गया था। इसीलिए जब अपने काव्य में उन्होंने कृष्ण का बाल चरित सम्पूर्ण रूप से प्रकाशित किया तब हिन्दी साहित्य में वात्सल्य नामक इस नये रस की प्रतिष्ठा हुई। वात्सल्य के दो पक्ष होते हैं—संयोग और वियोग। सूरदास ने यद्यपि वात्सल्य के दोनों अंगों का प्रकाशन किया है परन्तु उन्होंने संयोग वात्सल्य का ही अधिक चित्रण किया है। उन्होने संयोग वात्सल्य के इस चित्रण को स्वभावोक्ति अलंकार द्वारा पुष्ट भी किया है।

उनका बाल मनोविज्ञान का ज्ञान उन्हें वात्सल्य रस की सृष्टि में सहायता देता है। वस्तुत: बाल मनोविज्ञान के साथ वात्सल्य रस का सामंजस्य बिठाना सूरदास की मौलिकता का सबसे सुन्दर उदाहरण है।

मधुर रस से तात्पर्य श्रृंगार के उस रूप से है जो राधाकृष्ण के प्रेम में प्रस्फुटित होता है। काव्यशास्त्र की दृष्टि से इसे श्रृंगार रस ही माना गया है। परन्तु भक्त के लिए भगवान की श्रृंगार-लीला वास्तव में श्रृंगार नहीं वल्कि सहज और मधुर साधना है। भक्त भगवान के साथ सख्य भाव से रहता है और भगवान की यह लीला उस रस की सृष्टि करती है, जिसका कोई नाम न होने के कारण हम मधुर रस कहते हैं। इस रस की सृष्टि का श्रेय जयदेव और विद्यापति को है। लेकिन हिन्दी साहित्य में इस रस की सृष्टि सूरदास ने ही की।

उनके विनय के पदों में भक्तिरस का सृजन हुआ है। डॉ० रामरतन भटनागर के अनुसार--'सूरदास से पहले के सगुण भक्तों में भी भक्तिरस के दर्शन होते हैं। परन्तु सूरदास की भक्ति भावना अत्यन्त सजीव है और उनका आत्म-निवेदन अत्यन्त तीव्र हो गया है। इसलिए उनका भक्ति रस भी अत्यन्त परिपक्व रूप से हमारे सामने आता है।''[16]

इसके अतिरिक्त पात्रों की दृष्टि से भी सूर की कल्पना कुछ अनोखी ही है। नन्द, यशोदा, कृष्ण, राधा, उद्धव और गोपियाँ इन सबकी कल्पना में सूरदास की प्रतिभा ने अनेक स्थानों पर मौलिकता दिखाई है। वे पात्र के चरित्र की अनेक बार पुनरावृत्ति भी करते हैं। ऐसा करने का उनका उद्देश्य हमारे मानस-पटल पर उस चित्र को दृढ़ता के साथ अंकित कर देना है। सूर की इस सहृदयता ने ही चरित्रों को इतना प्रभावशाली बना दिया कि आगे की शताब्दियों में भी साहित्य पर इन्हीं चरित्रों का आधिपत्य रहा।

सूर की सबसे प्रमुख विशेषता यह है कि उन्होंने अलौकिक विषय को भी लौकिक बना दिया है। बुद्धि और हृदय की साधारण-से-साधारण साधना वाला व्यक्ति भी उससे पूर्ण आनन्द उठा सकता है। माँ यशोदा, बाबा नन्द, पुत्र कृष्ण, चतुर गोपिकाएँ इत्यादि सभी मानवीय धरातल पर ही प्रतिष्ठित हैं। चरित्रों की इसी सामान्यता के कारण ही सूर का साहित्य प्रत्येक पाठक तक आसानी से पहुँच जाता है।

कुछ विद्वानों ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि सूरदास की लीला पर चंडीदास और विद्यापति का प्रभाव है। किसी सीमा तक इसे स्वीकार भी किया जा सकता है। लेकिन विशेषता यह है कि सूर ने कृष्ण-चरित्र के उन स्थलों का चित्रण अधिक किया है, जिन पर चंडीदास और विद्यापति ने ध्यान ही नहीं दिया। इस प्रकार जहाँ सूर, विद्यापति और चंडीदास की भूमि में उतरते हैं वहाँ उन्होंने अपने लिए मौलिक भूमि का निर्माण किया है। उन्होंने प्रेम को एक

व्यापक परिधि प्रदान की है। माता-पिता का प्रेम, सखा का प्रेम, सखियों का प्रेम, प्रेमी-प्रेमियों का प्रेम और दाम्पत्य प्रेम इतना व्यापक क्षेत्र उपस्थित करते हैं कि हमें आश्चर्य होता है। सूर का सम्बन्ध अपने इष्टदेव से भक्ति का सम्बन्ध है मोह का नहीं। उनकी सख्य भक्ति ने शृंगार के क्षेत्र में उन्हें वह बल दिया है जो न चंडीदास को मिला और न विद्यापति को ही। चंडीदास में भाव की गम्भीरता है और विद्यापति में काव्य-कौशल की, परन्तु सूर में दोनों हैं।

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि सूरजी अपने काव्य-भूमि पर अनेक क्षेत्रों से प्रभावित होते हुए भी सर्वथा मौलिक हैं। उनकी यह मौलिकता ही उन्हें हिन्दी ही क्या अपितु विश्व साहित्य का अनूठा कवि सिद्ध करती है।

सन्दर्भ

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास—रामचन्द्र शुक्ल, पृ० 165।
2. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय—डा० दीनदयालु गुप्त, पृ० 26।
3. सूर की भाषा—डा० प्रेमनारायण टंडन।
4. वही।
5. सूरसौरभ—डा० मुंशीराम शर्मा, पृ० 396।
6. सूरसागर, दशमस्कन्ध, पद 4222।
7. सूर-सौरभ—डा० मुंशीराम शर्मा, पृ० 383।
8. सूरदास—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ० 200।
9. सूरसागर, दशमस्कन्ध, पद 80।
10. सूर साहित्य की भूमिका—डा० रामरतन भटनागर, पृ० 276।
11. हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास (पंचम भाग), सम्पादक—डा० दीन दयालु गुप्त, पृ० 71।
12. सूरपंचरत्न—लाला भगवानदीन 'दीन'।
13. सूर और उनका साहित्य—डा० हरवंशलाल शर्मा, पृ० 293।
14. वही, पृ० 228।
15. सूरसाहित्य की भूमिका—डॉ० रामरतन भटनागर, पृ० 354।
16. वही, पृ० 356।

6

सूर द्वारा वर्णित सामाजिक परम्पराएँ एवं रीति-रिवाज

विभिन्न संस्कार

संस्कारों से आशय शास्त्रविहित उन मांगलिक कृत्यों से है जो मानव अपने सर्वांगीण विकास के लिए करता है। इनका अनुष्ठान जन्म के पूर्व से लेकर शरीरान्त तक होता रहता है। हमें सामाजिक व्यवस्था तथा संस्कृति की झलक इन संस्कारों के माध्यम से ही मिलती है। यह सर्चलाइट के समान दूर-दूर तक तत्कालीन जीवन पर प्रकाश डालते हैं। डा० उदयभानु सिंह के अनुसार—"संस्कार जीव की आध्यात्मिक शिक्षा के क्रमिक सोपान हैं। उसकी उच्चतर बौद्धिक और आत्मिक संस्कृति के प्रशिक्षक हैं। उसके मार्गदर्शक और व्यवस्थित जीवन के अनुशासक हैं। ये जीव के वातावरण के सुधारक हैं, जिससे वह अपने चित्त को शान्त और समाहित कर सके।"[1]

डा० राजबली पाण्डेय के अनुसार—"संस्कार से तात्पर्य शुद्धि की धार्मिक क्रियाओं तथा व्यक्ति के दैहिक, मानसिक और बौद्धिक परिष्कार के लिए किए जाने वाले अनुष्ठानों से है, जिनसे वह समाज का पूर्ण विकसित सदस्य हो सके।"[2]

जो भी हो, लेकिन इतना तो निश्चित है कि संस्कारों का उद्देश्य मानव का बहुमुखी विकास करना है और इसीलिए इनका अनुष्ठान भी किया जाता है।

संस्कारों की संख्या के विषय में पर्याप्त मतभेद है। आश्वलायन गृहसूत्र में इनकी संख्या ग्यारह, पारस्कर, बोधायन तथा वाराह आदि गृह्यसूत्रों में तेरह, वैखानस गृह्यसूत्र में अठारह तथा मनुस्मृति में तेरह बनायी गई है। लेकिन

लोकप्रिय और सर्वप्रचलित संस्कार सोलह हैं जो इस प्रकार हैं—गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूड़ाकर्म, कर्णवेध, उपनयन, वेदारम्भ, समावर्तन, विवाह, वानप्रस्थ, संन्यास तथा अन्त्येष्टि।

उक्त संस्कारों में प्रथम तीन संस्कारों का वर्णन सूर ने नहीं किया है। शायद वसुदेव और देवकी का जेल में रहना ही इसका कारण रहा होगा। फिर भी एक पद में उन्होंने देवकी की गर्भावस्था का उल्लेख किया है।[3] इसी प्रकार उन्होंने यशोदा की भी गर्भावस्था का वर्णन किया है, जिसमें वे आठ मास चंदन तथा नवें मास कपूर पीती हैं, तब कहीं जाकर दसवें मास में कृष्ण का जन्म होता है।[4]

बालक के जन्म होने पर जातकर्म संस्कार मनाया जाता है। इसमें देव-पितरों का पूजन, नान्दी उपासना, ब्राह्मणों द्वारा स्वस्तिवाचन तथा दानादि अनेक महत्वपूर्ण कृत्य किये जाते हैं।

कृष्ण जन्म हुआ, लेकिन ऐसे नहीं। न जाने कितनी मिन्नतों और मनौतियों के बाद। शायद देव-पितरों के प्रसन्न होने तथा जप-तप और तीर्थव्रत करने से ही कृष्ण का जन्म हुआ है।[5] इसीलिए यशोदा फूली नहीं समातीं और वह नन्द को 'सुतमुख' देखने के लिए बुलाती हैं।[6] नन्द जी आते हैं। वे ब्राह्मणों को बुलाते हैं। ब्राह्मण आकर वेद-पाठ करते हैं तथा देव-पितर पूजन कराकर स्वस्तिवाचन पढ़-कर आशीर्वाद देते हैं।[7] कुल पुरोहित आकर बालक की जन्मकुण्डली बनाते हैं।[8] नन्द जी स्नान कर, कुश हाथ में लेकर नांदीमुखश्राद्ध और पितरों का पूजन करते हैं। तत्पश्चात् चंदनादि घिसकर विप्रों का तिलक करते हैं और उनको तथा गुरु-जनों को वस्त्रादि पहनाकर उनके चरण छूते हैं।[9]

तदनन्तर दान का क्रम आरम्भ होता है। सर्वप्रथम ब्राह्मणों को बहुत-सी अन्य सामग्री के साथ दो लाख गायें दान में दी जाती हैं।[10] तत्पश्चात् इष्टमित्रों तथा बंधु-बांधवों फो बुलाकर उन्हें चन्दन, कस्तूरी आदि का तिलक लगाते हैं और अपनी प्रीति प्रकट करते हैं।[11] नन्द जी पुरजनों तथा परिजनों सभी को यथायोग्य गाय, वस्त्र, आभूषण, नग-रत्न, पुष्पमाल, चन्दन, दूब रोचना आदि देकर उनका सम्मान करते हैं।[12] उन्होंने इतना दान दिया है कि अनेक याचक तो मार्ग में जाते हुए किसी राजा के समान प्रतीत होते हैं।[13]

इस अवसर पर स्त्रियाँ गाली भी गाती हैं।[14] वे प्रसूतिगृह के द्वार पर सींक से स्वस्तिक चिह्न (साथिया) भी बनाती हैं।[15] दाढ़ी-दाढ़िनि भी मनचाहा नेग पाकर बकसीस गाते हैं।[16] गोपजन भी इस अवसर पर नाना प्रकार के वस्त्रा-भूषण और उपहार लेकर दूध-दही आगे करके लाते हैं।[17]

बालक के जन्म के छठें दिन 'छठी' का संस्कार मनाया जाता है। सभी

स्त्रियाँ एकत्र होकर सोहर गाती हैं और 'काजर रोरी' के छठी का 'चार' करती हैं।[18] नाइन यशोदा के पैरों में महावर लगाती है और पुरस्कार में लाख-टका का झुमका लेती है। सब स्त्रियाँ सज-धजकर आती हैं और 'सोहिलो' गाती हैं तथा नन्दपुत्र के तिलक करती हैं।[19] इस अवसर पर 'चहर' नामक एक विशेष गीत भी गाया जाता है, जिसमें बच्चे की माँ को गालियाँ दी जाती हैं।[20] तत्पश्चात् गर्गमुनि शिशु कृष्ण के उच्चग्रहों की स्थिति तथा प्रभाव की व्याख्या करके उनके उज्ज्वल भविष्य की सूचना देते हैं।[21]

बालक के जन्म के दसवें या बारहवें दिन उसका नामकरण संस्कार मनाया जाता है। इसको सम्पन्न करने से पूर्व शुभ मुहूर्त निकलवाया जाता है। नामकरण के दिन कुल-पुरोहित आकर लग्न शोधता है तथा ज्योतिष गिनता है और तत्पश्चात् उस गणना के आधार पर बालक का नामकरण किया जाता है। नामकरण के पश्चात् ब्राह्मणों तथा याचकों को दान दिया जाता है और सम्बन्धियों को आमन्त्रित कर प्रीति-भोज दिया जाता है। कृष्ण और बलराम के नामकरण के अवसर पर सूर ने उपर्युक्त संस्कार मनाने की बात कही है।[22]

नामकरण के पश्चात् शिशु का 'निष्क्रमण संस्कार' होता है लेकिन सूर ने इसका वर्णन नहीं किया है।

शिशु जब छह महीने का हो जाता है तब उसको पहली बार अन्न चखाने के लिए 'अन्नप्राशन' संस्कार मनाया जाता है। कृष्ण के छह माह के होने की सूचना पाकर नन्द जी उनका अन्नप्राशन संस्कार मनाने की बात सोचते हैं।[23] ब्राह्मण को बुलवाकर वे मुहूर्त निकलवाते हैं। तिथि निश्चित हो जाने पर यशोदा सखियों को आमन्त्रित करती हैं। सखियाँ आती हैं और मंगलगीत गाती हैं।[24] 'अन्न-प्राशन' के दिन विविध प्रकार के व्यंजन बनाए जाते हैं और अपनी जाति के लोगों की ज्योनार होती है। माता यशोदा कृष्ण को उबटन लगाकर स्नान करवाती हैं तथा स्वच्छ वस्त्र पहनाती हैं। नंद अपनी मित्र-मण्डली के बीच कृष्ण को गोद में लेकर बैठते हैं। खीर से भरा सोने का थाल रखा जाता है, जिसमें घृत और मधु डाला रहता है। वही बालक को चटाया जाता है। षट्रस व्यंजनों से उस दिन कृष्ण अपना मुख जूठा करते हैं।[25] इसके बाद ज्योनार होती है।

कृष्ण जब एक वर्ष के हो जाते हैं तब उनकी 'वर्षगाँठ' मनायी जाती है। स्त्रियों का मंगलगान करना, आँगन को चन्दन से लीपना, मोतियों से चौक पूरना, तूर बजना, विप्र द्वारा शोधी हुई शुभ घड़ी में अक्षत, दुर्वादल गाँठ में बाँधना आदि इस अवसर पर होने वाले विभिन्न आचार हैं।[26] यशोदा इस दिन बालक कृष्ण को उबटन लगाकर स्नान कराती हैं तथा नवीन वस्त्र धारण कराती हैं।[27] प्रत्येक जन्मदिन पर डोरे में एक गाँठ बाँध दी जाती थी। प्रत्येक गाँठ आयु के एक वर्ष की प्रतीक मानी जाती थी।[28]

बालक के तीसरे या पाँचवें वर्ष में उसका 'कर्णवेध' संस्कार होता है, जिसमें उसके कान छेदे जाने की प्रथा है। इस संस्कार का मूल प्रयोजन कानों में अलंकार पहनना मात्र ही है। कृष्ण का कनछेदन है। कष्ट की पूर्व आशंका से माँ यशोदा के हृदय में धुकधुकी उत्पन्न होने लगती है। बालक को कष्ट न हो और उसका ध्यान बँटा रहे इस उद्देश्य से उसे गुड़ की भेली और सोहारी पकड़ा दी जाती है।[29] कान पर सींक से रोचन का निशान बनाकर कर्णवेध किया जाता है और कानों में स्वर्ण के 'ढ़ुँदुर' पहना दिये जाते हैं। माँ यशोदा की आँखों में आँसू आ जाते हैं। बालक कृष्ण की आँखों में भी आँसू देखकर वे नाई को धमकाती हैं। नन्द हल्की-सी मुस्कान लेकर यह दृश्य देखते हैं। ब्रज वधुएँ मंगलगीत गाने लगती हैं।[30]

कृष्ण और बलराम का उपनयन संस्कार भी होता है लेकिन उचित समय पर नहीं। इस सम्बन्ध में डा० मुंशीराम शर्मा का मत है—"सम्भवत: आयु में छोटे होने के कारण कृष्ण और बलराम को यज्ञोपवीत संस्कार गोकुल में नहीं हो सका। यह भी सम्भव है कि आभीर क्षत्रियों का महत्व मुगलकाल में क्षीण हो गया हो और उनके अन्तर्गत यज्ञोपवीत प्रथा का ही लोप हो गया हो। अत: कृष्ण जब मथुरा पहुँचे तब इस विस्मृत संस्कार को भी पूरा किया गया।"[31] इस अवसर पर विभिन्न कर्मकाण्डीय अनुष्ठान पूरे किये जाते हैं। वसुदेव जी भी कृष्ण और बलराम का जनेऊ करवाते हैं। गर्ग जी आकर दोनों भाइयों को गायत्री मन्त्र का उपदेश देते हैं। इस अवसर पर विविध अलंकरणों से अलंकृत गाएँ दान में दी जाती हैं। स्त्रियाँ उल्लासपूर्वक मंगलगान करती हैं।[32] मथुरा में सर्वत्र मंगल बधाई बजती है तथा देश-विदेश से टीके भी आते हैं।[33] इस अवसर पर भिक्षा माँगने की भी प्रथा है। सूर ने 'सारावली' में इस ओर भी संकेत किया है।[34]

उपनयन के दूसरे ही दिन 'वेदारम्भ' संस्कार होता है, जिसमें बालक शिक्षा प्राप्त करने हेतु आचार्य के पास गुरुकुल जाता है। सूर ने 'सारावली' में कृष्ण के यज्ञोपवीत के बाद उन्हें वेदारम्भ संस्कार के लिए मथुरा से अवन्तीपुर भेजे जाने का उल्लेख किया है।[35]

षोडश संस्कारों में सबसे महत्वपूर्ण संस्कार है विवाह। यह गृहस्थाश्रम की भित्ति एवं पारिवारिक ढाँचे की आधारशिला माना जाता है। विवाह ही वंशानुक्रम की रक्षा का साधन एवं मानवीय भावनाओं के विकास का केन्द्र है। मानवीय विधि में यह मानसिक और सांस्कृतिक चेतना का वाहक है। परिवार और विवाह की विभिन्न स्थितियाँ जीवन-विधि की विविधता की सूचक हैं और इन संगठनों के मूल में है उनकी सांस्कृतिक चेतना।

सूर ने विवाह संस्कार का विशद वर्णन किया है। उन्होंने सूरसागर के चतुर्थ

स्कन्ध में शिव-पार्वती के, नवम में हलधर-रेवती और राम-सीता के, दशमस्कन्ध पूर्वार्द्ध में वसुदेव-देवकी और राधा-कृष्ण के एवं दशमस्कन्ध उत्तरार्द्ध में रुक्मिणी, जाम्बवन्ती, सत्यभामा, पंचपटरानी, कालिंदी, मित्रविंदा, सत्या, भद्रा और लक्ष्मणा के साथ कृष्ण के विवाह के तथा प्रद्युम्न, अनिरुद्ध और उषा, साम्ब-लक्ष्मणा एवं अर्जुन-सुभद्रा के विवाहों का उल्लेख किया है ।

ये विवाह विविध प्रकार से होते हैं । जिनमें सीता का स्वयंवर में धनुष तोड़-कर, सत्या का सात बैल एक साथ नाथकर, रुक्मिणी तथा लक्ष्मणा का हरण करके विवाह हुआ है । शेष विवाह सामान्य रीति से हुए हैं ।

डा० मायारानी टंडन के अनुसार—"विवाह की रीतियों को दो वर्गों में बाँटा जा सकता है—प्रथम वर्ग में वरप्रेक्षण, वाग्दान, मंडप-करण, वधू-गृहा-गमन, मधुपर्क, समंजन, पाणिग्रहण, अग्नि-प्रदक्षिणा, गृह-प्रवेश आदि रीतियाँ आती हैं जिनको 'शास्त्रविहितकृत्य' कहा जा सकता है । द्वितीय वर्ग में वैवाहिक निमंत्रण, हल्दी-तेल चढ़ना, वर की सज्जा, कंकण-पूजन, देवी-पूजन, जुआ खेलना, कंकण-मोचन, गाली गाना, भूर या न्यौछावर बाँटना आदि बातें आती हैं, जिनको कुलाचार के अन्तर्गत समझना चाहिए ।"[36]

विवाह का बीजारोपण सगाई या मँगनी से होता है । इसे 'गोद भरना' भी कहते हैं । माँ यशोदा राधा की चोटी सँवारकर, नवीन वस्त्र, तिल, चाँवरी और मेवा से उसकी गोद भरती हैं ।[37] सगाई का प्रस्ताव लेकर ब्राह्मण जाता है ।[38]

विवाह के अवसर पर परिवार तथा समाज के लोगों को बारात में चलने के लिए निमन्त्रित किया जाता है । श्रीकृष्ण के विवाह में तो इन बरातियों की संख्या छप्पन कोटि तक हो गई है । श्रीकृष्ण के गान्धर्व विवाह में गोपियाँ मुरली द्वारा निमंत्रित की जाती हैं ।[39]

विवाह के अवसर पर कन्या के गृह में कदली के खम्भों से मण्डप भी बनाया जाता है, जिसे अनेक प्रकार के पुष्पों से अलंकृत करने की प्रथा है ।[40]

विवाह से पूर्व कन्या देवी-पूजन भी करती है । राधा-कृष्ण के गान्धर्व विवाह तथा रुक्मिणी-विवाह के अन्तर्गत 'गौरी-पूजन' की ओर संकेत किया गया है ।[41]

इसके बाद वर की सज्जा होती है, जिसमें वह मौर धारण करता है । रुक्मिणी-विवाह के अवसर पर कृष्ण मुकुट धारण करते हैं जो रत्नों से जुड़ा हुआ है । मुकुट के साथ सेहरा भी है ।[42] इस अवसर पर वे घोड़े पर चढ़ते हैं ।[43]

तत्पश्चात् विवाह हेतु बारात के साथ कन्या पक्ष वालों के घर जाते हैं । सूर ने महाराज दशरथ के बारात लेकर जनकपुर जाने का उल्लेख किया है ।[44]

वेदविधि के अनुसार पण्डित मन्त्रोच्चार करके विवाह सम्पन्न कराता है । श्रीकृष्ण-रुक्मिणी का विवाह[45] तथा राम-जानकी का विवाह इसी प्रकार सम्पन्न

होता है।[46] वेद-ध्वनि और मन्त्रोच्चार के बाद पाणिग्रहण होता है, जिसमें वर-वधू का हाथ पकड़कर आजन्म साथ देने का वचन देता है। सीता और राम के विवाह में इसका उल्लेख है।[47]

पाणिग्रहण के समय ही वर के दुपट्टे या पीताम्बर से वधू की साड़ी या चादर का छोर बाँधकर 'गठबन्धन' किया जाता है, जिसे विवाह के पश्चात् वर-वधू परस्पर खोलते हैं। सूरसागर में राम-जानकी और राधा-कृष्ण के कंकण खोलने का रोचक वर्णन है।[48]

विवाह के बाद वधू के यहाँ ही वर-वधू को द्यूत-क्रीड़ा करायी जाती है। जानकी तथा रुक्मिणी के विवाह प्रसंग में इसका उल्लेख है।[49]

विवाह के इन समस्त आचारों के बीच गालियाँ भी गाई जाती हैं।[50] विवाह के बाद वर-वधू के ऊपर से न्यौछावर उतारकर याचकों को दी जाती है। सूर ने न्यौछावरी में 'मुक्ति-मुक्ति' पाई है।[51]

विवाह के पश्चात् कन्या पितृगृह से विदा होती है। विवाह में अनेक प्रकार के दहेज भी मिलते हैं। सूर ने बसुदेव-देवकी के विवाह में कंस द्वारा दिए गए[52] तथा सत्यभामा के विवाह में उसके पिता सत्राजित् द्वारा दिए गए[53] दहेज का उल्लेख किया है। इसी प्रकार सत्या के पिता श्रीकृष्ण को तथा उषा के पिता अनिरुद्ध को भी पुत्री सहित बहुत-सा दहेज देते हैं।

वर नवविवाहिता वधू को लेकर अपने घर आता है। वहाँ बहन उसकी आरती उतारती है तथा माताएँ पानी उतारकर पीती हैं। यहाँ भी आनन्दोत्सव मनाया जाता है।[54]

संस्कारों में सबसे अन्तिम संस्कार है अन्त्येष्टि। कहा जाता है कि जिस व्यक्ति का यह संस्कार उचित रीति से हो जाता है, उसका परलोक सँवर जाता है। सूरसागर में वशिष्ठ द्वारा भरत से कहे गए वचन में इसका प्रमाण मिलता है।[55] शबरी, जटायु तथा दशरथ-मरण प्रसंगों में सूर ने इस अवसर पर होने वाले कृत्यों का विधिवत् उल्लेख किया है।[56]

इस प्रकार सूरदास जी ने जन्मकाल के पूर्व से लेकर मरणोपरांत होने वाले विविध संस्कारों का सर्वांगपूर्ण विवेचन प्रस्तुत किया है।

पर्वोत्सव और त्यौहार

पर्वों, उत्सवों और त्यौहारों का भारतीय जीवन में बड़ा महत्व रहा है। एक तरह से ये भारतीय समाज के मेरुदण्ड-स्वरूप हैं। समाज में जब-जब स्थिरता आयी है, जब-जब उसकी प्रगति अवरुद्ध हुई है, तब-तब पर्वों, उत्सवों और त्यौहारों ने उसको गतिशील बनाया है और भविष्य के प्रति आशा का नया संदेह दिया

है।

पर्व, उत्सव और मेले आदि लोक-संस्कृति के सबसे प्रमुख रूप हैं। इनमें लोक-संस्कृति की सामाजिकता अधिक स्फुट रूप में प्रकट होती है। सम्पूर्ण समाज एक साथ ही एक समय में इनको सम्पन्न करता है अतः इनसे जीवन में सामाजिकता की वृद्धि भी होती है।

भारतीय संस्कृति में पर्वोत्सवों की अधिकता है। डा० मायारानी टंडन के शब्दों में—"सामाजिक जीवन में पर्वोत्सवों की अधिकता से सूचित होता है कि मनुष्य इसमें भाग लेकर एक तरफ तो जहाँ जीवन की व्यस्तता-जनित क्लान्ति के अनुभव से छूटता है, वहीं दूसरी तरफ इनकी योजना से सहकारिता की भावना में वृद्धि करता है। पर्वोत्सवों के अवसर पर अच्छा खाने-पीने, पहनने-ओढ़ने, सजने-सजाने का भी चलन सदा से रहा है। इससे भारतीय समाज की समृद्धि का परिचय तो मिलता ही है, अर्जित और संचित धन-वैभव के सार्वजनिक प्रदर्शन द्वारा दूसरों को उनकी प्राप्ति के लिए प्रयत्न करने की प्रेरणा भी देता है।"[57]

महाकवि सूर ने मध्यकालीन जड़ता को तोड़ने के लिए पर्वोत्सवों का अमर गान किया। पर्वों में उन्होंने एकादशीव्रत, ज्येष्ठाभिषेक, रामनवमी, नृसिंह तथा वामन जयंतियों का उल्लेख किया है।

'एकादशीव्रत' में फाल्गुन और ज्येष्ठ मास की एकादशी का विशेष महत्व है। नन्द जी एकादशी का निराहार व्रत रखते हैं। रात्रि-जागरण के पश्चात् प्रहर-भर रात्रि रहने पर वे यमुना स्नान करने जाते हैं। वहाँ उन्हें वरुण के दूत पकड़ ले जाते हैं, लेकिन श्रीकृष्ण जी वरुण से नंद को छुड़ा लाते हैं।[58] यशोदा इस अवसर पर ब्राह्मणों को दान दिलवाती हैं, बाजे बजवाती हैं, गान होता है तथा सभी को मिठाई और पान बाँटे जाते हैं।[59]

'ज्येष्ठाभिषेक' को 'गंगादशहरा' भी कहते हैं। इस दिन नदी-स्नान, व्रत और उपासना करने तथा दान देने की प्रथा है।

'रामनवमी' का पर्व राम के जन्मोत्सव पर मनाया जाता है। उस दिन बधाई बजती है, सखियाँ मंगलगान गाती हैं, महाराज दशरथ के प्रांगण में वेद-ध्वनि सुनाई पड़ती है तथा वे अपना सर्वस्व दान कर देते हैं।[60]

सूर ने अप्रत्यक्ष रूप से नृसिंह तथा वामन जयंतियों का भी उल्लेख किया है।[61]

महाकवि सूर ने उत्सवों का भी वर्णन किया है। ये दो प्रकार के हैं—नित्य तथा अवतारी लीलाओं के उत्सव और ऋतुओं के उत्सव।

नित्य तथा अवतारी लीलाओं के उत्सवों में रथयात्रा, जन्माष्टमी, राधाष्टमी, गोपाष्टमी, पवित्रा, अक्षयतृतीया, संवत्सर, गनगौर, सावन तीज, सांझी, नवरात्रि

देवी पूजन, नागलीला तथा रास प्रमुख हैं।

प्रभुदयाल मीतल एवं द्वारिकादास पारीख का मत है कि—" 'रथयात्रा' उत्सव का प्रचलन सम्प्रदाय में गोस्वामी विट्ठलनाथ जी ने किया था।"[62] इस उत्सव का सम्बन्ध कृष्ण के द्वारिका लीलाभाव से है। सूरदास जी ने अपने एक पद में इस उत्सव का वर्णन किया है, जिसमें उन्होंने कृष्ण के रथ को सोने के कलश, ध्वजापताका, चंवर आदि से युक्त बताया है।[63]

'कृष्णजन्म' का उत्सव, भाद्रपद कृष्णपक्ष की अष्टमी को पूरे भारतवर्ष में मनाया जाता है। इस दिन लोग व्रत रहते हैं। उत्सव मनाते समय भगवान कृष्ण की मूर्ति को झूला झुलाया जाता है। सूर ने अँधेरी रात में कृष्ण का जन्म होते ही उनके गोकुल पहुँचाये जाने की बात बड़े विस्तार से वर्णित की है।[64] इस उत्सव की विस्तृत चर्चा जन्म-संस्कार के अन्तर्गत हो चुकी है।

भाद्रपद मास के शुक्लपक्ष की अष्टमी को 'राधाष्टमी' महोत्सव मनाया जाता है। सूर ने इसका भी वर्णन किया है।[65]

कार्तिक सुदी अष्टमी को 'गोपाष्टमी' का उत्सव मनाया जाता है। यह श्रीकृष्ण के प्रथम गोचारण दिवस के उपलक्ष्य में मनाया जाता है। सूर ने इसको बृहद् रूप में वर्णित किया है।[66]

'पवित्रा' नित्यलीला तथा वल्लभ अवतार का उत्सव है। प्रभुदयाल मीतल एवं द्वारिकादास पारीख के अनुसार—"श्रावण शुक्ल ग्यारह की अर्द्धरात्रि को साक्षात् पुरुषोत्तम ने प्रकट होकर श्री गोकुल के ठकुरानी गोविंद घाट पर वल्लभाचार्य जी को ब्रह्म सम्बन्ध का उपदेश दिया था। तब आचार्य जी ने नित्यलीला के सम्बन्ध में उन पुरुषोत्तम को 'पवित्रा' धराया था।" पवित्रा के दिन सूर के कृष्ण केसर-कुंकुम के रंग का बन्ना धारण करते हैं।[67]

'अक्षय तृतीया' का उत्सव वैशाख मास के शुक्लपक्ष की तृतीया को मनाया जाता है। सूर ने चंदन, अरगजा इत्यादि सुगंधित द्रव्यों के उपयोग की बात इस अवसर पर की है।[68]

चैत्रमास के शुक्ल पक्ष की तृतीया को 'गनगौरोत्सव' होता है। इस दिन प्रातःकाल के समय छोटी-छोटी लड़कियाँ दूब और पुष्पों द्वारा गनगौर की पूजा करती हैं। सूर ने अपने एक पद में ब्रजनारियों द्वारा गौरीपति की आराधना करने का उल्लेख किया है।[69]

'सावन तीज' श्रावण मास के शुक्लपक्ष की तृतीया को मनाया जाने वाला स्त्रियों का प्रमुख त्यौहार है। इस दिन वे गाती-बजाती हैं तथा हिंडोरा झूलती हैं। सूरदास जी ने नंदरानी के सावन तीज खेलने तथा गोपियों के हिंडोरा झूलने का वर्णन किया है।[70]

'साँझी' नित्यलीला का उत्सव है। ब्रज में यह लड़कियों का खेल और पूजन

का त्यौहार है। सूर ने इस उत्सव का सजीव वर्णन किया है, जिसमें सखियों के साथ राधा साँझी पूजा के लिए पुष्प बीनती हैं और सखीवेश में मोहन को साँझी पूजने के उद्देश्य से घर ले जाती हैं।[71]

'नवरात्रि देवी पूजा' अवतार लीला का उत्सव है जो आश्विन शुक्ल पक्ष प्रतिपदा से नवमी तक मनाया जाता है। इसमें महिषासुरमर्दिनी देवी दुर्गा की पूजा की जाती है। सूर ने कन्याओं के द्वारा देवी का व्रत लेने, उसे पूजने एवं उनकी 'आस' पूरी होने का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है।[72]

'नागलीला' कृष्ण की नित्य और अवतार लीला का उत्सव है। सूर ने इस उत्सव के रूप में एक स्थान पर कालिय दमन लीला के उपरान्त कृष्ण का ब्रज-वासियों के साथ मिलकर यमुनातट पर आनन्द मनाने का उल्लेख किया है।[73]

'रास' अवतार लीला का उत्सव है जो शरद ऋतु की पूर्णिमा को मनाया जाता है। सूरसागर का यह सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रसंग है। इसमें कृष्ण सोलह हजार गोपिकाओं के साथ शरद पूर्णिमा की रात्रि में नृत्य करते हैं।[74]

इन उत्सवों के अतिरिक्त दावानल और केशी दानव का उत्सव भी मनाया जाता है।

ऋतुओं के उत्सवों में डोल, फूलमंडली, हिंडोरा तथा देव प्रबोधिनी आदि प्रमुख हैं।

'डोल' वसंतऋतु का उत्सव है। यह फाल्गुन मास के शुक्ल पक्ष में मनाया जाता है। इस उत्सव में गोपियाँ कृष्ण को झूला झुलाती हैं। कृष्ण मुरली बजाते हैं तथा गोपियाँ गीत गाती हैं।[75]

'हिंडोरा उत्सव' श्रावण कृष्ण पक्ष प्रतिपदा से शुरू हो जाता है। इसमें लोग हिंडोरा झूलते हैं। सूर के राधाकृष्ण हिंडोरा झूल रहे हैं और गोपियाँ उन्हें झोटे दे-देकर झुला रही हैं। राधा लम्बे-लम्बे झोटों से घबड़ा जाती हैं और सखियों से धीरे-धीरे झुलाने की विनती कर रही हैं। कृष्ण प्रसन्न हैं और वह गोपियों के साथ मिलकर गान कर रहे हैं।[76]

महाकवि सूर ने पर्वो और उत्सवों की तरह लोक-त्यौहारों का भी वर्णन किया है। लोक-त्यौहारों में रक्षाबंधन, दशमी, धनतेरस, रूप चतुदर्शी, दीपावली, अन्नकूट या गोवर्धनपूजा, भइयादूज, नागपंचमी तथा होली प्रमुख हैं।

'रक्षाबन्धन' का त्यौहार श्रावण शुक्ल पूर्णिमा को मनाया जाता है। यह त्यौहार मुख्य रूप से ब्राह्मणों का है। प्राचीनकाल में राजा जब युद्ध करने जाता था तब पुरोहित उसके कल्याणार्थ उसकी कलाई में रक्षा बाँधते थे। मध्यकाल में यवनों के अत्याचारों से आक्रान्त बहनों ने भी भाइयों के हाथों में राखी बाँधना शुरू कर दिया। रक्षाबन्धन के दिन ब्राह्मण वर्ग अपने यजमानों के राखी बाँधता है तथा आशीर्वाद देता है। सूर के कृष्ण भी ब्राह्मणों से राखी बँधवाते हैं और

उन्हें बहुत-सी दक्षिणा देते हैं।[77]

'दीपावली' का त्यौहार कार्तिक कृष्णपक्ष की अमावस्या को मनाया जाता है। वर्षा ऋतु के अनन्तर अन्न के घर में आ जाने पर समाज का उल्लास दीपावली के रूप में गुणात्मक हो उठता है। सूर ने दीपावली का वर्णन करते हुए दीपकों की उस झिलमिल पंक्ति का उल्लेख किया है, जिसका प्रकाश करोड़ों सूर्य-चन्द्रों से भी अधिक है। गोकुल में दीपों की नहीं बल्कि मणियों की मालाएँ लटक रही हैं और गजमोतियों तथा प्रवालों से चौक पुरवाये गये हैं।[78]

दीपावली के दूसरे दिन 'अन्नकूट' मनाये जाने की प्रथा है। दीपावली मनाने के 'पाँचक' दिन पहले ही सुरपति की पूजा का समय होने पर अन्नकूट का आयोजन किया जाने लगता है। सूर की यशोदा अन्नकूट के अवसर पर इन्द्र से कृष्ण को अमर कर देने का वरदान माँगती हैं।[79]

सूर ने श्रावण मास के शुक्ल पक्ष की पंचमी को 'नागपंचमी' का त्यौहार मनाये जाने का उल्लेख किया है। इस अवसर पर द्वार पर नाग बनाये जाते हैं और उनकी पूजा की जाती है। सूर के कृष्ण द्वार पर चित्रित नागों को देखकर डरने भी लगते हैं।[80]

ब्रज में मनाये जाने वाले त्यौहारों में होली का सर्वाधिक महत्व है। यह वसंत और शस्य दोनों के उपलक्ष्य में फाल्गुन शुक्ल पूर्णिमा को मनायी जाती है। होली उत्साह और उमंग का त्यौहार है। इन दिनों नई फसल के हो जाने पर कृषकों का आनन्द चौगुना हो जाता है और इस अवसर पर वे ढोल, ढप, झाँझ, मृदंग और करताल की ध्वनि पर झूमकर गा उठते हैं।

सूर ने इस त्यौहार का विस्तृत वर्णन किया है। इस सम्बन्ध में उनके लगभग 70 पद मिलते हैं।

सूर की राधा नीली साड़ी और लाल कंचुकी धारण कर अपनी सखियों के साथ मुख में पान, भाल पर बिंदी और सुगन्धित रंग-भरे कनक-कलश लेकर होली खेलने निकल आती हैं। अन्य गोपियाँ भी अपने-अपने घरों से निकलकर उसके साथ आ मिलती हैं। रास्ते में ही इन सबकी मुठभेड़ सखाओं सहित आते हुए कृष्ण से हो जाती है। फिर क्या था? दौड़-धूप और धर-पकड़ शुरू हो जाती है।[81]

कृष्ण पकड़ लिए जाते हैं। गोपियाँ उनकी माँग बनाकर वेणी गूँथती हैं और भाल पर बिंदी लगाकर वधू-वधू करती हुई गान करती हैं।[82]

ब्रज में इस अवसर पर स्त्रियाँ, पुरुषों की डंडों से खबर लेती हैं। सूर की गोपियाँ भी कृष्ण के सखाओं पर डंडों का प्रहार करती हैं।[83] राधा और उसकी सखियाँ कृष्ण को देखते ही बाँस निकाल लेती हैं और मार मच जाती है। पुरुष वर्ग इस मार से भयभीत होकर भागने लगता है। इसके उपरान्त बीच-बचाव करके फगुआ मँगा दिया जाता है।[84]

माँ यशोदा इस अवसर पर कृष्ण को मार खाने के भय से छिपा देती हैं लेकिन गोपियाँ यशोदा से उन्हें माँगने की इच्छा प्रकट करती हैं। वे इस अवसर पर कृष्ण को गाली भी गाती हैं। माँ यशोदा गोपियों के लिए फगुआ मँगाकर देती हैं।[85] कृष्ण के साथ बलराम की भी दुर्गति होती है अतः माँ यशोदा को अपने दोनों पुत्रों को बचाने के लिए बार-बार फगुआ मँगाकर बाँटना पड़ता है।[86]

होलिकोत्सव के दिन गोपियाँ लोक-लाज त्याग देती हैं। वे कृष्ण की भुजा अपने उर पर धरती हैं तथा उन्हें चुम्बन दान देती हैं।[87]

सूर के ग्वालबाल भी आपस में खूब होली खेलते हैं। वे कभी परस्पर मार कर भागते हैं, कभी नेत्रों में गुलाल डालते हैं तो कभी रंग ढरकाते हैं। इस अवसर पर वे मृदंग आदि वाद्य बजाते हुए खूब नाचते-कूदते हैं।[88]

होली के अवसर पर लोग गधे की सवारी भी करते हैं। सूर के ग्वालबाल गधों पर सवार होकर बारात सजाकर चलते हैं।[89] इस अवसर पर भाँग तथा मदिरा आदि का सेवन भी उन दिनों वर्जित नहीं माना जाता था। तभी तो सूर ने गोपियों के लिए पान-मिठाई के साथ 'कोटि कलस वारुनी' मँगाये जाने की बात कही है।[90]

इस प्रकार महाकवि सूर ने तत्कालीन प्रचलित सभी उत्सवों, पर्वों एवं त्यौहारों का सजीव चित्रण किया है। उनका यह चित्रण, मात्र चित्रण ही नहीं है वरन् इसमें तत्कालीन जन-जीवन तथा उसके हृदय में उठने वाले हर्ष एवं उत्साह की अभिव्यक्ति भी है।

लोकनृत्य एवं गीत

लोकगीत मानव हृदय के सच्चे उद्गार होते हैं। इनमें जीवन का निष्कपट अभिव्यंजन होता है। लोकगीतों के प्रत्येक शब्द में जीवन की यथार्थ चेतना घुली-मिली रहती है।

लोकगीत समुदाय की भावनाओं के सच्चे प्रतीक होते हैं। ये जीवन-मूल्यों पर प्रकाश डालते हैं। इनमें लोक-जीवन के सुख-दुःख, माधुर्य और करुणा तथा अश्रु और हास का भावपूर्ण चित्रण रहता है। केवल प्रेम और विरह ही नहीं, जीवन के अन्य पक्षों की भी मार्मिक अभिव्यक्ति इन गीतों में होती है।

देवेन्द्र सत्यार्थी के शब्दों में—"भारतवर्ष का कोई भी चित्र भारतीय प्रथाओं, रीति-रिवाजों और हमारे आन्तरिक जीवन की मनोवैज्ञानिक गहराई को इतने स्पष्ट तथा सशक्त ढंग से व्यक्त नहीं कर सकता जितना कि लोकगीत कर सकते हैं।"[91]

लोकगीतों में सामाजिक जीवन एवं कौटुम्बिक आदर्शों की सुन्दर व्याख्या

भी मिलती है। समाज को किस प्रकार का व्यवहार ग्राह्य है और किस प्रकार का अग्राह्य, इसकी भी मार्मिक विवेचना लोकगीतों में सहज हो जाती है।

डा० हरगुलाल के शब्दों में—"सूर ने अपने परमाराध्य के सहारे शैशव तथा यौवन की अन्यान्य क्रीड़ाओं एवं रंगरेलियों का अभिव्यंजन करने वाले अनेक पद ऐसे लिखे हैं जिनकी लय, तान, विषयवस्तु और शैली बहुत कुछ लोक-गीतों की सी है।"[92]

सूरदास जन-सामान्य के कवि थे अतः उनका लोकगीत लिखना स्वाभाविक ही था। यद्यपि उन्होंने अपने लोकगीतों पर शास्त्रीयता का आवरण डालने का प्रयास किया है फिर भी उसमें ग्राम-गीतों की सहजता और सरलता स्पष्ट झलकती है। सूर के लोकगीतों को निम्नलिखित वर्गों में विभाजित किया जा सकता है :

(1) संस्कारों के गीत
(2) उत्सवों, पर्वों और त्यौहारों के गीत
(3) ऋतुओं के गीत
(4) मनोरंजन के गीत
(5) विरह के गीत।

संस्कार-गीतों में जन्म, नामकरण, अन्नप्राशन, कर्णछेदन, यज्ञोपवीत, विवाह आदि से सम्बन्धित गीत आते हैं। सूर ने इन सभी का वर्णन किया है। पुत्रजन्म के अवसर पर गीतों की धूम मच जाती है। गीतों के साथ नृत्य भी होता है। सास चरुए रखती है और नेग पाकर सोहर गाने लगती है। लोग बधावा लाते हैं और बधावे के गीत गाये जाते हैं।[93]

दसवें दिन नामकरण संस्कार होता है। यद्यपि यह पौरोहित्य संस्कार है लेकिन गीतों की स्वरलहरी इस दिन भी वातावरण को आकर्षक बनाती है। 'जन्ति' के सोहरगीतों में सूर ने गर्भवती की नौ महीने की दशा का वर्णन किया है।[94] जन्म के गीतों में पालने के गीत का महत्वपूर्ण स्थान है। सूर ने यशोदा के माध्यम से इसका भी वर्णन किया है।[95]

छठवें महीने बालक का अन्नप्राशन संस्कार होता है। यशोदा इस अवसर पर सखियों को आमंत्रित करती हैं। सखियाँ महरि को गाली गाती हैं। नन्द स्वर्णथाल में खीर, घृत और मधु डालकर अपने हाथ से बालक का मुंह जूठा कराते हैं। इस समय भी स्त्रियाँ गीत गाती हैं।[96] कृष्ण की वर्षगाँठ आती है। इस अवसर पर यशोदा सखियों को बुलाकर मंगलगान कराती हैं।[97] कृष्ण के यज्ञोपवीत के समय भी स्त्रियाँ गीत गाती हैं और यशोदा प्रसन्न होकर 'न्यौछा-वर' करती हैं।[98]

राधा और कृष्ण के गांधर्व विवाह में भी गीत गाये जाते हैं। कृष्ण

मौर धारण करते हैं। बाजे बजते हैं और देवता बन्दीजन के रूप में कृष्ण के गुणों का गान करते हैं। मन्त्रोच्चार की ध्वनि के साथ गीतों की सुमधुर ध्वनि भी प्रसारित होने लगती है।[99] ज्यौनार के समय भी मनोरंजक गीत और गालियाँ गाई जाती हैं।[100] विवाह-प्रसंग में ही सूर ने एक ऐसे पद का उल्लेख किया है, जिसमें दुलहिन नानावेश धारण कर वर को देखने की अभिलाषा प्रकट करती है।[101]

इन गीतों के कारण ही विभिन्न संस्कारों में आकर्षण का अभाव नहीं आने पाता और उनमें नित्य-नूतनता बनी रहती है।

पर्वोत्सवों और त्यौहारों के गीतों में होली का गीत अपना विशेष महत्व रखता है। वसन्तोत्सव का उल्लास साकार रूप ग्रहण करके होली के रूप में फूट पड़ता है। यह गीत अधिकतर पुरुषों द्वारा गाया जाता है। ढोल, झप, झाँझ, मृदंग और करतारों की तुमुल ध्वनि के बीच गाने वालों की उठती-गिरती स्वर-लहरी मन को हठात् आकर्षित कर लेती है। यहाँ एक गीत के लौकिक सौन्दर्य की अभिव्यंजना द्रष्टव्य है :

> या गोकुल के चौहटें रंगभीजी ग्वालिनि।
> हरि संग खेलें फाग सलौनी री, रंगराँची ग्वालिनी।
> दुंदेभी बाजै गहगही रंगभीजी ग्वालिनि।
> नगर कुलाहल होइ नैन सलोनी री, रंगराँची ग्वालिनि।
> उमड़्यौ मानुष घोष यौं रंगभीजी ग्वालिनि।
> भरे परस्पर आनि नैन सलोने री, रंग राँची ग्वालिनि॥[102]

सूर ने कुछ गीत ऐसे भी लिखे हैं जिनमें एक पक्ष तथा एक मास की होली के प्रतिदिन का वर्णन है।[103]

वस्तुतः ये गीत ही पर्वोत्सवों और त्यौहारों को हर समय अभिनव रूप प्रदान करते हैं, जिससे इनका आकर्षण चिरन्तन बना रहता है।

ऋतुओं के गीतों में 'मल्हार' का प्रमुख स्थान है। यह एक प्रकार का सहगान है जो ब्रज-नारियों के कंठ से निःसृत होकर चतुर्दिक फैलता जाता है। वर्षा के प्रारम्भ होते ही मोर की कुहुक का हृदय में बस जाना, बगुलों की श्वेत पंक्ति का हार बनकर चित्त को खींचना, बार-बार बिजली का कौंधना, पपीहों का शोर, भूमि की हरियाली आदि उपादान उद्दीपक वातावरण की सृष्टि करके नारियों को झूलने और गीत गाने के लिए बाध्य कर देते हैं। पल में झूला आकाश से बातें करने लगता है और नारियों के कंठ से निःसृत गीत अपनी मधुरिमा को लेकर चारों ओर के वातावरण में बिखर जाते हैं।[104] निश्चय ही सूर के ये गीत उद्दीपक वातावरण की परिछाया में नारियों के हार्दिक उल्लास को व्यक्त करने

वाले हैं।

मनोरंजन के गीतों में 'रसिया' का विशेष स्थान है। यह ब्रज में अधिकतर मेलों, उत्सवों और त्यौहारों पर सुनने को मिलता है। यह पुरुषों द्वारा गाया जाने वाला शृंगार रस का गीत है।

डॉ० हरगुलाल के शब्दों में—"सूर ने कृष्ण की जलक्रीड़ा, पनघटलीला तथा दानलीला का वर्णन करते समय जिन पदों का सृजन किया है वे रसिया की प्रतिकृति के कहे जा सकते हैं। इन पदों की प्रवृत्ति पूर्णतः रसिया की ओर झुकी हुई है। यद्यपि इन पदों को शास्त्रीय रागों में बाँधा गया है परन्तु इनकी सहज लय, सहज समुच्छ्वसित सामूहिक भावना तथा ग्रामीण शब्दावली इन्हें पूर्ण रूप से लोकगीत की कोटि में परिसीमित कर देती है।"[105]

मनोरंजन के गीतों में दूसरा स्थान ग्वालबालों के गीतों का है जिसे वे गाय चराते हुए, खेलते-कूदते हुए तथा दोपहर का भोजन करते हुए गाते रहते हैं।[106]

सूरदास जी ने भ्रमरगीत तथा अन्य विरहगीत लोकगीत 'विरहा' की शैली पर लिखे हैं। विरह के गीतों में प्रकृति कभी मानव की सगी बन जाती है तो कभी विपरीत रूप धारण कर काटने को दौड़ती है। 'पिउ पिउ' की रट लगाने वाला पपीहा कभी हृदय को जलाता है तो कभी प्रिय का नाम लेने के कारण अच्छा लगता है :

> बहुत दिन जीवौ पपिहा प्यारे।
> बासर रैनि नाँव ले बोलत, भयो विरहजुर कारे।।[107]

लेकिन विरह दशा आखिरकार दुःखदशा है। इसमें सुखदायक और दुःख-दायक सभी वस्तुएँ कष्ट को बढ़ाने वाली ही होती हैं। इसी कारण बिना गोपाल के कुंजलताएँ 'बैरिन' हो जाती हैं। मधुबन की हरियाली जले पर नमक छिड़कती है। काली रात सर्पिणी बनकर डसती है :

> पिया बिनु साँपिनि कारी रात।
> कबहुँ जामिनी होत जुन्हैया डसि उलटी ह्वै जात।।[108]

ऐसी स्थिति में थोड़ी-सी सहानुभूति भी मरहम का काम करती है। कागा बोलकर उड़ जाता है। यह प्रिय के आगमन का प्रतीक है। अतः उसे कनक कटोरा भरकर भात खिलाने की बात होती है।

> तौ तू उड़ि न जाइ रे काग।
> जौ गुपाल गोकुल कौं आवें, तौं ह्वै हैं बड़भाग।
> दधि ओदन भरि दोनो देहौं अरु अंचल की पाग।।[109]

लोकगीतों की शैली के आधार पर रचित सूर के पदों में सामाजिक भावना

का सफल चित्रण हुआ है।

लोकगीतों का नृत्य से बड़ा गहरा सम्बन्ध है। बिना नृत्य के लोकगीतों में सजीवता नहीं आ पाती। अतः सूर ने जहाँ लोकगीतों का वर्णन किया है, वहीं लोकनृत्यों का भी। नृत्य में विविध प्रकार के आभूषण इत्यादि का प्रयोग होता है तथा इसमें संगीत के ताल और लय के अनुसार पैर की एक निश्चित गति होता है। चोला पहनना, फेंटा बाँधना, नूपुर धारण करना आदि उसकी सज्जा के अँग हैं जिसका वर्णन सूरदास ने किया है।[110] वे नृत्यकला में पारंगत थे। उन्हें लय, पद, ताल, मात्रा आदि का पूर्ण ज्ञान था। उन्होंने अपने अनेक पदों में नृत्य के बोलों के साथ संगीत के अनेक पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया है।[111] नृत्य के समय मृदंग आदि वाद्य बजने की बात भी सूर ने लिखी है, जिनकी ध्वनि के अनुसार ही नृत्य चलता है।[112] रासलीला एक बृहद् नृत्य ही है जिसमें समूह-बद्ध होकर नृत्य किया जाता है। सूर ने इसका विशद वर्णन किया है।[113]

इस प्रकार स्पष्ट है कि सूर को लोक-नृत्य एवं उसके अवयवों की पूर्ण जानकारी थी।

परम्परागत मान्यताएँ एवं सामाजिक विश्वास

वे बातें जिनकी सत्यता का अनुभव मानव जाति परम्परा से करती चली आयी है 'परम्परागत मान्यताएँ' कहलाती हैं। शताब्दियों तक प्रचलित रहने के कारण ऐसी मान्यताएँ किसी देश या समाज की संस्कृति का अभिन्न अंग बन जाती हैं। चिरकाल से लोक का अनुभव एवं जीवन के प्रति स्थिर दृष्टिकोण इन्हीं परम्परागत मान्यताओं में देखने को मिलता है।

भारतीय संस्कृति से सम्बन्धित परम्परागत मान्यताएँ हैं—भाग्यवाद, कर्म-फल, पुनर्जन्मवाद, ग्रह-नक्षत्र एवं तिथि-विचार तथा ज्योतिष-विचार आदि।

मनुष्य को अपनी शक्ति के सीमित होने का अनुभव पग-पग पर होता है। साथ ही अनेक बार वह जीवन में आशा और निराशा का भी अनुभव करता है। ये सब बातें उसे भाग्यवाद को मानने पर विवश करती हैं। भाग्यवाद के मूल में जहाँ अपनी शक्ति के सीमित होने का विश्वास निहित रहता है, वहीं देव या ईश्वर की अपरिमित सामर्थ्य के प्रति आस्था भी रहती है। अतएव भारतीयों का सदा से यह विश्वास रहा है कि सृष्टि का प्रत्येक कार्य पूर्वनिर्दिष्ट भाग्यविधान के अनुसार ही होता है, उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन लाना मानव के वश की बात नहीं है। समाज में रहने वाले लोगों का दृढ़ विश्वास रहता है कि ब्रह्मा ने अपनी लेखनी से जिसके भाग्य में जो कुछ लिख दिया है उसे वही प्राप्त होगा, इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं प्राप्त होगा।[114] प्रत्येक व्यक्ति का भाग्य उसके

साथ होता है।[115] किसी को अधिक मिलना और किसी को कम मिलना यह अपना-अपना भाग्य है।[116] महाकवि सूर के अनुसार सिद्ध, साधक, मुनि आदि भी रघुनाथ की करनी को घटा-बढ़ा नहीं सकते।[117] यह भाग्य का ही खेल है कि किसी को षट्‌रस भी नहीं अच्छा लगता और कोई भोजन के लिए बेचैन घूमता है।[118]

दूसरों के सुख-दुःख और हानि-लाभ को देखकर मानव कर्मफल पर विश्वास करने लगता है। मनीषियों ने भी सुख-दुःख, हानि-लाभ को मनुष्य के पाप-पुण्य का परिणाम बताया है। सूर ने भी कर्मानुसार फल प्राप्ति के प्रति गहरी आस्था व्यक्त की है।[119] कृष्ण और बलराम के मथुरा जाने पर यशोदा विलाप करती हुई अपने पूर्व कृत्यों के तिरछे हो जाने की बात कहती हैं।[120] सूर ने इसका भी उल्लेख किया है कि व्यक्ति को अपने पिछले पापों का कुफल भोगने के पश्चात् अपने भावी कर्म सुधारने के लिए प्रयत्नशील रहना चाहिए।[121]

भारतीय संस्कृति में पुनर्जन्मवाद को भी मान्यता दी गई है। हमारे यहाँ चौरासी लाख योनियाँ मानी गई हैं, जिनमें सर्वोत्तम मानव योनि है। लेकिन यह जीव को अपने श्रेष्ठकर्मानुसार ही प्राप्त होती है। सूर ने जल, थल तथा आकाश की अनेक योनियों में जीव के भटकने की बात कही है।[122]

भारतीय समाज में प्रत्येक कार्य शुभमुहूर्त विचार कर ही किया जाता है। शुभमुहूर्त विचारने में ग्रह, नक्षत्रों तथा तिथियों का सहयोग अपेक्षित होता है। कृष्ण के अन्नप्रासन पर यशोदा विप्र से राशि शोधकर शुभमुहूर्त निकालने की बात कहती हैं।[123] प्रतिपदा को यात्रा वर्जित है अतः सूर की गोपियाँ इस दिन कहीं न जाने की बात कहती हैं।[124]

सूर ने परम्परागत मान्यताओं की तरह सामाजिक विश्वासों का भी वर्णन किया है। सामाजिक विश्वास समाज की आधारशिला होते हैं। इन्हीं सामाजिक विश्वासों के ऊपर ही समाज की नैतिकता, मंगलाशा, भविष्य के प्रति गहन आस्था एवं जीवन को सुखी बनाने वाली आशाएँ अवलम्बित हुआ करती हैं।

सामाजिक विश्वास तीन प्रकार के होते हैं—पौराणिक विश्वास, सामान्य विश्वास एवं अन्धविश्वास।

पौराणिक विश्वासों का भारतीय संस्कृति और उसकी चेतना में बड़ा महत्व रहा है। सूर की पौराणिक विश्वासों के प्रति गहरी आस्था रही है। पौराणिक विश्वासों में प्रमुख हैं—अवतारवाद। सूर ने अवतारों की संख्या अगणित बताई है।[125] यद्यपि उन्होंने चौबीस अवतारों का वर्णन किया है लेकिन प्रमुखता दी है केवल दस अवतारों को ही।[126] सूर के राम और कृष्ण दोनों परब्रह्म के अवतार हैं। ये धरती का भार उतारने के लिए प्रकट हुए हैं। सूर ने कृष्ण को अविगत, आदि, अनन्त, अनुपम, अविनाशी आदि अनेक नामों से अभिहित किया है।[127]

उन्होंने राम और कृष्ण तथा राधा और सीता की एकता में विश्वास व्यक्त किया है।[128] जिस प्रकार ये सीता को जगत्-जननी कहते हैं[129] उसी प्रकार राधा को भी 'सेस-महेस, गनेस, सुकादिकनारदादि की स्वामिनी' बताते हैं।[130]

परब्रह्म का अवतार होने के कारण राम और कृष्ण सभी देवताओं के लिए पूज्य हैं। तभी तो उनकी लीलाएँ देखने के लिए देवगण सदैव उपस्थित रहते हैं तथा उनके द्वारा किए गए कृत्यों पर पुष्प-वृष्टि करते हैं।[131] इसी प्रकार राधा की भी लीलाएँ देखने के लिए रमा, उमा, शची, अरुन्धती आदि आती हैं।[132] इसके अतिरिक्त पौराणिक विश्वासों में प्रकृति तथा उसके विविध उपादान-सम्बन्धी विश्वास भी आते हैं, जिनका वर्णन सूर ने विधिवत् किया है। इन विश्वासों में प्रमुख हैं—पृथ्वी का कच्छप और शेषनाग पर स्थित होना[133], प्रलय होना[134], उससे सम्बन्धित अक्षयवट, जिसका कभी नाश नहीं होता[135], चन्द्रमा द्वारा राहु का ग्रसा जाना[136], सागर-पुत्र होने के कारण पूर्ण चन्द्र को देखकर सिन्धु की लहरो को बढ़ना, चन्द्रमा के रथ में मृगों का जुता होना[137], देवेन्द्र के पास अमृतकलश का होना तथा उसकी वर्षा से लंका-युद्ध में मृत, कपियों तथा भालुओं एवं रामपक्ष के अन्य वीरों का जीवित हो उठना इत्यादि।[138]

कामधेनु, उच्चैश्रवा, ऐरावत, वासुकि, गरुड़, शेषनाग आदि पौराणिक पशु-पक्षियों से सम्बन्धित विश्वास हैं। सूर ने इनका भी वर्णन किया है।

पौराणिक विश्वासों के अतिरिक्त समाज में प्रचलित कुछ सामान्य विश्वास भी होते हैं। जैसे—कुदृष्टि लगना तथा उसके निवारणार्थ विविध उपाय करना, शकुन-अपशकुन का विचार करना तथा स्वप्न एवं उसके अच्छे-बुरे परिणाम का विचार करना इत्यादि।

समाज में यह सामान्य विश्वास है कि दूसरों के द्वारा बुरी दृष्टि से देखने पर नजर लग जाया करती है। माँ यशोदा को बालक कृष्ण के खेलने, बाहर आने, आभूषण पहनाने एवं उनके सयाने होने पर हर समय नजर लग जाने का भय बना रहता है। यदि ऐसी स्थिति में नजर लग जाती है तो 'राई लोन' लेकर उसे उतारा जाता है।[139] माँ यशोदा कृष्ण को नज़र न लगने के भय से ही आंचल के नीचे ढंककर दूध पिलाती हैं, तथा बड़े होने पर अपने सामने ही बैठकर मक्खन खाने को कहती हैं।[140] जिस बालक को नजर लग जाती है उसकी अजीव दशा हो जाती है। वह विरुझाने लगता है, सोते-सोते चौंक पड़ता है तथा अनमना-सा हो उठता है। उसके नेत्र अनिद्रा रोग से ग्रसित व्यक्ति के नेत्रों जैसे हो जाते हैं।[141]

नज़र बालकों को ही नहीं अपितु बालिकाओं को भी लगती है।[142] बुरी नज़र से बचने के लिए बालक के मसिविन्दा लगा दिया जाता है[143] तथा उसके कंठ में कठुला तथा केहरिनख भी पहना दिया जाता है।[144]

अनिष्टों से बचने के लिए तिनका तोड़ने की भी प्रथा थी। राधाकृष्ण के विवाहोपरान्त जब पति-पत्नी चंदन के स्यन्द पर बैठते हैं तो अनेक ब्रज-युवतियाँ तिनका तोड़ती हैं।[145] कोई अच्छा कार्य करने पर दूसरों की बुरी नज़र न लग जाए इससे बचने के लिए पानी वार कर दिया जाता था तथा आभूषण आदि न्यौछावर किए जाते थे। कृष्ण द्वारा तृणावर्त नामक राक्षस का वध कर देने पर और उनके सकुशल बच जाने पर माँ यशोदा कृष्ण के ऊपर पानी वार कर पीती हैं तथा आभूषण न्यौछावर करती हैं।[146]

सूर ने नाना प्रकार के शकुन-अपशकुन का भी वर्णन किया है। कृष्ण के कालीदह में कूदते ही यशोदा को अनेक प्रकार के अपशकुनों—जैसे छींक होना, बिल्ली का रास्ता काटना, बायें काग तथा दाहिने खर-स्वर का होना आदि इसके उदाहरण हैं।[147]

भूमिकम्प और वर्षा न होना भी अपशकुन है।[148] कृष्ण के स्वर्गवास की आशंका युधिष्ठिर के अपशकुनों से ही होती है।[149]

प्रिय का नाम लेकर काग को उड़ाना[150] कानों के पास भ्रमर का गुंजार करना[151], मृगों का दर्शन करना[152], भुजा का फड़कना, पुलक के कारण अँगिया का तड़कना तथा मीठे बोल सुनने की कामना करना आदि शकुन प्रिय-आगमन के द्योतक हैं।[153]

स्वप्न को भविष्य में होने वाले अनिष्ट अथवा लाभ का निर्देशक माना गया है। ऐसा विश्वास है कि जो स्वप्न प्रातःकाल देखा जाता है, वह अक्सर सत्य होता है। सूरसागर में त्रिजटा प्रातःकाल में ही राम की विजय एवं रावण की पराजय का स्वप्न देखती है जो आगे चलकर सत्य सिद्ध होता है।[154]

कभी-कभी स्वप्न में भविष्य में घटित होने वाली घटनाओं का संकेत भी मिल जाता है। श्रीकृष्ण का कालीदह में कूदने से पूर्व, कालीदह में गिरने का स्वप्न देखना इसी प्रकार है।[155]

अन्धविश्वासों में भूत-प्रेत, हाऊ, चुड़ैल, डायन, सयाना, टोना-टोटका, झाड़-फूंक तथा जन्त्र-मन्त्र से सम्बन्धित विश्वास आते हैं। ऐसा विश्वास है कि यदि मृतक का अन्त्येष्टि-संस्कार पूरा न किया जाए तो वह भूत बन जाता है।[156]

बच्चों को दूर खेलने जाने से मना करने के लिए माताएँ हाऊ नामक भूत का डर दिलाती हैं। माँ यशोदा कृष्ण को दूर खेलने न जाने देने के उद्देश्य से उसे भय दिलाते हुए कहती हैं कि ब्रज में 'हाऊ' आ गया है जो बच्चों के कान तोड़ लेता है।[157]

सूर ने ब्रज की गोपियों के ऐसा रोग लगने की बात कही है, जिसका उपचार टोना-टटका, जन्त्र-मन्त्र तथा देवता की उपासना के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।[158]

सर्प द्वारा राधा को डसे जाने एवं मंत्र पढ़कर कृष्ण के झाड़ने में टोने की प्रधानता है।[159] अपना गुण दूसरों के सिर पर डालने वाले कृष्ण के ऊपर गोपियाँ मोहन, जोहन, मन्त्र-जन्त्र, टोना आदि सभी कुछ वार देती हैं।[160] टोने को सम्पन्न करने के लिए बलि भी दी जाती है। सूर ने जड़भरत की कथा में इसका भी उल्लेख किया है।[161]

अन्य विश्वासों में कवि-प्रसिद्धियों एवं लोकोक्तियों आदि को लिया जा सकता है। इनमें प्रमुख हैं—बालक का अपने पैर का अँगूठा चूसने पर दीर्घायु होना[162], चकवा-चकई का दिन में मिलन और रात में विछोह होना[163], उनका चन्द्रमा को एकटक देखना[164] तथा अंगार चुगना[165], पपीहे का स्वाति नक्षत्र की बूंदों से ही अपनी प्यास बुझाना[166], हंस का मोती चुगना[166A], कोयल का अपने अंड़े स्वयं न सेकर कौए के घोसले में रख आना और उसके बच्चों का बसंतऋतु में अपने कुल में आकर मिल जाना[167] इत्यादि। यह तो हुई पशु-पक्षियों सम्बन्धी कवि-प्रसिद्धियाँ। पुष्पों, कीट-पतंगों तथा ग्रह-नक्षत्रों से सम्बन्धित कवि प्रसिद्धियाँ हैं—कमल का सूर्य के दर्शन से विकसित और चन्द्रमा को देखकर बन्द हो जाना[168], भौंरें का कमल पुष्प में बंद हो जाना[169], सर्प के पास मणि होना[170], शनि का नील वर्ण होना, शुक्र का श्वेत, बृहस्पति का पीत तथा भौम का लाल होना।[171]

इस प्रकार महाकवि सूर ने अपने ग्रन्थों में तत्कालीन सामाजिक विश्वासों एवं परम्परागत मान्यताओं का सफल चित्रण किया है। इन्हीं परम्परागत मान्यताओं और सामाजिक विश्वासों पर ही संस्कृति के विशाल प्रासाद का ढाँचा खड़ा रहता है। ये पारम्परिक मान्यताएँ और सामाजिक विश्वास ही सुरक्षा और सहयोग की भावना को जन्म देते हैं। समाज की रचनात्मक अभिव्यक्तियों —विशेषकर उसके साहित्य और कला, सामाजिक गतिविधि और क्रियाकलाप आदि पर इन विश्वासों की प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष छाप अवश्य रहती है। मानव जीवन में इन विश्वासों का महत्वपूर्ण स्थान होता है। अनातोले फ्रांस के अनुसार —"राष्ट्र अपने लोकविश्वासों पर जीवित रहते हैं, अपनी लोक-गाथाओं से वे जीवन के लिए आवश्यक विचार ग्रहण करते हैं। उन्हें अधिक की आवश्यकता नहीं होती, थोड़ी भी उपदेशात्मक कथाएँ ही लाखों लोगों को प्रेरणा देने के लिए यथेष्ट होती हैं।[172]

इन लोक-विश्वासों में लोकजीवन की भौतिक एवं धार्मिक चेतना का मूल-स्रोत निहित रहता है। अन्ततः ये मानव समुदायों के सांस्कृतिक दृष्टिकोण एवं जीवन-मूल्यों को निर्धारित कर लोकजीवन को स्थायित्व प्रदान करते हैं। संकट की अनिश्चित घड़ियों में मानव किसी आधार की खोज करता है। उसके परम्परागत लोक-विश्वास उसे युगों से मानसिक दृढ़ता देते आये हैं। संस्कृति के एकीकरण में इनका बहुत बड़ा हाथ होता है।

महाकवि सूर को लोकविश्वासों के इस महत्व की पूर्ण जानकारी थी इसी-लिए उन्होंने मध्यकालीन परिवेश के अनुकूल इनका चित्रण किया है।

वस्त्राभूषण

वस्त्रों का जीवन में बड़ा महत्व होता है। इनसे जहाँ एक ओर शरीर की रक्षा होती है, वहीं दूसरी ओर शारीरिक सौन्दर्य की अभिवृद्धि भी होती है। वस्त्रों से व्यक्ति की आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा धार्मिक स्थिति का बोध होता है। प्रत्येक संस्कृति में सौन्दर्य के अपने प्रतिमान होते हैं। इन प्रतिमानों के अनु-कूल ही वस्त्रों का प्रयोग किया जाता है।

सूर ने अपने काव्य में वस्त्रों का प्रयोग मुख्य रूप से शारीरिक सौन्दर्य की अभिवृद्धि हेतु किया है। उन्होंने अपने आराध्य और आराध्या के सामान्य और विशेष—दोनों अवसरों के वस्त्रों की चर्चा बड़े रुचि के साथ की है। सुविधा की दृष्टि से सूरकाव्य में वर्णित वस्त्रों को हम निम्नलिखित वर्गों में विभाजित कर सकते हैं :

1. बालकों के वस्त्र
2. बालिकाओं के वस्त्र
3. पुरुषों के वस्त्र
4. स्त्रियों के वस्त्र

सूर ने बालकों के सिर पर पहने जाने वाले वस्त्रों में कुलही,[173] चौतनी[174] तथा पाग[175] का उल्लेख किया है।

झगा,[176] झगुलि,[177] झगुलिया[178] आदि बालकों का ढीला-ढाला कुर्ता होता था जो शरीर को आराम देने के लिए पहनाया जाता था।

कटि प्रदेश में पहने अथवा बाँधे जाने वाले वस्त्रों में पिछौरा, पिछौरी अथवा पीताम्बर[179] का उल्लेख है। पीताम्बर वयस्क भी पहनते थे लेकिन उसका आकार बड़ा होता था। वर्षगाँठ के अवसर पर पहनाये गये वस्त्रों में निचोल तथा बागेचीर[180] का नाम आया है। निचोल एक प्रकार की छोटी चादर होती थी। घुटनों के नीचे तक पहने जाने वाले वस्त्रों में कछनी का उल्लेख है। सूर के कृष्ण बड़े होने पर कटि में कछनी काछते हैं।

सूर ने 'गोसमावल'[181] तथा शिथिल दस्तार की पाग[182] का भी वर्णन किया है। गोसमावल, पगड़ी में बँधी कानों के पास लटकने वाली मोतियों की गुच्छी को कहते थे। उपरेना[183] ओढ़ने की बड़ी चादर होती थी। निचोल औरतों की छोटी चादर और उपरैना बड़ी चादर अथवा दुपट्टे को कहते थे।

बालिकाओं के वस्त्रों में सूर ने केवल फरिया[184] और चूनरी[185] का ही उल्लेख किया है। फरिया एक प्रकार का छोटा लहँगा होता था और चूनरी ओढ़ने का वस्त्र। ओढ़ने के वस्त्रों में उढ़निया[186] या ओढ़नी[187] का भी उल्लेख है। किशोरियों के सूथन और उसके नाराबन्द[188] का उल्लेख भी सूर ने किया है।

सूर-काव्य में वर्णित स्त्रियों की वेश-भूषा विशेष आकर्षक है। स्त्रियाँ अपने वस्त्रों में लाल, पीले, नीले और हरे रंगों को विशेष महत्व देती थीं। उन दिनों लहँगा, साड़ी, कंचुकी और ओढ़नी आदि ही स्त्रियों के प्रमुख वस्त्र थे। लहँगा दो तरह का होता था—एक तो साधारण और दूसरा तीन पाटवाला अर्थात् तिपाड़ का। सूर ने दोनों का वर्णन किया है।[189]

साड़ी स्त्रियों का दूसरा प्रमुख वस्त्र था। यद्यपि यह विविध रंगों की होती थी पर सूर ने केवल पचरंगी साड़ी[190] का ही उल्लेख किया है। रेशमी साड़ी को पटोरी[191] कहते थे।

कंचुकी, अँगिया, आँगी अथवा चोली वक्ष पर पहना जाने वाला वस्त्र था। सूर ने तीन प्रकार की अँगिया का उल्लेख किया है—कटाव की अँगिया,[192] जड़ाऊ अँगिया[193] तथा लाल माड़नी युक्त नील अँगिया।[194] लाल माड़नी युक्त नील अँगिया वह होती थी जिसमें अँगिया तो नीली होती थी लेकिन उसके आगे की तिकोनी साज (माड़नी) राती या लाल होती थी।[195] सूर ने अँगिया में जुड़ी नाभि तक लटकने वाली पेटी का भी उल्लेख किया है, जिसे अँतरौटा कहते थे। कंचुकी भी वक्ष पर पहनी जाती थी। इसमें एक डोरी लगी होती थी जो कमर की तरफ पीछे बाँध दी जाती थी।[196] स्त्रियों के ओढ़ने के वस्त्रों में उपरना का उल्लेख हो चुका है।

उन दिनों पगा, झगा, धोती,[197] दुपदी पिछौरा[198] आदि पुरुषों के वस्त्र हुआ करते थे।

सूर ने स्त्रियों तथा पुरुषों के विभिन्न प्रकार के आभूषणों का वर्णन किया है। मनुष्य सदा से ही आभूषण प्रेमी रहा है। आभूषणों से ही उसकी सामाजिक और आर्थिक स्थिति का पता चलता है। सूर काव्य में आभूषणों का बहुत उल्लेख हुआ है जो इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है कि तत्सम्बन्धी लौकिक वैभव के जिस आदर्श रूप की कल्पना मानव समाज कर सकता था, वह सभी सूर ने अपने परमाराध्य और उनकी प्रियाओं के लिए सहज ही सुलभ कर दिया है।

सूर ने पुरुषों के आभूषणों में बालक श्रीकृष्ण के आभूषणों की चर्चा की है। वे मुकुट धारण करते हैं। सूर ने सोने के जड़ाऊ मुकुट[199] तथा मोरपंख के मुकुट का उल्लेख किया है। मस्तक के आभूषणों में लटकन प्रमुख है। कनछेदन के अवसर पर कानों में 'ढुर' नामक आभूषण पहनने की प्रथा थी।[200] लेकिन कृष्ण सदैव

कानों में 'मकराकृति कुण्डल' ही धारण करते हैं।[201] सूर ने कृष्ण को नाक में मोतियों की जड़ी हुई नथुनी भी पहनायी है।[202] गले में कठुला,[203] गजमनिया,[204] हार,[205] मोतियों की दुलरीमाल,[206] पदिक,[207] गुंजा की वनमाला,[208] एवं मोतियों की माला[209] धारण किये हुए कृष्ण की शोभा ही निराली है। सूर ने कृष्ण को भुजाओं में केयूर,[210] हाथों में पहुँची[211] और चूरा,[212] कमर में करधनी,[213] किंकिनी[214] अथवा छुद्रघंटिका[215] तथा पैरों में पैंजनी[216] भी पहनाया है।

स्त्रियाँ सिर से लेकर पैर तक विभिन्न प्रकार के आभूषण पहनती हैं। आभूषण ही उनकी निजी सम्पत्ति होते हैं और साथ-ही-साथ इससे उनमें आशा और स्फूर्ति का संचार भी होता है। सूर ने स्त्रियों के शीश, मस्तक, नाक, कान, हाथ, ग्रीवा तथा कमर में पहने जाने वाले अगणित आभूषणों का उल्लेख किया है।

उन दिनों स्त्रियाँ केश-विन्यास करते समय सीमन्त, जूड़ा अथवा सिर के बालों में टीका,[217] शीशफूल,[218] चंपकली[219] अथवा चंडावलि आदि लगा लिया करती थीं। सौभाग्यवती स्त्रियाँ माँग में सिन्दूर भरने के साथ-साथ मोती भी सजा लिया करती थीं।[220]

मस्तक में आभूषणों में बेंदी,[221] टीका[222] एवं लटकन,[223] प्रमुख थे। कान के आभूषणों में कर्णफूल,[224] खुटिला, खुम्भी, झूमक, ताटंक आदि प्रमुख थे। सूर ने नाक के आभूषणों में बेसरि,[225] नथ[226] तथा बुलाक[227] का वर्णन किया है। 'नथ' नाक का बड़ा गोल आभूषण होता था जिसके मध्य में मोती जड़ा रहता था। बुलाक कान के झूमक की तरह से नीचे तक लटका रहता था। स्त्रियाँ सबसे अधिक आभूषण गले में पहनती हैं। उस समय गले में पहने जाने वाले आभूषणों में कंठश्री,[228] चौकी,[229] तौकी,[230] कंचनहार,[231] गजमोतियों की लड़ी,[232] मोतिनहार,[233] चंपकमाल,[234] नौसरिहार,[235] ढुलरी,[236] तिलरी,[237] हमेल,[238] खंगवारी,[239] पदिक,[240] मोतिसिरी,[241] कौस्तुभमणि[242] तथा मुक्तामाल[243] आदि प्रमुख थे।

भुजा एवं कलाई में पहने जाने वाले आभूषणों में टाँड,[244] बहुँटा,[245] बाजूबन्द,[246] कंगन[247] इत्यादि का उल्लेख है। उँगलियों में मुद्रिका या अँगूठी[248] भी पहनी जाती थी। कटि में पहना जाने वाला एकमात्र आभूषण करधनी है, जिसके लिए किंकिनी, छुद्रघंटिका आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है। यह सोने की होती थी।[249]

घुंघुरू,[250] जेहरि,[251] नूपुर,[252] पैंजनी[253] आदि पैर के आभूषण थे। पैर की उँगलियों में बिछिया पहनने की बात भी सूर ने कही है।[254]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि सूरकाल में प्रत्येक व्यक्ति अपनी आर्थिक

स्थिति के अनुसार सोने, चाँदी, पीतल, राँगा, काँच, नकली मोती तथा पुष्प आदि के आभूषण पहनते थे। मणिजटित आभूषण तो सर्वसुलभ नहीं थे लेकिन कुण्डल-हार, चूरा, नथुनी, बाजूबन्द, पहुँची, किंकिनी, मुद्रिका, पैजनी आदि सामान्य आभूषण थे जिन्हें स्त्री-पुरुष, बालक और बालिकाएँ लगभग सभी पहनते थे।

शृंगार-प्रसाधन

शृंगार-प्रसाधनों का प्रयोग शारीरिक सौन्दर्य की वृद्धि हेतु किया जाता है। इनसे मन में सुरुचि भी उत्पन्न होती है। सूर की नारियों का अधिकांश समय नाना प्रकार के शृंगार-प्रसाधनों से अपने शरीर की साज-सज्जा करने में ही व्यतीत होता था।

शृंगार सोलह प्रकार के माने जाते हैं। इसकी चर्चा सूर ने भी की है।[255] ये सोलह शृंगार हैं—"अंग में उबटन लगाना, नहाना, स्वच्छ वस्त्र धारण करना, बाल सँवारना, काजल लगाना, सिंदूर से माँग भरना, महावर लगाना, माल पर तिलक लगाना, चिबुक पर तिल बनाना, मेंहदी लगाना, इत्र आदि सुगन्धित द्रव्य लगाना, आभूषण पहनना, फूलों की माला पहनना, मिस्सी लगाना, पान खाना तथा होठों को लाल करना।"[256]

स्त्रियों की तरह पुरुष भी शृंगारप्रिय थे। उनके शृंगारों में उबटन, स्नान, सुवसन, आभूषण, फूलमाला, ताम्बूल, सुगन्धित द्रव्य आदि प्रमुख थे। सूर ने स्त्रियों और पुरुषों दोनों के शृंगार-प्रसाधनों का वर्णन किया है।

उबटन प्रमुख शृंगार है। यशोदा बालक कृष्ण को केसर का उबटन लगाकर स्नान कराती हैं।[257] उबटन के स्थान पर कभी-कभी तेल लगाने की बात भी कही गयी है।[258] ब्रजनारियाँ भी तेल और उबटन लगाकर स्नान करती हैं।[259] शरीर को शीतलता प्रदान करने तथा उसे सुन्दर और सुगन्धित बनाने के लिए वे विभिन्न द्रव्यों का प्रलेप करती हैं। इसीलिए तो स्नान करते समय उनके शरीर से इतना कुंकुम और चन्दन छूटता है कि तट पर कीच हो जाती है।[260]

उबटन या तेल मर्दन के पश्चात् स्नान किया जाता है। बालक कृष्ण के स्नान के लिए ऋतु के अनुसार शीतल या उष्ण जल का प्रबन्ध किया जाता है।[261] ब्रजनारियाँ भी स्नान करती हैं और कृष्ण उनकी पीठ मलते हैं।[262] काले और घने बालों को रुचिपूर्वक सँवारना सौन्दर्य को द्विगुणित कर देता है। ब्रज की स्त्रियाँ सिर के बड़े-बड़े बालों को प्यार सहित सँवार कर माँग पारती हैं तथा वेणी को सुन्दर भाँति से गूँथती हैं। माँ यशोदा भी राधा के बाल सँवारती हैं।[263]

उस समय वेणी को नाना भाँति से गूँथने की प्रथा थी ।[264] बालों को सुगन्धित करने के लिए तेल-फुलेल का भी प्रयोग होता है । गोपियाँ कनक कटोरा भर-भर कर तेल लगाती हैं ।[265] बालों में पुष्प गूँथने की प्रथा थी ।[266] एड़ी तक पहुँचने वाले बालों की विशेष शोभा होती थी । राधा के बाल ऐसे ही थे ।[267] नीली लटों की शोभा भी अपूर्व होती थी ।[268]

बालों को सुलझाकर सिर के बीच से उन्हें दो भागों में विभक्त करना माँग पारना कहलाता है । सौभाग्यवती नारियाँ माँग में सिन्दूर भरती हैं ।[269] उन दिनों माँग में मोती भरने की भी प्रथा थी ।[270]

नेत्रों में अंजन या काजल लगाना भी सौन्दर्य का प्रमुख साधन है । इससे नेत्रों की शोभा बढ़ जाती है । पैरों की सुन्दरता बढ़ाने के लिए एड़ियों में महावर या जावक का प्रयोग किया जाता है । सूर द्वारा वर्णित गोपियों के पगों में जावक की शोभा प्रियतम के चित्त को आकर्षित करने वाली है ।[271] इसीलिए तो वे श्रृंगार करते समय महावर या जावक लगाना नहीं भूलतीं ।[272] कृष्ण-जन्म के अवसर पर माँ यशोदा के पैरों में महावर लगाने के लिए नाइन बुलायी जाती है ।[273]

मस्तक की शोभावृद्धि के लिए उस पर तिलक तथा बिन्दी लगाई जाती है । सूर की गोपियाँ गोरे मस्तक पर सिन्दूर,[274] केसर,[275] मृगमद[276] तथा कुमकुम[277] का तिलक लगाती हैं । यह कभी-कभी जड़ाऊ भी होता था ।[278] सूर ने बिन्दी अथवा तिलक के चारों ओर 'लालचूनी' खचित करने की बात भी कही है ।[279]

सौन्दर्य की वृद्धि हेतु कपोल अथवा ठोढ़ी पर कृत्रिम तिल बनाने की भी प्रथा है । गोरे मुख की ठोढ़ी पर काला तिल अत्यधिक सुन्दर लगता है । सूरदास ने गोरे मुख पर श्यामल तिल की प्राकृतिक शोभा का संकेत किया है ।[280] चिबुक के नीचे श्यामल बिन्दु रखना तथा नाक पर तिल बनाना उस समय की श्रृंगार-सज्जा के जीते-जागते उदाहरण हैं ।[281]

सुगन्धित द्रव्यों का प्रयोग स्त्रियों को बहुत प्रिय रहा है। इनका प्रयोग प्रायः स्नान के बाद किया जाता है । सूर ने जिन सुगन्धित द्रव्यों का वर्णन किया है उनमें अगरू,[282] अरगजा,[283] कपूर,[284] कस्तूरी या मृगमद,[285] केसर,[286] चन्दन,[287] चोवा[288] आदि प्रमुख हैं । सुगन्ध कानों में भी डाली जाती थी ।[289] उन दिनों स्त्रियाँ अरगजा और मरगजी सुगन्ध से सुवासित साड़ियाँ पहनती थीं ।[290]

श्रृंगार-प्रसाधनों में पुष्प भी प्रमुख हैं । इनका प्रयोग सौन्दर्य-वृद्धि हेतु नाना रूपों में किया जाता है । आज की भाँति उन दिनों भी लोग किसी का स्वागत फूल भेंट करके करते थे ।[291] सुगन्धित पुष्पों से गुँथे बालाओं के केश मन को आकृष्ट कर लेते हैं ।[292]

श्रृंगार करने में दर्पण बहुत सहायक होते हैं । सूर ने हाथ में दर्पण लेकर

शृंगार करने का उल्लेख किया है ।[293] कभी-कभी दर्पण में काढ़ी हुई माँग का निरीक्षण भी किया जाता था ।[294] सूर की राधा तो दर्पण में अपना प्रतिबिम्ब देख कर उसे अन्य कोई सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी समझकर खीझने भी लगती है ।[295] प्राचीन भारत में दर्पण के अस्तित्व पर विचार करते हुए आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि—"सिक्यक और अलक्तक के प्रयोग के बाद नागरिक दर्पण में अपना मुख देखता था। सोने या चाँदी का समतल पट्टी को घिसकर खूब चिकना किया जाता था। उससे ही आदर्श या दर्पण का काम लिया जाता था।"[296]

पान खाकर होंठों को लाल करना भी एक शृंगार था । सूर ने इसका वर्णन नहीं किया है। ताम्बूल के बारे में डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी का विचार है कि—"ताम्बूल प्राचीन भारत का उत्तम प्रसाधन था। प्राचीन भारत का नागरिक ताम्बूल का महत्व जानता था और मानता था । सुन्दरियाँ इसके गौरव की कायल थीं। और सच पूछिये तो, जैसा माघ कवि ने कहा है स्वच्छ जल से धुले अंग, ताम्बूल-द्युति से जगमगाते होंठ और महीन निर्मल हल्की-सी साड़ी—यही तो विलासिनियों का वास्तविक शृंगार है ।[297]

इस प्रकार सूर ने शृंगार-प्रसाधनों का वर्णन कर जनता की सामान्य रुचि का परिचय दिया है।

विभिन्न क्रीड़ाएँ एवं मनोविनोद के साधन

जीवन में क्रीड़ाओं एवं मनोविनोद के साधनों का महत्वपूर्ण स्थान होता है । मनुष्य बाल्यकाल से लेकर वृद्धावस्था तक इसके लिए लालायित रहता है। प्रारम्भिक अवस्था में मनुष्य को शारीरिक शक्ति के विकास के लिए विभिन्न क्रीड़ाओं की आवश्यकता होती है। वहीं वृद्धावस्था में उसे मनोविनोद के विभिन्न साधनों की आवश्यकता होती है । अवस्था के साथ ही मानव-रुचि बदलती रहती है अतः मनोविनोद के साधन भी बदलते रहते हैं। बाल्यकाल में हमारा मनोरंजन दौड़-धूप इत्यादि कार्यक्रमों से होता है। यद्यपि ये जल्द थकाने वाले होते हैं लेकिन साथ ही इनसे शरीर स्वस्थ और मांसल भी बनता है । ऐसे कार्यक्रम सामान्यतया युवावस्था तक चलते हैं । इसके पश्चात् हम मनोरंजन के कम दौड़-धूप वाले कार्यक्रमों में भाग लेते हैं । महाकवि सूर ने मनुष्य के बाल्यावस्था से लेकर वृद्धावस्था तक किये जाने वाले इन मनोविनोद के साधनों का अत्यन्त रोचक वर्णन किया है। अध्ययन की सुविधा के लिए हम सूर द्वारा वर्णित विभिन्न क्रीड़ाओं एवं मनोविनोद के साधनों को दो वर्गों में विभाजित कर सकते

हैं :

(1) बाल्यावस्था की कीड़ाएँ एवं मनोविनोद

(2) युवावस्था की क्रीड़ाएँ एवं मनोविनोद।

दोनों वर्गों के कार्यक्रम परिवार एवं समाज के बीच चलते रहते हैं, जिनसे हमारा मनोरंजन तो होता ही है, साथ ही परस्पर सहयोग की भावना में वृद्धि भी होती है।

बाल्यावस्था की क्रीड़ाओं एवं मनोविनोद के साधनों में शिशु की क्रीड़ाओं का महत्वपूर्ण स्थान है। शिशु की बहुत छोटी अवस्था में तरह-तरह के खिलौने देकर उनका मन बहलाया जाता है। छोटे बच्चों के खिलौने प्राय: पालने में ही बाँध दिए जाते हैं, जिनसे वह खेलता रहता है। बालक कृष्ण भी विश्वकर्मा द्वारा निर्मित पालने में लटकते रंग-बिरंगे रत्नों, खिलौनों और मोतियों की झालर को देखकर बार-बार प्रसन्न होते हैं और किलकारी मारते हैं।[298] सूर के कृष्ण कुछ बड़े होने पर स्वयं ही झुनझुना बजाने लगते हैं।[299] माँ यशोदा कृष्ण के खिलौने से खेलने योग्य होते ही भौंरा चकडोरी[300] इत्यादि खरीद लेती हैं एवं चोगान, बेत, मुरली आदि सहेज कर रखने लगती हैं।[301] बड़े होने पर कृष्ण अपने सखाओं के साथ दौड़-धूप, आँख-मुँदौवल, बटिगीरी, चौगान, भौंराचक डोरी, गेंदतड़ी, पतंग उड़ाना, वृक्षारोपण, पीछे से आकर आँख बन्द करना इत्यादि खेल खेलने लगते हैं। गोचारण प्रसंग में वे सारे दिन इसी तरह की कीड़ाएँ किया करते हैं।

कृष्ण और श्रीदामा तारी मारकर दौड़ते हैं। बलराम चोट लगने के भय से कृष्ण को दौड़ने से मना करते हैं लेकिन वे मानते नहीं। श्रीदामा कृष्ण को जरा-सी देर में ही पकड़ लेते हैं। परन्तु कृष्ण यह कहते हैं कि मैं तो जानबूझ कर खड़ा हो गया हूँ।[302]

माँ यशोदा कृष्ण को दूर खेलने जाने से मना करती हुई कहती हैं कि अपने साथियों को बुलाकर यहीं खेलो। कृष्ण अपने साथियों को बुलाकर आँख मिचौनी का खेल खेलते हैं।[303] खेल शुरू होता है। कृष्ण चोर बनते हैं और माता यशोदा उनकी आंख मूंदती हैं।[304] सभी बालक दौड़कर आते हैं और महरि को छूते हैं।[305] माँ हलधर के छिपने का स्थान बता देती हैं। लेकिन नहीं! कृष्ण को तो श्रीदामा से काम है और वे उसे ही चोर बनाते हैं।[306]

भौंराचकडोरी कृष्ण का अत्यन्त प्रिय खेल है। वे बालकों को बुलाकर नन्द की पौरी पर यही खेल खेलते हैं।[307] जमुना तट पर राधा के प्रथम मिलन के समय भी उनके हाथ में यही भौंराचकडोरी ही थी।[308] कृष्ण माँ से अपने खिलौनों को बड़ी हिफाजत से रखने को कहते हैं क्योंकि उन्हें डर है कि कहीं राधा उन्हें चुरा न ले जाए।[309]

स्याम सखाओं के साथ गेंद भी खेलते हैं। इसमें बालक एक-दूसरे को

निशाना बनाकर गेंद मारते हैं। जिसको निशाना बनाकर गेंद मारा जाता है, वह टेढ़ा-सीधा होकर बचने की चेष्टा करता है।[310]

चौगान लकड़ी के बल्ले से गेंद मारने वाला खेल होता है। श्रीकृष्ण की इस खेल में बड़ी रुचि है। वे माँ यशोदा से अपना 'चौगान-बटा' सम्हाल कर रखने को कहते हैं।[311] कृष्ण अपने सखाओं के साथ दो दलों में बँटकर यह खेल खेलते हैं।[312] उनका यह खेल द्वारावती में भी होता है।[313]

कृष्ण बड़े होने पर सखाओं के साथ वृक्षारोपण या 'चढ़ाचढ़ी' का खेल भी खेलते हैं।[314]

बालकों की अन्य क्रीड़ाओं में सूर ने शर-क्रीड़ा का भी उल्लेख किया है। सूर के राम-लक्ष्मण अल्पायु में ही धनुष-बाण लेकर आँगन में खेलते-फिरते हैं।[315]

बालकों के मनोरंजन के साधनों में कहानी सुनना तथा पहेली बुझौवल का प्रमुख स्थान है। सूरदास ने माँ यशोदा द्वारा कृष्ण को रामकथा सुनाये जाने की बात लिखी है, जिसे सुनते समय वे बार-बार हुँकारी भरते हैं।[316]

दौड़-धूप के पश्चात् थक जाने पर बालक प्रायः पहेली बूझकर अपना मनोरंजन करते हैं। सूर के कृष्ण भी वन में ग्वाल-बालों के साथ समूह बनाकर पहेली बुझौवल का खेल खेलते हैं और दूसरों की पहेलियों का उत्तर देकर अपनी सूझ-बूझ का परिचय देते हैं।[317]

बालकों की तरह वयस्कों की भी अनेक क्रीड़ाएँ हुआ करती थीं, जिनमें चौगान, मल्लयुद्ध मृगया, द्यूतक्रीड़ा, चौपड़ इत्यादि प्रमुख हैं।

पुरुषों का चौगान बालकों के चौगान से भिन्न होता था। यह घोड़ों पर चढ़कर खेला जाता था। सूर के कृष्ण द्वारावती में यदुकुल के अनेक कुँवरों के साथ यह खेल खेलते हैं।[318]

शारीरिक बलवृद्धि के लिए वयस्क लोग मल्लयुद्ध भी किया करते थे। श्रीकृष्ण तथा अन्य गोप बालों ने खूब मल्लक्रीड़ा की थी। इसीलिए कंस के कहने पर उन्होंने उसके मल्लों से खूब दाँव-पेंच दिखाकर युद्ध किया।[319]

मल्लयुद्ध में कंस के महाभटों की भी कृष्ण-बलराम के सामने कुछ नहीं चली और सब मारे गये।[320]

मृगया भी एक तरह का खेल है। सूर ने इसका वर्णन केवल पौराणिक प्रसंगों में ही किया है। 'सूरसारावली' में वसुदेव कुमार अश्व पर चढ़कर एवं दशरथ पुत्र राम अपने भ्राताओं के साथ हिरन आदि पशुओं का आखेट करने जाते हैं।[321]

सूर ने द्यूत-क्रीड़ा का भी उल्लेख किया है। लेकिन यह समाज के लिए हानिकर है इसको बतलाना वे नहीं भूले हैं।[322] सूर ने अपने एक पद में चौपड़ के खेल

का भी रूपक प्रस्तुत किया है।[323]

वयस्कों के मनोरंजन के अन्य साधनों में विविध अवसर पर गाये जाने वाले गीत, जलविहार, कुंजविहार, नटविद्या इत्यादि भी प्रमुख थे।

झूलनोत्सव के दिनों में विभिन्न राग-रागिनियों का गाया जाना मनोरंजन का एक साधन था। सूर ने इसका स्पष्ट उल्लेख किया है।[324] इसके अतिरिक्त विभिन्न उत्सवों द्वारा भी लोगों का मनोरंजन होता था। सूर द्वारा वर्णित होलिकोत्सव पर स्त्रियों और पुरुषों द्वारा परस्पर की जाने वाली विभिन्न क्रीड़ाओं में लोकरंजन की पर्याप्त सामग्री है।[325] इसके अतिरिक्त विभिन्न अवसरों पर लगने वाले मेलों में जाकर भी लोग अपने अवकाश के क्षणों का सदुपयोग किया करते थे। पशु-पक्षियों की सेवा को भी हम मनोरंजन का प्रमुख साधन मान सकते हैं।[326]

पूर्वकालीन नगरों के बाहर उद्यान-कुंज इत्यादि बनाये जाते थे, जहाँ नर-नारी क्रीड़ार्थ इकट्ठा होते थे। ऐसे रमणीय कुंजों का उल्लेख सूर ने संयोग-लीला के प्रसंगों में किया है, जहाँ श्रीकृष्ण राधा तथा अन्य गोपियों के साथ नित्य आमोद-प्रमोद और विहार किया करते हैं।[327]

जल-विहार या जलक्रीड़ा भी मनोरंजन का प्रमुख साधन है। बालक कृष्ण को माता यशोदा यमुना-स्नान करने से रोकती हैं। यही कारण है कि बालक कृष्ण माँ से गाय चराने जाने की आज्ञा माँगते समय यमुना जल में न नहाने की बात शपथपूर्वक कह देते हैं।[328] लेकिन युवावस्था में तो कृष्ण गोपियों तथा राधा के साथ नित्य-प्रति जल-विहार करते हैं। यमुना में विहार करते हुए और परस्पर जल छिड़कते हुए श्याम-श्यामा अत्यन्त सुशोभित हो रहे हैं।[329] इस क्रीड़ा में राधा की कंचुकी के बन्द छूट जाते हैं, किंकिणी ढीली हो जाती है तथा सिन्दूर इधर-उधर फैल जाता है।[330] श्रीकृष्ण, राधा तथा व्रजबालाओं के शरीरों से मलयज, कुंकुभ आदि छूट कर यमुना जल में मिल गया है और तट पर भी उनकी कीच-सी हो गई है।[331]

महाकवि सूर ने बालकों की तरह बालिकाओं की क्रीड़ा का भी उल्लेख किया है। लेकिन जितनी चर्चा बालकों के खेलों की है उतनी बालिकाओं के खेलों की नही। यह ठीक भी था, क्योंकि लड़कियों की क्रीड़ाएँ कम हुआ करती थीं। सुरक्षा की दृष्टि से उन्हें घर से दूर खेलने नहीं जाने दिया जाता था। इसीलिए राधा कृष्ण से कहती हैं कि मैं व्रज की ओर क्यों जाऊँ। मैं तो पौरी में ही खेलती रहती हूँ।[332]

स्त्रियों के मनोरंजन का साधन हिंडोरा झूलना, गीत गाना, जल-विहार करना इत्यादि था।

पावस में नन्हीं-नन्हीं बूंदे बरसने पर वृक्षों की डाल पर झूला पड़ जाता था।

स्त्रियाँ उनमें बैठ जाती थीं और उनके द्वारा गाये गये गीतों से चतुर्दिक हर्ष की लहर फैल जाती थी।[333]

स्त्रियों में कुछ गणिकायें तथा नटिनियाँ भी थीं जो दूसरों के लिए मनोरंजन किया करती थीं।[334]

सूर-काल में नारियों के मनोरंजन का सर्वश्रेष्ठ साधन 'रास' था। इसमें कृष्ण और गोपियाँ एक-दूसरे को प्रसन्न करने के लिए विविध भाव-भंगिमाएँ किया करते थे। जिनमें भौंहों की मटकन, मुकुट की लटकन, पद-संचरण में घुंघरू की झंकार, विचित्र भाव-भंगी से भुजा-फेरना आदि प्रमुख थे।[335]

पनघट लीला, दानलीला तथा जलविहार आदि में कृष्ण और गोपियों की पारस्परिक छेड़छाड़ भी मनोरंजन की सामग्री हुआ करती थी।

इसके अतिरिक्त विभिन्न संस्कारों पर गाये जाने वाले गीत भी मनोरंजन की उत्कृष्ट सामग्री हुआ करते थे। सूर ने पति-पत्नी के मनोरंजनार्थ शिशु की क्रीड़ाओं का भी वर्णन किया है।[336]

इस प्रकार स्पष्ट है कि इन क्रीड़ाओं द्वारा जहाँ लोगों का मनोरंजन होता था, वहीं इनसे सहकारिता की भावना के विकास को भी बल मिलता था। ये सभी खेल मात्र मनोरंजन ही नहीं होते थे वरन् परस्पर प्रीति बढ़ाने वाले भी होते थे। महाकवि सूर ने इनका चित्रण मध्यकालीन सामाजिक परिस्थिति के अनुरूप ही किया है।

सामाजिक परम्पराएँ एवं रीति-रिवाज

महाकवि सूर ने सूरसागर के माध्यम से तत्कालीन सामाजिक परम्पराओं एवं रीति-रिवाजों का सफल चित्रण किया है। उनके समय में वर्णव्यवस्था का पालन कठोरता के साथ किया जाता था। इसकी पुष्टि 'कुब्जा प्रसंग' से होती है। वहाँ गोपियाँ कृष्ण और कुब्जा के सम्बन्ध को 'काग-हंस की संगति', 'लहसुन संग कपूर' तथा 'शूद्र के साथ भोजन करना' बताती हैं।[337] अनेक जातियों और उप-जातियों में विभक्त होते हुए भी सूरकालीन समाज ऐसा है जो चारों ओर से सामूहिक संगठन के प्रबल तन्तुओं से पूरित है। सभी लोगों का मिलकर पर्व मनाना सामूहिक एवं समवेत जीवन का परिचायक है। इस समाज का प्रत्येक प्राणी लोकधर्म, लोकमर्यादा तथा लोक-सिद्धान्तों का पालन करने वाला है। सोते हुए प्राणी को नहीं मारना चाहिए;[338] नारी को पातिव्रत धर्म का पालन करना चाहिए,[339] पराई स्त्री को वन में घेरने से मर्यादा नष्ट होती है,[340] स्त्री का परम धर्म है पति को परमेश्वर समझना तथा उसकी सेवा करना,[341] किसी सुन्दरी का

रात में बाहर निकलना उसके माता-पिता के लिए लज्जाजनक है[342] तथा गोपियों ने पति की इच्छा के विरुद्ध कृष्ण के पास जाकर लोक-लाज और कुल की मर्यादा को नष्ट कर दिया है[343] इत्यादि उदाहरण तत्कालीन समाज की मर्यादा एवं नैतिकता का समर्थन करते हैं। तभी तो उस काल में सास और ननद ने बन्धुओं का राधा का अनुकरण न करने तथा लोक-मर्यादा के पालन करने का विशेष ध्यान दिलाया है।[344]

सूर के समय में वर्ण-व्यवस्था बड़ी कठोर थी, जिससे समाज पृथक्-पृथक् सत्ताओं में बिखर रहा था। पर सूर ने अपने परमाराध्य को समदर्शी बतलाकर तत्कालीन समाज की पृथक्-पृथक् बिखरती सत्ताओं में ऐक्य स्थापित करने की चेष्टा की। उन्होंने जाति-पाँति को कोई स्थान नहीं दिया। 'जाति-पाँति कुल कानि न मानत वेद पुराननि साखी'[345] 'जाति, गोत कुल नाम गनत नहिं रंक होइ कै रानी,'[346] 'जाति-पाँति कोउ पूछत नाहीं श्रीपति के दरबार'[347] तथा 'ऊँच-नीच हरि गनत न दोइ'[348] आदि पंक्तियों में सूर ने भक्ति का सहारा लेकर उस युग की कठोर वर्णव्यवस्था के विरुद्ध सशक्त वाणी में क्रान्ति का स्वर भरकर उसे नष्ट करने की चेष्टा की है।

सूरकाल के ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार वर्णों के अतिरिक्त अन्य और भी बहुत-सी जातियाँ बन गयी थीं। सूरसागर में स्वर्णकार, कुलाल, दरजी, बढ़ई, रँगरेज, जुलाहा, तेली, गंधी, केवट, काछी, माली, नाई, बारी, मनिहार, रजक आदि जातियों का उल्लेख है।

समाज में उन दिनों ब्राह्मणों की स्थिति बड़ी अच्छी थी। प्रायः हर छोटे-बड़े कार्य को सम्पन्न कराने के लिए उन्हें आमंत्रित किया जाता था। कृष्ण के गाय चराने जाते समय तथा धेनु दुहना सीखते समय विप्र का मन्त्रोच्चार करना तथा आशीष पढ़ना[349] उपर्युक्त कथन की पुष्टि करता है।

ब्राह्मणों में उन दिनों अनेक बाह्याचार भी व्याप्त थे। जैसे भोजन बनाने से पहले चौका लीपना, रसोई बनाकर आराध्यदेव को भोग लगाना, भोजन का और किसी के छू लेने पर अपवित्र हो जाना इत्यादि।[350] ब्राह्मण उन दिनों ज्योतिष का भी कार्य करते थे।[351]

क्षत्रिय के लिए सूर ने क्षत्री तथा ठाकुर[352] शब्द का प्रयोग किया है। कहीं-कहीं ठाकुर शब्द अधिकारियों के लिए भी प्रयुक्त हुआ है।[353]

वैश्यों का मुख्य व्यवसाय वाणिज्य था। वे अपना माल हाट अथवा पैठ में जाकर बेचते थे।[354] कोई-कोई वस्तु गाँवों में न बेची जाकर केवल नगरों में ही बेची जाती थी।[355] उन दिनों मार्ग में व्यापारियों को चोर-डाकुओं का भी भय रहता था।[356]

कृष्ण का पालन-पोषण अहीर जाति में होता है। वे 'नन्द अहीर सुत' के

नाम से जाने जाते हैं। अहीरों का मुख्य व्यवसाय गोपालन था। ये दूध, दही इत्यादि का व्यापार भी करते थे। उन दिनों अहीर जाति में सगठन अधिक था।[357]

सूर के समय तक आश्रम व्यवस्था का प्रायः लोप हो गया था। उन्होंने मात्र गृहस्थ जीवन का ही वर्णन किया है। डा० विजयेन्द्र स्नातक के विचार से उस समय में—"कुछ बैरागी साधुओं ने गृहस्थ धर्म की निन्दा करके उसके प्रति विद्रोह का स्वर ऊँचा किया हुआ था। गृहस्थ धर्म की उपेक्षा से तत्कालीन हिन्दू समाज पर स्वस्थ प्रभाव नहीं पड़ा, प्रत्युत् कुछ अकर्मण्य और निष्क्रिय जन-समुदाय साधु के रूप में समाज पर छा गया।"[358]

सूर को इस निष्क्रिय जनसमुदाय को सक्रिय कर गृहस्थ जीवन की ओर उन्मुख करना था इसीलिए उन्होंने गृहस्थाश्रम का चित्रण किया।

सूर ने सारावली के एक पद में ब्रह्मचर्यश्रम का भी संकेत किया है।[359]

मध्यकाल में देश छोटे-छोटे राज्यों में बँटा था, जिनके अधिपति राजा कहलाते थे। देश में अनेक छोटे-बड़े नगर भी थे। सूर के समय में यद्यपि मथुरा और ब्रज आपस में मिले हुए थे लेकिन सूर ने मथुरा को ब्रज से पृथक्-सा चित्रित किया है। सूर के ब्रजवासी मथुरा को शत्रु की नगरी विचार कर उसे ब्रजमंडल से बाहर मानते थे।

मथुरा एवं द्वारिका का वर्णन करते हुए सूर ने ऊँची-ऊँची अट्टालिकाओं तथा विद्रुम एवं स्फटिक की पच्चीकारी से युक्त कंचन के मणिखचित मन्दिरों का उल्लेख किया है।[360] उन दिनों नगरों में जहाँ-तहाँ बाजे बजते रहते थे। मन्दिरों में घड़ियाल तथा प्रत्येक घर में वीणा, वेणु और मृदंग की ध्वनि सुनाई पड़ती रहती थी।[361] सूर ने नगरों से अधिक ग्रामीण जीवन का चित्रण किया है। पशु प्रधान ग्राम को उन दिनों घोष कहने की प्रथा थी।[362] सम्पन्न व्यक्ति का गाँव में बड़ा सम्मान होता था। महर, गोप, उपनंद आदि गाँव के अधिकारी समझे जाते थे।[363] ये लोग संकट पड़ने पर राजा के पास जाकर गुहार करते थे।[364]

सूर ने जिस ग्रामीण समाज का वर्णन किया है, उसमें संगठन की भावना प्रबल है। सभी लोगों का मिलकर पर्वोत्सवों में भाग लेना[365], किसी एक की आपत्ति टलने पर घर-घर में बधाई होना[366], तथा दान देना[367] आदि बातें जातिगत संगठन एवं सौहार्द्र की प्रतीक हैं। सूर ने पारस्परिक स्नेह की भावना को भी महत्व दिया है। तभी तो कृष्ण-जन्म होने पर कोई भी गोप-बाल गायें चराने नहीं जाता वरन् सभी 'घोष' में ही रहकर आनन्दोत्सव मनाते हैं।[368]

सूर ने पारिवारिक जीवन का भी चित्र प्रस्तुत किया है। उन्होंने ऐसे परिवार की अभिव्यंजना की है जो राग-द्वेष, हर्ष-शोक, ममता-मोह, लोभ-त्याग आदि की सामान्य घटनाओं से संयुक्त होकर हमारे समक्ष एक हृदयग्राही परिवार

की झाँकी प्रस्तुत करता है। सूर ने सम्मिलित परिवार को वरीयता दी है क्योंकि पारिवारिक अविच्छिन्नता ही भारतीय समाज को सबल एवं सुरक्षित रख सकती है। परिवार के द्वारा सामाजिक एवं सांस्कृतिक परम्परा को सुरक्षित रखा जा सकता है। परिवार की वृहद् कल्पना ही सामाजिक संगठन का मूल आधार है।

सूर द्वारा वर्णित परिवार में पिता को प्रधानता दी गई है। वही परिवार का मुखिया होता था और सभी लोग उसकी आज्ञानुसार कार्य करते थे। कोई भी व्यक्ति ऐसा कार्य नहीं करता था, जिससे मुखिया की प्रतिष्ठा को धक्का लगे। यदि कोई व्यक्ति ऐसा करता भी था तो उसे उचित दंड दिया जाता था। सयानी लड़कियों का लड़कों के साथ घूमना वर्जित है, इसीलिए राधा के कृष्ण के साथ घूमने जाने पर माँ उससे अप्रसन्न होती है। पिता तथा बन्धुबान्धवों से उसे पीटे जाने की धमकी मिलती है।[369]

तत्कालीन समाज में पुत्र की प्राप्ति एक बड़ी उपलब्धि मानी जाती थी। क्योंकि पुत्र ही पारिवारिक स्नेह एवं आकर्षण का प्रमुख केन्द्र होता था। इसीलिए तो कृष्णजन्म के अवसर पर नंद-यशोदा के यहाँ ही नहीं वरन् सम्पूर्ण ब्रज में आनन्द मनाया जाता है। परिवार में पुत्रों की तरह पुत्रियों को भी महत्व दिया जाता था। पुत्री अपनी माँ के साथ हिली-मिली रहती थी। माँ उसे अनेक तरह की शिक्षाएँ दिया करती थी, जैसे—सयानी हो जाने पर यत्र-तत्र घूमनें न जाना[370] सिर पर वस्त्र लेना,[371] कोई भी अनुचित कार्य न करना इत्यादि।[372]

सूर द्वारा वर्णित परिवार में भाई-भाई में भी आपस में घनिष्ठ प्रेम है। गोचारण-प्रसंग में कृष्ण के बड़े भ्राता बलदाऊ उनके लिए वनफल तोड़ कर देते हैं तथा स्वयं गायें घेरते हैं।[373]

सूर ने परिवार में पति-पत्नी के सम्बन्धों की भी चर्चा की है। वह स्वयं अनेक कष्ट भोगती हुई भी परिवार के सभी सदस्यों की उचित सेवा-शुश्रूषा करती है और उसे इसी में आनन्द भी मिलता है।

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि सूर ने जिस परिवार की अभिव्यंजना की है, उसमें परिवार के सभी सदस्य त्याग की भावना को आदर्श मानकर एक-दूसरे के लिए नाना प्रकार के कार्य करने वाले हैं। प्राचीनकाल से परिवार के सदस्यों का यही सौहार्द्रमय सम्बन्ध आर्य संस्कृति का प्रधान सम्बल एवं उसकी उत्कृष्टता का प्रमुख रहस्य रहा है।

सन्दर्भ

1. तुलसी-दर्शन-मीमांसा--डा० उदयभानु सिंह, पृ० 216।
2. हिन्दू संस्कार—राजबली पाण्डेय, पृ० 19।
3. देखिये : सूरसागर, दशमस्कन्ध, पद 4।
4. वही।
5. वही, पद, 416, 422।
6. वही, पद 13, 15।
7. सारावली, पद 391-392।
8. देखिये : सूरसागर, दशमस्कन्ध, पद 24।
9. वही।
10. सारावली, पद 392।
11. सूरसागर, दशमस्कन्ध, पद 24।
12. वही, पद 25।
13. वही, पद 35।
14. वही, पद 4।
15. वही, पद 26।
16. वही, पद 36।
17. वही, पद 397।
18. वही, पद 40।
19. वही।
20. वही, पद 30।
21. वही, पद 86-87।
22. वही, पद 86।
23. वही, पद 88।
24. वही।
25. वही, पद 89।
26. वही, पद 95।
27. वही, पद 94।
28. वही।
29. वही, पद 180।
30. वही।
31. भारतीय साधना और सूर साहित्य—डा० मुंशीराम शर्मा, पृ० 373।
32. देखिये—सूरसागर, दशमस्कन्ध, पद 3093।
33. वही।

34. देखिये—'सारावली', पद 332।
35. वही, पद 538।
36. अष्टछाप काव्य का सांस्कृतिक मूल्यांकन—डा० मायारानी टंडन, पृ० 207।
37. देखिए—सूरसागर, दशमस्कन्ध, पद 704।
38. देखिये—'सारावली', पद 676।
39. देखिये—सूरसागर, दशमस्कन्ध, पद 4186।
40. वही, पद 4185।
41. वही, पद 1072 तथा 4181।
42. वही, पद 4186।
43. वही।
44. वही, नवम्स्कन्ध, पद 24।
45. वही, दशमस्कन्ध, पद 1071।
46. देखिये—सारावली, पद 324।
47. देखिये—सूरसागर, नवम्स्कन्ध, पद 26 तथा दशमस्कन्ध, पद 72।
48. वही, नवम्स्कन्ध पद 25 तथा दशमस्कन्ध, पद 1073।
49. वही, नवम्स्कन्ध, पद 25।
50. वही, दशमस्कन्ध, पद 4187।
51. वही, पद 4188।
52. वही, पद 4।
53. वही, पद 4190।
54. वही, पद 4186।
55. वही, नवम्स्कन्ध, पद 50।
56. देखिए—सूरसागर, प्रथमस्कन्ध, पद 66, 67 तथा नवम्स्कन्ध, पद 50, 52।
57. अष्टछाप काव्य का सांस्कृतिक मूल्यांकन—डा० मायारानी टंडन, पृ० 266।
58. देखिए—सूरसागर, दशमस्कन्ध, पद 984।
59. वही, पद 985।
60. वही, नवम्स्कन्ध, पद 17।
61. सूरनिर्णय—प्रभुदयाल मीतल एवं द्वारिकादास पारीख, पृ० 244 तथा सूरसागर अष्टमस्कन्ध, पद 13।
62. देखिये —सूरनिर्णय, प्रभुदयाल मीतल एवं द्वारिकादास पारीख, पृ० 229।
63. देखिए—सरसागर, दशमस्कन्ध, पद 4164।

64. देखिए—सूरसागर, दशमस्कन्ध, पद 11।
65. सूरनिर्णय—प्रभुदयाल मीतल एवं द्वारिकादास पारीख, पृ० 230।
66. देखिये—सूरसागर, दशमस्कन्ध, पद 411, 412।
67. सूरनिर्णय—प्रभुदयाल मीतल एवं द्वारिकादास पारीख, पृ० 230।
68. वही, पृ० 228।
69. देखिये—सूरसागर, दशमस्कन्ध, पद 766।
70. वही, पद 2842।
71. देखिए—सूरनिर्णय, प्रभुदयाल मीतल एवं द्वारिकादास पारीख, पृ० 232।
72. देखिये—सूरसागर, दशमस्कन्ध, पद 1071।
73. वही, पद 581।
74. वही, पद 1132 से 1155।
75. वही, पद 2920।
76. वही, पद 2834।
77. सूरनिर्णय—प्रभुदयाल मीतल एवं द्वारिकादास पारीख, पृ० 240।
78. देखिये—सूरसागर, दशमस्कन्ध, पद 809।
79. वही, पद 816।
80. वही, पद 498।
81. वही, पद 2872।
82. वही, पद 2879।
83. वही, पद 2889।
84. वही, पद 2901।
85. वही, पद 2865।
86. वही, पद 1916।
87. वही, पद 2901।
88. वही, पद 2892।
89. वही, पद 2914।
90. वही, पद 2909।
91. उद्धृत—मानव और संस्कृति, श्यामाचरण दुबे।
92. सूरकाव्य : नयापरिदृश्य—डा० हरगुलाल, पृ० 115।
93. देखिये—सूरसागर, दशमस्कन्ध, पद 28।
94. वही, पद 40।
95. वही, पद 47।
96. वही, पद 91।
97. वही, पद 95।

98. देखिये : सूरसागर, दशमस्कन्ध, पद 3093।
99. वही, पद 1073।
100. वही।
101. वही, पद 1075।
102. वही, पद 2934।
103. वही, पद 2914।
104. वही, पद 3930।
105. मध्यकालीन हिन्दी कृष्ण काव्य में सामाजिक जीवन की अभिव्यक्ति—डा० हरगुलाल।
106. देखिये—सूरसागर, दशमस्कन्ध, पद 445।
107. वही, पद 3338।
108. वही, पद 3273।
109. वही, पद 3456।
110. वही, प्रथमस्कन्ध, पद 153।
111. वही, दशमस्कन्ध, पद 1149 तथा 3657।
112. वही, पद 1151।
113. देखिए—रासलीला के पद।
114. देखिए—सूरसागर, दशमस्कन्ध, पद 1786।
115. वही, पद 1349।
116. वही, पद 1785।
117. वही, प्रथमस्कन्ध, पद 263।
118. वही, दशमस्कन्ध, पद 1786।
119. वही, प्रथमस्कन्ध, पद 61।
120. वही, दशमस्कन्ध, पद 2975।
121. वही, प्रथमस्कन्ध, पद 61।
122. वही, पद 52, 68, 111, 150 तथा 154।
123. वही, दशमस्कन्ध, पद 88।
124. वही, पद 2914।
125. वही, द्वितीयस्कन्ध, पद 36 तथा सारावली, पद 609।
126. देखिये—सूरसागर, द्वितीयस्कन्ध, पद 36।
127. सारावली, पद 1।
128. देखिये—सूरसागर, दशमस्कन्ध, पद 981।
129. वही, नवमस्कन्ध, पद 60।
130. देखिये—सूरसागर, दशमस्कन्ध, पद 1055।

131. देखिये—सूरसागर, नवम् स्कन्ध, पद 24 तथा दशमस्कन्ध, पद 579।
132. वही, दशमस्कन्ध, पद 1055।
133. वही, द्वितीयस्कन्ध, पद 28।
134. वही, अष्टमस्कन्ध, पद 16।
135. वही, दशमस्कन्ध, पद 63।
136. वही, नवम्स्कन्ध, पद 75।
137. वही, दशमस्कन्ध, पद 3357।
138. वही, नवम्स्कन्ध, पद 163।
139. वही, दशमस्कन्ध, पद 200।
140. वही, पद 987।
141. वही, पद 200।
142. वही, पद 696।
143. वही, पद 116।
144. वही, पद 84।
145. वही, दमशस्कन्ध, पद 1077।
146. वही, पद 78।
147. वही, पद 540।
148. वही, प्रथमस्कन्ध, पद 286।
149. वही।
150. वही, दशमस्कन्ध, पद 3453।
151. वही।
152. वही, पद 2945।
153. वही, पद 3454।
154. वही, नवम्स्कन्ध, पद 83।
155. वही, पद 517।
156. वही, प्रथमस्कन्ध, पद 86।
157. वही, दशमस्कन्ध, पद 220।
158. वही, पद 135।
159. वही, पद 764।
160. वही, पद 1586।
161. वही, पंचमस्कन्ध, पद 3।
162. वही, दशमस्कन्ध, पद 63।
163. वही, प्रथमस्कन्ध, पद 337।
164. वही, दशमस्कन्ध, पद 168।

165. देखिये—सूरसागर, प्रथमस्कन्ध, पद 299 ।
166. वही, पद 210 तथा 235 ।
166A. वही, पद 138 ।
167. वही, दशमस्कन्ध, पद 3591 ।
168. वही, प्रथमस्कन्ध, पद 169 तथा 337 ।
169. वही, पद 325 ।
170. वही, प्रथमस्कन्ध, पद 3535 ।
171. वही, दशमस्कन्ध, पद 108, 140 तथा 2118 ।
172. उद्धृत—मानव और संस्कृति—श्यामाचरण दुबे, पृ० 194 ।
173. देखिये—सूरसागर, दशमस्कन्ध, पद 108 ।
174. वही, पद 89 ।
175. वही, पद 328 ।
176. वही, पद 39 ।
177. वही ।
178. वही, पद 132 ।
179. वही, पद 1502 ।
180. वही, पद 94-95 ।
181. वही, पद 1372 ।
182. वही, पद 2512 ।
183. वही, पद 8 ।
184. वही, पद 672 ।
185. वही, पद 2879 ।
186. वही, पद 693 ।
187. वही, पद 695 ।
188. वही, पद 1054 ।
189. वही, पद 1001, 2901 ।
190. वही, पद 693, 694 एवं 2794 ।
191. वही, पद 1332 ।
192. वही, पद 1540 ।
193. वही, पद 1475 ।
194. वही, पद 1035 ।
195. वही, प्रथमस्कन्ध, पद 44 ।
196. वही, दशमस्कन्ध, पद 2450 ।
197. वही, पद 44 ।

198. देखिये—सूरसागर, दशमस्कन्ध, पद 20 ।
199. वही, पद 1050 ।
200. वही, पद 180 ।
201. वही, पद 704 ।
202. वही, पद 105 ।
203. वही, पद 106 ।
204. वही ।
205. वही, पद 40 ।
206. वही, पद 512 ।
207. वही, पद 106 ।
208. वही, पद 479 ।
209. वही, पद 512 ।
210. वही ।
211. वही, पद 106 ।
212. वही, पद 89 ।
213. वही, पद 184 ।
214. वही, पद 1085 ।
215. वही ।
216. वही, पद 132 ।
217. वही, पद 1498 ।
218. वही ।
219. वही, पद 1384 ।
220. वही, पद 2628 ।
221. वही, पद 1498 ।
222. वही, पद 1055 ।
223. वही, पद 2189 ।
224. वही, पद 1475 ।
225. वही, पद 1498 ।
226. वही ।
227. वही, परिशिष्ट, पद 11 ।
228. वही, दशमस्कन्ध, पद 1475 ।
229. वही, पद 1540 ।
230. वही, पद 1570 ।
231. वही, पद 16 ।

232. देखिये—सूरसागर, दशमस्कन्ध, पद 2610।
233. वही, पद 1439।
234. वही, पद 1384।
235. वही, पद 1570।
236. वही, पद 1475।
237. वही।
238. वही, 1540।
239. वही, परिशिष्ट, पद 8।
240. वही, दशमस्कन्ध, पद 2610।
241. वही, पद 1973।
242. वही, पद 1180।
243. वही, पद 1055।
244. वही, पद 4060।
245. वही, पद 1540।
246. वही, पद 1475।
247. वही।
248. वही, पद 86, 1056।
249. वही, पद 184, 1498।
250. वही, पद 2862।
251. वही, पद 1439।
252. वही, पद 2619।
253. वही, पद 1058।
254. वही।
255. वही, पद 1497 तथा 1500।
256. प्रामाणिक हिन्दी कोश—रामचन्द्र वर्मा, भाग 5, पृ० 460।
257. देखिये—सूरसागर, दशमस्कन्ध, पद 185।
258. वही, पद 52।
259. वही, पद 1000।
260. वही, पद 1163।
261. वही, पद्य 185।
262. वही, पद 770।
263. वही, पद 704।
264. वही, पद 1042।
265. वही, पद 3815।

266. देखिये—सूरसागर, दशमस्कन्ध, पद 1055।
267. वही, पद 2617।
268. वही, पद 1166।
269. वही, पद 24।
270. वही, पद 2849।
271. वही, पद 1054।
272. वही, पद 1180।
273. वही, पद 40।
274. वही, पद 2611।
275. वही।
276. वही, पद 616, 1055 तथा 2118।
277. वही, पद 1703।
278. वही, पद 1498।
279. वही, पद 2842।
280. वही, पद 2118।
281. वही, पद 1055।
282. वही, पद 2708।
283. वही, पद 1075।
284. वही, पद 3937।
285. वही।
286. वही।
287. वही, पद 3601।
288. वही।
289. वही, पद 2862।
290. वही, पद 2010।
291. वही, पद 3109।
292. वही, पद 1055।
293. वही, पद 2211।
294. वही, पद 2706।
295. वही, पद 2191।
296. प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० 23।
297. वही पृ० 25।
298. देखिये—सूरसागर, दशमस्कन्ध, पद 84।
299. वही, पद 170।

300. वही, पद 669।
301. वही, पद 712।
302. वही, पद 213।
308. वही, पद 239।
304. वही, पद 140।
305. वही, पद 240।
306. वही।
307. वही, पद 669।
308. वही, पद 672।
309. वही, पद 710।
310. वही, पद 533।
311. वही, पद 243।
312. वही, पद 244।
313. वही, पद 416।
314. सारावली, पद 904-905।
315. देखिये—सूरसागर, नवम्स्कन्ध, पद 18।
316. वही, दशमस्कन्ध, पद 198।
317. सूरसागर (वेंकटेश्वर प्रेस), पद 2377।
318. देखिये—सूरसागर, दशमस्कन्ध, पद 4168।
319. वही, पद 521।
320. वही, पद 3072!
321. देखिये—सारावली, पद 665 एवं 191।
322. देखिये—सूरसागर, प्रथमस्कन्ध, पद 246।
323. वही, पद 60।
324. वही, दशमस्कन्ध, पद 2231।
325. वही, पद 2869 तथा 2889।
326. वही, दशमस्कन्ध, पद 872 एवं 4146।
327. वही, पद 1987 एवं 2464।
328. वही, पद 422।
329. वही, पद 1159।
330. वही, पद 1160।
331. वही, पद 1162-63।
332. वही, पद 673।
333. वही, पद 2830।

334. देखिये—सूरसागर, दशमस्कन्ध, पद 2853 एवं 3639।
335. वही, पद 1056 एवं 1057।
336. वही, पद 98।
337. वही, पद 3152।
338. वही, पद 589।
339. वही, पद 800।
340. वही, पद 1554।
341. वही, पद 1014।
342. वही, पद 1013।
343. वही, पद 192।
348. वही, पद 1921।
345. वही, प्रथमस्कन्ध, पद 15।
346. वही, पद 11।
347. वही, पद 231।
348. वही, सप्तमस्कन्ध, पद 2।
349. वही, दशमस्कन्ध, पद 409। 350. वही, पद 248, 249।
351. वही, पद 85। 352. वही, नवमस्कन्ध, पद 13।
353. वही, दशमस्कन्ध, पद 3643। 354. वही, पद 3641।
355. वही, पद 3663। 356. वही, प्रथमस्कन्ध, पद 310।
357. वही, दशमस्कन्ध, पद 313, 735।
358. राधावल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य—डा० विजयेन्द्र स्नातक, पृ० 84।
359. देखिये—सारावली, पद 538, 539।
360. देखिये—सूरसागर, दशमस्कन्ध, पद 3097, 3160 तथा 4165।
361. वही, पद 3023, 4165। 362. वही, पद 3965।
363. वही, पद 526। 364. वही, पद 528।
365. वही, पद 581। 366. वही, पद 51।
367. वही, पद 607।
368. वही, पद 20।
369. वही, पद 1706।
370. वही, पद 1716।
371. वही, पद 1715।
372. वही, पद 1716।
373. वही, पद 425।

□□

उपसंहार

महाकवि सूरदास सच्चे अर्थों में महाकवि थे। उन्होंने अपनी रचनाओं के माध्यम से अपने युग तथा समाज का स्पष्ट चित्र प्रस्तुत किया है। जन-मानस को विमुग्ध कर देने वाला उनका काव्य भक्ति का वह नवनीत है जो भवत्रस्त विपन्न जन के चित्त को प्रेमरस से स्निग्ध कर देता है। उनकी भक्ति-साधना में संकीर्ण साम्प्रदायिक तत्त्वों का सर्वथा अभाव है। वे भारतीय संस्कृति के आधार-स्तम्भ हैं। मध्यकालीन सांस्कृतिक संकटकाल में उन्होंने भारतीय धर्म एवं संस्कृति की ज्योति को बुझने से बचाया। उन्होंने आर्यजाति में प्रचलित आचार-व्यवहारों, रीति-रिवाजों, पर्वोत्सव-त्योहारों, विभिन्न संस्कारों, कला-कौशल तथा ज्ञान-विज्ञानादि के विधि-विधानों का वर्णन कर जन-सामान्य को अपनी संस्कृति और उसकी महत्ता से परिचित कराया।

महाकवि सूरदास लोकहृदय के सच्चे पारखी थे। उनका सूरसागर जीवन की एकान्तिक साधना न होकर लोकमानस की उच्छल अभिव्यक्ति है। उन्होंने भागवत के आध्यात्मिक कथा-प्रसंगों के भीतर से मानवीय संवेदनाओं को उभारा है। यदि उनके पौराणिक प्रतीकों से भक्ति का आवरण हटा दिया जाए तो हम देखेंगे कि वे सभी लोक-जीवन से जुड़े हैं। अपने आराध्य देव कृष्ण को काव्य का आलम्बन बनाकर उन्होंने जिस लोकोन्मुखी काव्य-धारा का सृजन किया है, वह चिरकाल तक प्रवाहित होती रहने वाली है; उसे देश और काल की सीमा में बाँधकर नहीं रखा जा सकता। उनके काव्य में लोक-जीवन के उत्सवों, त्यौहरों, परम्पराओं, वेश-भूषा, पारस्परिक व्यवहार, बालकों, वृच्छों, स्त्रियों तथा पुरुषों के स्वभावगत औचित्य का विस्तृत चित्रण है, जिसे देखकर आश्चर्यचकित रह जाना पड़ता है। वस्तुतः लोकजीवन की यही आत्मीय सहजता उनके काव्य को गरिमा प्रदान करती है।

सूम ने ब्रज के माध्यम से एक ऐसे समाज की परिकल्पना की है जो आकार में लघु होते हुए भी महान है। जिसमें छोटे-बड़े, ऊँच-नीच तथा अमीर-गरीब का कोई भेदभाव नहीं है। इसमें समाज के सभी सदस्य एक-दूसरे के साथ सहयोग की भावना से प्रेरित होकर कार्य करते हैं। यह सजाज ऐसा है जिसमें एक साथ ही गम्भीरता, कोमलता, आशा-निराशा, अध्यात्म एवं सौन्दर्य का समावेश पाया जाता है। सांस्कृतिक विकास के साथ-साथ पुरातन परम्पराओं का अनुसरण, कलात्मक अभिव्यक्ति के प्रति गहन मोह तथा सनातन विश्वासों के प्रति आस्थामय दृष्टिकोण इस समाज के इतिहास के आकर्षक पृष्ठ हैं।

सूर को हम एकान्तिक भक्त कवि मानकर उनकी उपेक्षा नहीं कर सकते। उनके काव्य में समसामपिक जीवन की विडम्बनाओं और विसंगतियों के स्पष्ट चित्र मिलते हैं। सूर का मोह नगरीय जीवन या सामंती संस्कृति के प्रति कभी नहीं रहा। उनकी पक्षधरता ग्राम्य जीवन या ग्राम्य संस्कृति के प्रति रही। उनके काव्य में जीवन की जो पृष्ठभूमि है, वह सामान्य जन-जीवन से सम्बन्धित है। यहाँ तक कि उनके आराध्य देव भी ऐसे गोप जीवन के बीच विकास करते हैं जो राजसों ठाठ-बाट और ऐश्वर्य की दृष्टि से बहुत दरिद्र है। गोकुल में उनका सारा जीवन एक सामान्य गोप बालक का जीवन है। सूर द्वारा चित्रित जीवन-परिदृश्य इसी कारण हमें बहुत परिचित और आत्मीय लगता है। यद्यपि यह कहा जा सकता है कि सूर काव्य में अतीत का चित्रण है, लेकिन यह ध्यान रखना चाहिए कि हमारा अतीत कभी मरता नहीं है। हमारे वर्तमान में वह पुनरुज्जीवित होता है, क्योंकि हम उसे नयी व्याख्या देते हैं। यही कारण है कि सूर का काव्य आज भी जीवित है। उसमें आज भी वही अपील है जो मध्यकाल में थी।

महाकवि सूरदास सांस्कृतिक समन्वय के अग्रदूत के साथ ही एक सफल राष्ट्र चेता भी थे। वे युगीन हिन्दू राष्ट्र के रक्षक थे। जन्मान्ध होते हुए भी उन्होंने राष्ट्र की उन कमजोरियों को पहचाना जिन्हें बड़ी आँखों वाले भी देख और पहचान न सके। यहाँ मैंने राष्ट्र का वह अर्थ नहीं लिया है जो आज मान्य है। राष्ट्रीय चेतना से मेरा उद्देश्य उस चेतना से है जो समष्टि के अभ्युदय को प्रेरणा देती है। सूर ने अपने आध्यात्मिक काव्य के माध्यम से धार्मिक चेतना को उद्बुद्ध किया तथा निराश जनता में आशा का संचार किया। अतएव समाज को जाग्रत करने एवं उसमें आशा की ज्योति भरने की दृष्टि से उनका काव्य पूर्णत: भक्ति-मय होते हुए भी राष्ट्रीय है। इस दृष्टि से उनके विनय के पदों को देखा जा सकता है। इन पदों का अर्थ भक्ति-भावना के उद्गार की दृष्टि से किया जाता है, किन्तु इनमें राष्ट्रीय संवेदना की भी झलक स्पष्ट दिखाई देती है। उनके इन पदों में अकेले उनका ही हृदय नहीं बोलता वरन् समग्र हिन्दू समाज का हृदय बोलता है। उनका काव्य हतभाग्य, जीवन से निराश तथा दुर्दशाग्रस्त जनता के लिए भक्तवत्सल और सौन्दर्यराशि भगवान श्रीकृष्ण के चरणों का सहारा लेने का अमर संदेश है।

सहायक ग्रन्थ सूची

(अ) सूरदास के ग्रन्थ

1. सूरसागर (दो खण्डों में), सम्पा०—नन्ददुलारे वाजपेयी, चतुर्थ सं० 2026, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी।
2. सूरसागर, संवत् 1964 वि०, वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई।
3. सूर सारावली, सम्पा० एवं व्याख्याकार—डा० मनमोहन गौतम, प्रथम सं० 1970 ई०, रीगल बुक डिपो, नई सड़क, दिल्ली-6।
4. साहित्यलहरी, सम्पा०—प्रभुदयाल मीतल, प्रथम सं० 2018 वि०, साहित्य संस्थान, मथुरा।

(आ) सहायक ग्रन्थ

5. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय (भाग-2), डा० दीनदयालु गुप्त, प्रथम सं० 2004, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग।
6. अष्टछाप काव्य का सांस्कृतिक मूल्यांकन, डा० मायारानी टंडन, प्रथम सं० 1960 ई०, हिन्दी साहित्य भंडार, लखनऊ।
7. अष्टछाप परिचय, प्रभुदयाल मीतल, प्रथम सं० 2006 वि०, अग्रवाल प्रेस, मथुरा।
8. अशोक के फूल, हजारीप्रसाद द्विवेदी, प्रथम सं० 1971 ई०, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद।
9. आधुनिक हिन्दी-मराठी नाटकों में युगबोध, डा० मदन मोहन भारद्वाज, प्रथम सं० 1986 ई०, राधा प्रकाशन, 1528, गली आर्य समाज, बाजार

सीताराम, दिल्ली-6 ।

10. कला और संस्कृति, वासुदेव शरण अग्रवाल, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस (प्रा०) लि० रानी झाँसी रोड, नई दिल्ली-55 ।
11. तुलसी-दर्शन-मीमांसा, डा० उदयभानु सिंह, हिन्दी साहित्य भंडार, अमीनाबाद, लखनऊ।
12. प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद, हजारीप्रसाद द्विवेदी, सितम्बर 1952, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई-4 ।
13. ब्रज का सांस्कृतिक इतिहास (प्रथम भाग), प्रभुदयाल मीतल, प्रथम 1966 ई०, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली ।
14. ब्रज-लोक-संस्कृति, सम्पा०—सत्येन्द्र ।
15. भक्ति आन्दोलन का अध्ययन, डा० रतिभानु सिंह नाहर।
16. भारतीय चिन्तन परम्परा, के० दामोदरन, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस (प्रा०) लि०, रानी झाँसी रोड, नई दिल्ली-55 ।
17. भारतीय संस्कृति, डा० देवराज, 1966 ई०, हिन्दी समिति, लखनऊ।
18. भारतीय संस्कृति, प्रो० शिवस्वरूप सहाय, प्रथम 1960-61 ई० ।
19. भारतीय संस्कृति, डा० बलदेव प्रसाद मिश्र, प्रथम 1952 ई०, रामनारायण लाल बेनीमाधव, कटरा रोड, इलाहाबाद-2 ।
20. भारतीय संस्कृति, गुलाबराय, 1969 ई० ।
21. भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास, डा० सत्यकेतु विद्यालंकार, 1968, सरस्वती सदन मसूरी ।
22. भारतीय संस्कृति और कला, वाचस्पति गैरोला ।
23. भारतीय संस्कृति और सभ्यता, प्रसन्न कुमार आचार्य, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग ।
24. भारतीय संस्कृति और सांस्कृतिक चेतना, डा० रामखेलावन पाण्डेय, अनुपम प्रकाशन, पटना-6 ।
25. भारतीय संस्कृति का विकास (वैदिक धारा), डा० मंगलदेव शास्त्री, प्रथम, 1956 ई०, समाज विज्ञान परिषद, काशी विद्यापीठ, बनारस ।
26. भारतीय संस्कृति की रूपरेखा, डा० पृथ्वी कुमार अग्रवाल, द्वितीय 1970 ।
27. भारतीय साधना और सूर साहित्य, डा० मुंशीराम शर्मा, प्रथम संवत 2010 वि०, आचार्य शुक्ल साधना सदन, 19/44, पटकापुर, कानपुर ।
28. मध्यकालीन भारत : राजनैतिक, सांस्कृतिक इतिहास, प्रो० एस० के० पगारे ।

29. मध्यकालीन हिन्दी कृष्ण काव्य में सामाजिक जीवन की अभिव्यक्ति, डा० हरगुलाल, प्रथम 1967, भारतीय साहित्य मंदिर।
30. महाकवि सूरदास, आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, राजकमल से प्रथम बार 1976, राजकमल प्रकाशन प्रा० लि०, 8, नेताजी सुभाष मार्ग, नयी दिल्ली-110002।
31. मानव और संस्कृति, श्यामाचरण दुबे, द्वितीय 1969, राजकमल प्रकाशन प्रा० लि०, 8, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली-110002।
32. मानव संस्कृति, भगवान दास केला।
33. मुगलकालीन भारत, डा० आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव, 1980, शिव लाल अग्रवाल एण्ड कम्पनी, कृष्णनगर, दिल्ली-5।
34. मुगलकालीन भारत का राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास, श्री बी० एन० लुणिया।
35. राधावल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य, डा० विजयेन्द्र स्नातक, प्रथम 2010 वि०, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली।
36. विचार और वितर्क, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, द्वितीय 1961 ई०, साहित्य भवन प्राइवेट लिमिटेड, इलाहाबाद।
37. विविध बोध : नए हस्ताक्षर, डा० हुकुमचन्द्र राजपाल।
38. वैदिक संस्कृति और सभ्यता, डा० मुंशीराम शर्मा।
39. वैष्णव भक्ति आन्दोलन का अध्ययन, डा० मलिक मोहम्मद, 1971, राजपाल एण्ड संस, कश्मीरी गेट, दिल्ली-6।
40. श्रीमद्भागवत, गीताप्रेस, गोरखपुर।
41. संस्कृति का दार्शनिक विवेचन, डा० देवराज, प्रथम, 1957 ई०, प्रकाशन ब्यूरो, सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश।
42. संस्कृति : मानव कर्तृत्व की व्याख्या, यशदेव शल्य, प्रथम 1969 ई०, सामाजिक विज्ञान हिन्दी रचना केन्द्र, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर।
43. सांस्कृतिक भारत, भगवतशरण उपाध्याय, 1955, राजपाल एण्ड संस, कश्मीरी गेट, दिल्ली-6।
44. साहित्य का मूल्यांकन, प्रो० सिद्धेश्वर प्रसाद।
45. साहित्य शास्त्र, डा० रामकुमार वर्मा, 1956 ई०, भारतीय विद्या भवन, इलाहाबाद।
46. सूर और उनका साहित्य, डा० हरवंशलाल शर्मा, चतुर्थ 1971 ई०, भारत प्रकाशन मंदिर, अलीगढ़।
47. सूर काव्य : नया परिदृश्य, डा० हरगुलाल, 1977 ई०, एस० ई० एस० प्रकाशन, फव्वारा, दिल्ली-6।

48. सूर की भाषा, डा० प्रेमनारायण टंडन, प्रथम 1957 ई०, हिन्दी साहित्य भंडार, लखनऊ।
49. सूर की साहित्य साधना, सम्पा० डा० भगवत्स्वरूप मिश्र एवं विश्वम्भर 'अरुण', प्रथम 1965 ई०, शिवलाल अग्रवाल एण्ड कम्पनी लिमिटेड, आगरा।
50. सूरदास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, सातवाँ, संवत् 2030 वि०, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी।
51. सूरदास : कला एवं जीवन-दृष्टि, डा० शांता सिंह, 1978 ई०, पुस्तक स्थान, बख्शीपुर, गोरखपुर।
52. सूरदास जी की वार्ता, सम्पा० श्री प्रभुदयाल मीतल, 2008 वि०, अग्रवाल प्रेस, मथुरा।
53. सूर निर्णय, प्रभुदयाल मीतल व द्वारिकादास पारीख, संवत् 2006 वि०, अग्रवाल प्रेस, मथुरा।
54. सूर पंचरत्न, सम्पा० लाला भगवान दीन, मोहन वल्लभ पंत, 1968 ई० रामनारायण लाल बेनी माधव, इलाहाबाद।
55. सूरसागर में प्रतीक योजना, डा० बी लक्ष्मय्या शेट्टी, 1972, रिसर्च पब्लिकेशंस इन सोशल साइंसेज, 2/44, अंसारी रोड़, दरियागंज, दिल्ली।
56. सूर साहित्य, हजारीप्रसाद द्विवेदी, प्रथम 1973 ई०, राजकमल प्रकाशन प्रा० लि०, 8, फैज बाजार, दिल्ली-6।
57. सूर साहित्य की भूमिका, डा० रामरतन भटनागर, संशोधित तथा परिवर्द्धित द्वितीय संस्करण, रामनारायण लाल बेनी माधव, 2, कटरारोड, इलाहाबाद।
58. सूर सौरभ (भाग—1, 2), डा० मुंशीराम शर्मा, 2002 वि०, आचार्य शुक्ल साधना सदन 19/44 पटकापुर, कानपुर।
59. हमारी सांस्कृतिक एकता, रामधारी सिंह दिनकर, उदयाचल, राजेन्द्र नगर, पटना-16।
60. हिन्दी साहित्य : उसका उद्भव और विकास, हजारीप्रसाद द्विवेदी, 1964, अतरचंद कपूर एण्ड संज, दिल्ली।
61. हिन्दी सगुण काव्य की सांस्कृतिक भूमिका, डा० रामनरेश वर्मा, 1963, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी।
62. हिन्दी साहित्य : कुछ विचार, डा० प्रेमनारायण टंडन।
63. हिन्दी साहित्य का अतीत (प्रथम भाग), आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, वाणी प्रकाशन, दरियागंज, दिल्ली।

64. हिन्दी साहित्य का इतिहास, रामचन्द्र शुक्ल, संवत् 2029, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी।
65. हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास (पंचम भाग), सम्पा०—डा० दीनदयालु, गुप्त, प्रथम, संवत् 2031 वि०, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी।
66. हिन्दू संस्कार, राजवली पाण्डेय।

(इ) अंग्रेजी के ग्रन्थ

67. A History of Muslim Rule, In India Dr. Ishwari Prasad.
68. Akbor the great Mughal, V. A. Smith, 1919.
69. Experichce and Culture, Rudolph R. weingarthner.
70. History of Medieval India, Dr. Ishwari Prasad.
71. Medieval India, S. Lanepool.
72. Mughal Administration, J. N. Sarkar.
Translator—Vijay Narayan Chove
73. Primitive Culture, E. B. Taylor.
74. Society, Mackiwer & page, 1950, Macmillan and Company, Landon.
75. The mind of Primitive man, Frang Boas, 1938, Macmillan and Company, New york.
76. The wage of man, John Crillin, 1948, Aplaten Century craft.
77. Understanding Society Odhem.

(ई) साभिनन्दन ग्रन्थ

78. पोद्दार अभिनन्दन ग्रन्थ, प्रधान सम्पा०—डा० वासुदेव शरण अग्रवाल, अक्षय तृतीया, सं० 2010, अखिल भारतीय ब्रज साहित्य मंडल, मथुरा।
79. शांतिनिकेतन से शिवालिक तक, सम्पा०—डा० शिवप्रसाद सिंह।

(उ) शब्द कोश

80. मानक हिन्दी कोश (खण्ड-5), सम्पा० रामचन्द्र वर्मा, 1966, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग।

81. हिन्दी साहित्य कोश (भाग-1), सम्पा०—धीरेन्द्र वर्मा, द्वितीय, संवत् 2020, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी-1।
82. The oxford English Dictionary, Reprinted, 1961, oxford University press, London.

(ऊ) पत्र-पत्रिकाएँ

83. आलोचना, जनवरी 1954 तथा अंक 44।
84. चिंतन—शोध वार्षिकी, सम्पा० डा० माधव प्रसाद पाण्डेय, मार्च 1978।
85. धर्मयुग, 2 जून, 1968।
86. ब्रज भारती, चैत्र-भाद्रपद, संवत् 2006, बज भारती कार्यालय, मथुरा।
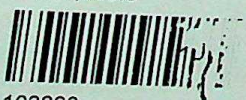
लेखक परिचय

जन्म : 13 जुलाई, 1955 ई०। अमेठी, जिला—सुलतानपुर, उत्तर प्रदेश।

प्रारम्भिक शिक्षा आर्य समाज स्कूल में। एम० ए० तक की शिक्षा अमेठी में। पी-एच० डी० काशी में।

शिक्षा : अवध विश्वविद्यालय, फैजाबाद से 1977 में एम० ए० प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण। सर्वाधिक अंक प्राप्त करने पर 'संजय' तथा 'रणंजय' स्वर्ण-पदक से सम्मानित। काशी हिन्दू विश्व-विद्यालय से 1980 में पी-एच० डी०।

अनुभव : अप्रैल 1980 से सितम्बर 1983 तक तुलसी शोध-संस्थान, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में शोध सहायक के रूप में कार्य किया।

जनवरी 1984 से मई 1984 तक नागरी प्रचारिणी सभा, काशी के खोज विभाग में कार्य किया।

23 मई, 1984 से 26 अगस्त, 1986 तक हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा स्वीकृत 'सूर साहित्य : पौराणिक संदर्भ और सामाजिक बोध' विषयक शोध योजना में अनुसंधान अध्येता के रूप में कार्य किया।

अध्यापन : 28 अगस्त, 1986 से हिन्दी विभाग, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय में अध्यापन।

सम्प्रति : रीडर।

प्रकाशन : विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में अनेकों लेख प्रकाशित।